श्रीः ।

प्रस्तावना.

श्रीजिन धर्मानुयायी प्रिय भ्रातृवृन्द !

जैनागम रहस्यरूप यह लघुपद्धति आप की सेवा में उपस्थित है, कृपया इस का आदर और समुचित उपयोग कर अपने कर्त्तव्य का पालन और मेरे परिश्रम को सफल कीजिये ।

यों तो कथन मात्र के लिये यह एक लघुपद्धति है; परन्तु इसे साधारण लघुपद्धतिमात्र न जानकर रत्नगर्भा भारत वसुन्धरा का एक महर्घ वा अमूल्य रत्न समझिये, किन्तु-इस कथन में तो लेशमात्र भी अत्युक्ति नहीं है कि-हमारे प्रिय जैन भ्रातृवर्ग के लिये तो यह लोकालोकात्मक सकलजगत्स्वरूप प्रतिपादक द्वादशाङ्गरूप श्रुत परम पुरुष का एक शिरोभूषण रत्न है, अथवा दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि-द्वादशाङ्गरूप गणिपिटक का (कि जिस की महिमा का कथन पूर्वाचार्यों ने श्रीनन्दी सूत्र आदि आगमों में किया है) यह एक परम महर्घ रत्न है, क्योंकि द्वादशाङ्गी में जिन पञ्चपरमेष्ठियों का स्वरूप और उन के अभिमत सम्यक् ज्ञान दर्शन और चारित्र तथा विशुद्ध धर्म का प्रतिपादन किया है उन्हीं को नमस्कार करने की यथार्थ विधि तथा उस के फल आदि विषयोंका वर्णन इस लघुपद्धति में किया गया है ।

इस के इस स्वरूप का विचार करते हुए विकसित स्वान्त सरोज में साह्लाद यही भाव उत्पन्न होता है कि-यदि हम इसे द्वादशाङ्गरूप विकच कुसुम कानन की नवलनरूप एक नव आमोद सञ्चारिणी कुसुम कलिका की नवीन उपमा दें तो भी असङ्गत नहीं है, क्योंकि यथार्थ बात यही है कि-इसी से उक्त कानन सौरभमय होकर तथा स्याद्वाद सिद्धान्त समीर के द्वारा अपने सौरभ का सञ्चार कर श्री सर्वज्ञ प्रणीत शासनके श्रद्धालु जनोंके स्वान्त सरोज को आभा सम्पन्न कर विभूषित हो रहा है ।

इस के विषय में हम अपनी ओर से विशेष प्रशंसा क्या करें, इस पद्धति के निर्माता श्रीजिनकीर्त्ति सूरि जी महाराज ही स्वयं पद्धति के अन्त में लिखते हैं कि–"आनुपूर्वी आदि भङ्गों को अच्छे प्रकार जानकर जो उन्हें भाव पूर्वक प्रतिदिन गुणता है वह सिद्धि सुखों को प्राप्त होता है, जो पाप षाण्मासिक और वार्षिक तीव्र तप से नष्ट होता है वह पाप नमस्कार की अनानुपूर्वी के गुणने से आधे क्षण में नष्ट हो जाता है, जो मनुष्य सावधान मन होकर अनानुपूर्वी के सब ही भङ्गों को गुणता है वह [illegible] बेरियों से बांधा हुआ भी शीघ्र ही मुक्त हो जाता है, इस से अभिमन्त्रित श्रीवेष्ट से शाकिनी और भूत आदि तथा सर्वग्रह एक क्षणभर में नष्ट होजाते हैं, दूसरे भी उपसर्ग; राजा आदि के भय तथा दुष्ट रोग नवपद की अनानुपूर्वी के गुणने से शान्त हो जाते हैं, इस नवपद स्तोत्र से परम पदरूप सम्पत्ति की प्राप्ति होती है, इस पञ्च नमस्कार स्तोत्र को जो स्वयं करता है तथा जो संयम में तत्पर होकर इस का ध्यान करता है वह उस सिद्धि सुख को प्राप्त होता है कि जिस की महिमा जिन भगवान् ने कही है"।

उक्त महोदय ही स्वोपज्ञ टीका के अन्त में भी लिखते हैं कि–"एष श्रीपञ्चपरमेष्ठिनमस्कारमहामन्त्रः सकलसमीहितार्थप्रापणकल्पद्रुमाभ्यधिकमहिमा शान्तिकपौष्टिकाद्यष्टकर्मकृत् ऐहिकपारलौकिकस्वाभिमतार्थसिद्धये यथा श्रीगुर्वाम्नायं ध्यातव्यः" अर्थात् "यह श्री पञ्च परमेष्ठि-नमस्कार महामन्त्र है, सब समीहित पदार्थों की प्राप्ति के लिये इस की महिमा कल्पवृक्ष से भी अधिक है, यह (महामन्त्र) शान्तिक और पौष्टिक आदि आठ कार्यों को पूर्ण करता है, इस लोक और परलोक के अपने अभीष्ट अर्थ की सिद्धि के लिये श्रीगुर्वाम्नाय से इसका ध्यान करना चाहिये"।

इसी की महिमा के विषय में महानुभाव पूर्वाचार्यों का भी कथन है कि–"नवकार इक्क अक्खर पावं फेडेइ सत्त अयराइं ॥ पन्नासं च पएणं सागर पणसय समग्गेणं ॥१॥ जो गुणइ लक्खमेगं पूएइ विहीहिं जिणनमुक्कारं ॥ तित्थयर नाम गोत्तं सो बंधइ नत्थि सन्देहो ॥ २ ॥ अट्ठेव अट्ठसया अट्ठसहस्सं च अट्ठकोडीओ ॥ जो गुणइ भत्तिजुत्तो सो पावइ सासयं ठाणं" ॥ ३ ॥ अर्थात् श्रीनवकार मन्त्र का एक अक्षर भी सात सागरोपमों के पापों को नष्ट करता है, इस का एक पद पचास सागरोपमों के पापों को नष्ट करता

है, वह सम्पूर्ण मनुष्य पांचसौ सागरोपमों के पापों का नाश करता है, जो मनुष्य विधिपूर्वक एक लाख वार जिननमस्कारको गुनता है वह तीर्थङ्कर नाम गोत्र कर्म को बांधता है; इस में सन्देह नहीं है, जो मनुष्य भक्तिपूर्वक आठ; आठसौ; आठ सहस्र तथा आठ करोड़ वार इस का गुणन करता है वह शाश्वत स्थान (मोक्षपद) को प्राप्त करता है।

किञ्च—कलिकाल सर्वज्ञ श्री हेमचन्द्राचार्य जी महाराज भी अपने बनाये हुए योगशास्त्र नामक ग्रन्थ के आठवें प्रकाश में लिखते हैं कि—"अति पवित्र तथा तीन जगत् को पवित्र करने वाले पञ्च परमेष्ठि नमस्काररूप मन्त्र का चिन्तन करना चाहिये, मन वचन और शरीर की शुद्धि के द्वारा इस का एकसौ आठ वार चिन्तन करने से मुनि भोजन करते पर भी चतुर्थ तप के फल को प्राप्त करता है, इस संसार में इस ही महामन्त्र का आराधन कर परम लक्ष्मी को प्राप्त होकर योगी लोग त्रिलोकी के भी पूज्य हो जाते हैं, सहस्रों पापों को करके तथा सैकड़ों जन्तुओं को मारकर इस मन्त्र का आराधन कर तिर्यञ्च भी देवलोक को प्राप्त हुए हैं, सर्वज्ञ के समान सर्व ज्ञानों के प्रकाशक इस मन्त्र का अवश्य स्मरण करना चाहिये, श्रुत से निकली हुई पांच वर्ण वाली पञ्चतत्त्वमयी विद्या का निरन्तर अभ्यास करने से वह संसार के क्लेशों को नष्ट करती है, इस मन्त्र के प्रभाव को अच्छे प्रकार से कहने में कोई भी समर्थ नहीं है; क्योंकि यह मन्त्र सर्वज्ञ भगवान् के साथ तुल्यता को रखता है, इस के स्मरणमात्र से संसार का बन्धन टूट जाता है तथा परमानन्द के कारण अव्यय पद को मनुष्य प्राप्त होता है" इत्यादि।

पाठगण! श्री पञ्चपरमेष्ठि नमस्कार के महत्त्व को स्तोत्रकर्त्ता श्रीजिनकीर्त्तिसूरि तथा अन्य आचार्यों के पूर्व उल्लिखित वाक्यों के द्वारा आप अच्छे प्रकार जान चुके * अब कहिये ऐसा कौनसा लौकिक वा पारलौकिक सुख तथा ऐश्वर्य है जो इस के विधिपूर्वक आराधन से प्राप्त नहीं हो सकता? इस दशा में आप ही विचार लीजिये कि जो हमने इसे द्वादशाङ्गरूप श्रुत प्रवचन पुरुषका शिरोभूषणरत्न वा द्वादशाङ्गरूप गणिपिटकका अमूल्य रत्न बतलाया; अथवा जो इसे द्वादशाङ्गरूप विकच कुसुम कानन की मकरन्दरूप सब

---

* श्रीनवकार मन्त्र गुणन के चमत्कारी प्रभाव तथा उस के फलों का उदाहरण पूर्वक विस्तृत वर्णन श्रीकल्पसूत्र आदि ग्रन्थों में भी है; वहां देख लेना चाहिये॥

आमोद प्रसारिणी कुसुमकलिका की नवीन उपमा दी गयी वह युक्ति सङ्गत नहीं है ? ।

उक्त नमस्कार के ऐसे उत्कृष्ट गौरव और महत्त्व को विचार जैनभ्रातृवर्गों का यह परम कर्त्तव्य है कि—यथाशक्ति उस के आराधन और अभ्यास में तत्पर होकर अपने मानव जन्म को सफल करें। अर्थात् उसके समाराधन के द्वारा मानव जन्म के धर्म; अर्थ; काम और मोक्षरूप चारों फलों को प्राप्त करें।

"ज्ञानदर्शनचारित्राणि मोक्षमार्गः" भगवान् उमास्वाति वाचक के इस कथन के अनुसार जैनसिद्धान्त में सम्यक् ज्ञान; दर्शन और चारित्र; इन तीनों का सम्पादन करने से मोक्षमार्ग की प्राप्ति कही गई है, परन्तु सब ही जानते हैं कि सम्यक् ज्ञान, दर्शन और चारित्र का सम्पादन करना कैसा कठिन कार्य है, यह मानने योग्य बात है कि—यथार्थतया इन का सम्पादन करना साधु और मुनिराजों के लिये भी अतिकठिन कार्य है, तब भला श्रावक जनों का तो कहना ही क्या है, जब यह बात है तो आप विचार सकते हैं कि—मोक्ष की प्राप्ति भी कितनी दुर्लभ है, मोक्ष की प्राप्ति के लिये सम्यक् ज्ञान, दर्शन और चारित्र के सम्पादन करने की बात तो जाने दीजिये, किन्तु इस कथन में भी अत्युक्ति न होगी कि—चारित्राङ्ग रूप धर्म का भी सम्यक्तया सम्पादन होना वा करना वर्त्तमान में अति कठिन हो रहा है, जो कि लोक और परलोक के मनोरथों का साधनभूत होने से तत्सम्बन्धी सुखों का दाता है, क्या आप से यह विषय छिपा है कि—अहिंसा, संयम, और तप के बिना विशुद्ध धर्म की प्राप्ति नहीं हो सकती है * तथा अहिंसा संयम, और तप का उपार्जन करना कोई सहज बात नहीं है, क्योंकि आगम में अहिंसा, संयम और तप का जो स्वरूप कहा गया है तथा उनके जो भेद बतलाये गये हैं; उनको जानकर कोई विरले ही ऐसे महात्मा होते हैं जो उनके व्यवहार के लिये अपने विशुद्ध अध्यवसाय को उपयुक्त बनाकर प्रवृत्त होते हैं, इस अवस्था को विचार कर कहा जा सकता है कि—खड्गकी धारा पर चलना भी सुकर है परन्तु अहिंसा

* श्रीदशवैकालिक में कहा है कि—"धम्मोमंगलमुक्किट्ठं अहिंसासंजमो तवो" अर्थात् धर्म उत्कृष्ट मङ्गल है और वह अहिंसा; संयम और तपः स्वरूप है ॥

आदि तीनों का परिपालन उनसे सहज सुख और लघुक ही नहीं किन्तु कोटि गुण दुष्कर और दुर्गम है, ऐसी दशामें हम कैसे आशा कर सकते हैं कि हमारे लौकिक तथा पारलौकिक कार्य सुगमतया सिद्ध हों तथा हम शाश्वत सुखके अधिकारी बनें, परन्तु धन्य है उन पूर्वज त्रिकालदर्शी सर्वज्ञ महानुभावों को कि जिन्होंने हमारी भाविनीशक्ति और अवस्था को विचार हमारे लिये ऐसे सुगम उपायों का निदर्शन कर दिया है और ऐसे सुगम मार्ग को बतला दिया है कि—जिन उपायों का अवलम्बन करने और उस मार्गपर चलने से हममें सहजमें वह शक्ति आ जाती है कि जिसके सहारेसे हम यथोचित विधान कर अपने लौकिक तथा पारलौकिक मनोरथोंकी पूर्ति और सिद्धि से वञ्चित नहीं रहने पाते हैं, यदि हम उन सर्वज्ञ महानुभावों के निर्दिष्ट उन सुगम उपायों तथा उस प्रदिष्ट मार्ग का अनुसरण न करें तो अपने हाथसे अपने पैरमें कुठार मारनेवाले के समान क्या हम महामूर्ख, निर्विवेक और मन्द भाग्य न समझे जावेंगे कि जो हाथमें आये हुए चिन्तामणि रत्न को काष्ठ और पाषाण जानकर फेंक रहे हैं।

क्या यह सामान्य खेद का विषय है कि हम इस रत्नगर्भा भारत वसुन्धरा में उत्पन्न होकर भी (कि जहां के विज्ञान आदि सद्गुणों का आदर और गौरव कर हमारे पाश्चात्य बन्धु भी उसके अवलम्बसे प्रत्येक विषय में उन्नति करते जाते हैं और मुक्त कण्ठसे उसकी प्रशंसा करते हैं) पूर्वाचार्यों के अर्जित, सञ्चित और सौंपे हुए उत्तमोत्तम रत्नों की कुछ भी अपेक्षा न कर प्रमाद जन्य प्रगाढ़ निद्रामें सोतेहुए उनको अपने हाथसे गंवा रहे हैं। यदि हममें उक्त प्रमाद न होता तो क्या कभी सम्भव था कि—विद्यानुप्रवाद आदि रत्न भाण्डारोंकी वह विशिष्ट रत्नराशि हमारे हाथसे निकल जाती? क्या कभी सम्भव था कि हमारे जगत्प्रशस्य उत्कृष्ट ग्रन्थ भाण्डार कोष्ठागार बन जाते और क्या कभी सम्भव था कि—हमारा इस प्रकार अधः-पतन हो जाता? ऐसी दशामें क्या आशा की जा सकती है कि हमसे इस रत्नगर्भा भारतवसुन्धरा के नवीन रत्नोंका अन्वेषण और संचय हो सके, जब कि हम प्राप्त रत्नराशि को ही गंवा बैठे हैं।

प्रथम कहा जा चुका है कि हमारे त्रिकालदर्शी पूर्वज महानुभाव महात्माओं ने हमपर पूर्ण दया और अनुग्रह कर हमें वह सरल उपाय और

आर्य बतला दिया है कि जिसके अवलम्बसे हम जगत्में रत्न विशेष को प्राप्त कर मानव जन्मके सर्वसुखोंके अधिकारी बन उन्हें प्राप्त कर सकते हैं, उन्हीं अमूल्य रत्नोंमें से यह "श्रीपंचपरमेष्ठि नमस्कार महामन्त्र" रूप एक सर्वोत्कृष्ट अमूल्य विशिष्ट रत्न है कि जिसका प्रभाव और यथोक्त अनु-ष्ठान जन्य फल अभी आप स्तोत्र कर्ता श्री जिनकीर्ति सूरि आदि आचार्यों के पूर्व लिखित वाक्योंके द्वारा सुन चुके हैं।

अब विचार यह उत्पन्न होता है कि इस भारत भूमिमें सहस्रों नहीं किन्तु लाखों मनुष्य हैं कि जो प्रतिदिन नवकार मालिका को लेकर कमसे कम नवकार मन्त्रकी एक दो माला तो अवश्य ही सटकाया करते हैं; उनमें प्रायः दो ही प्रकारके पुरुष दृष्टिगत होते हैं—द्रव्यपात्र तथा निर्धन, इनमें से प्रथम श्रेणिवालों को जो हम देखते हैं तो द्रव्यादि साधनों के होते हुए भी तथा ऐसे प्रभावशाली महामन्त्रका गुणन करते हुए भी उन्हें हम आधि और व्याधिसे रहित नहीं पाते हैं; अर्थात् उन्हें भी अनेक आधि और व्याधियां सन्तप्त कर रही हैं; दूसरी श्रेणि के पुरुषों की ओर देखने पर उनमें सहस्रों पुरुष ऐसे भी दृष्टिगत होते हैं कि जिनको शरीराच्छादन के लिये पर्याप्त वस्त्र और उदर पूर्तिके लिये पर्याप्त अन्न भी उपलब्ध नहीं है, इस बात को देखकर आश्चर्य ही नहीं किन्तु महान् विस्मय उत्पन्न होता है कि कल्पद्रुम से भी अधिक महिमा वाले सर्वाभीष्टप्रद तथा शाश्वत के भी प्रदायक इस "श्री पञ्चपरमेष्ठि नमस्कार महामन्त्र" के आराधकोंकी यह दशा क्यों ? क्या इस महामन्त्रकी वह महिमा नहीं है जो कि बतलाई गई है ? क्या पूर्वाचार्योंने इसकी कल्पद्रुम से भी अधिक महि-मा यों ही बतला दी है ? अथवा जो इस महामन्त्रका आराधन करते हैं वे विशुद्ध भावसे नहीं करते हैं ? अथवा उनकी श्रद्धामें कोई त्रुटि है ? इत्यादि, परन्तु नहीं, नहीं, यह केवल हमारी कल्पना मात्र है, क्योंकि वास्तवमें यह महामन्त्र परम प्रभावशाली है और पूर्वाचार्योंने कल्पद्रुमसे भी अधिक जो इसकी महिमा कही है उसमें लेशमात्र भी असत्य नहीं है, क्योंकि परो-पकारव्रत, त्रिकालदर्शी, महानुभाव, पूर्वाचार्योंके विशुद्ध भावसे निकले हुए वचन सर्वथा निर्भ्रान्त, प्रमाणभूत तथा अविसंवादी होनेसे परम माननीय हैं, तो क्या यह कहा जा सकता है कि उनके आराधकगण विशुद्ध भावसे इसका

आराधन नहीं करते हैं ? अथवा उनकी श्रद्धा में कोई त्रुटि है ? नहीं, नहीं, यह बात भी नहीं है क्योंकि इस महामन्त्र के आराधक जनोंमेंसे कदाचित् विरले ही ऐसे होंगे कि जो श्रद्धा के विना अथवा अल्प श्रद्धा से केवल दिखावे मात्र के लिये इसका समाराधन करते होंगे, शेष सर्व समूहके विषयमें मुक्तकण्ठ से यही कहा जा सकता है कि वह पूर्ण भक्ति; अविकल प्रेम; दृढ श्रद्धा और पर्याप्त उत्साह के साथ उसका गुणन; मनन और ध्यान करता है, इस दशामें फिर वही प्रश्न उठता है कि जब उक्त महामन्त्र अतिशय प्रभाव विशिष्ट है और उसके महत्त्व के विषयमें महानुभाव पूर्वाचार्यों के वाक्योंमें लेशमात्र भी असत्यता नहीं है तथा आराधक जन भी विशुद्ध भाव और दृढ श्रद्धा के साथ उसका ध्यान करते हैं तो फिर क्या कारण है कि उक्त महामन्त्र सिद्धि सुख आदि तो क्या किन्तु लौकिक सुख और तत्सम्बन्धी अभीष्ट पदार्थोंका भी प्रदान नहीं करता है" ? पाठकगण ! इस प्रश्नके उत्तरमें केवल यही कहना है कि उक्त महामन्त्र का जो गुणन और ध्यान किया जाता है वह तद्विषयक यथार्थ विज्ञान के न होनेसे यथावत् विधि पूर्वक नहीं किया जाता है; इसलिये उसका कुछ भी फल प्राप्त होता हुआ नहीं दीखता है आप समझ सकते हैं कि एक प्यासे मनुष्य को यदि सुधा सदृश शीतल जल विशिष्ट सरोवर भी मिल जावे और वह मनुष्य उस सरोवर जलमेंसे प्यास को बुझानेवाले एक लोटेभर जल को मुख के द्वारा न पीकर चाहें सहस्रों घड़ों को भर उनके जल को नेत्र, नासिका अथवा किसी अन्य अङ्ग पर निरन्तर डालता रहे तो क्या उसकी प्यास निवृत्ति हो सकती है ? कभी नहीं, ठीक यही उदाहरण इस महामन्त्र के विषय में भी जान लेना चाहिये अर्थात् जैसे लाखों मनुष्यों की प्यास को शान्त करने वाला सुधावत् अगाध जल परिपूर्ण मानस भी अविधि से कार्य लेने वाले एक मनुष्य की भी प्यास को शान्त नहीं कर सकता है, ठीक उसी प्रकार सब जगत् के सर्वकार्यों की सिद्धि करनेकी शक्ति रखने वाला भी यह महामन्त्र अविधि से काम लेनेवाले किसी मनुष्य के एक कार्य को भी सिद्ध नहीं कर सकता है, किन्तु जैसे जलसरोवर में से एक लोटे भर भी जल को लेकर जो मनुष्य विधि पूर्वक मुखके द्वारा उसका पान करता है उस की प्यास तत्काल शान्त हो जाती है, ठीक उसी प्रकार इस महामन्त्र रूपी सुधा सरोवरमेंसे

जो मनुष्य नव पदोंमेंसे किसी एक पदरूपी अथवा इस कथनमें भी अत्युक्ति नहीं होगी कि पदके किसी अवान्तर पद वा अक्षररूपी अल्प सुधा मात्रा का भी यदि ध्यान रूपमें सेवन करेगा तो उसका अभीष्ट तत्काल सिद्ध होगा * इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं है।

परमेष्ठि नमस्कार स्तोत्र का निर्माण कर स्तोत्रकार श्रीजिनकीर्ति सूरि ने उसकी महिमा का बहुत कुछ वर्णन कर निःसन्देह उसके आराधन में श्रद्धा रखनेवाले जनोंके चित्त का अत्यन्त आकर्षण किया है और उन के वाक्योंसे चित्त का आकर्षण होना ही चाहिये, क्योंकि वीतराग भगवान् के अतिरिक्त प्रायः संसार वर्ती सब ही मनुष्य सकाम हैं और यह एक साधारण बात है कि सकाम जनोंकी कामना पूर्ति का साधन जिधर दृष्टि गत होता है उधर उनके चित्त का आकर्षण होता ही है; परन्तु खेद के साथ कहना पड़ता है कि स्तोत्रकार ने इस श्रीपंचपरमेष्ठि नमस्कार की महिमा का अतिशय वर्णन कर तथा इस महामन्त्रको आठों सिद्धियोंसे गर्भित बतला कर तद्द्वारा श्रद्धालु जनोंके चित्त का अत्यन्त आकर्षण करके भी उनको अधर में (निरवलम्ब) छोड़ दिया है, अर्थात् महामन्त्र की परम महिमा का वर्णन करके भी तथा उसे अष्ट सिद्धियोंसे गर्भित बतलाकर भी यह नहीं बतलाया है कि इस महामन्त्र के किस २ पदमें कौन २ सिद्धि सन्निविष्ट है, प्रत्येक सिद्धि के लिये किस विधि और क्रिया के द्वारा किस पदके गुणन की आवश्यकता है, एवं लौकिक कार्य विशेष की सिद्धि के लिये किस पदका और किस विधि के द्वारा ध्यान करना चाहिये, इसके अतिरिक्त स्तोत्रकारने इस महामन्त्र के पदविन्यास आदिके विषयमें भी कुछ नहीं कहा, हां अन्तमें इतना कहकर कि "इस लोक और परलोक सम्बन्धी अपने अभीष्ट अर्थ की सिद्धि के लिये श्री गुर्वाम्नाय से इसका ध्यान करना चाहिये" हमें और भी भ्रम में डाल दिया है, क्योंकि प्रथम तो इस महामन्त्रके विषयमें ही हमें अनेक सन्देह हैं (कि इसके किस २ पदमें कौन २ सी सिद्धि सन्निविष्ट है, इत्यादि) इसके अतिरिक्त गुर्वाम्नाय के अन्वेषण की हमें और भी चिन्ता उपस्थित हो गई कि "इस विषय में गुर्वाम्नाय क्या है"?

* इस विषयमें सैकड़ों उदाहरण ग्रन्थान्तरोंमें सुप्रसिद्ध हैं ॥

इस विषय में अपनी विज्ञता के अनुसार यह कहना भी असङ्गत नहीं है कि हमारे उपदेशक-जो विद्वान् साधु महात्मा और मुनिराज हैं; उन में से भी किसी महानुभाव ने आज तक अपनी लेखनी उठाकर इस विषय में यत् किञ्चित् भी निदर्शन करने का परिश्रम नहीं उठाया है * यह एक अत्यन्त विचारास्पद विषय है, भला सोचने की बात है, कि-जगत्कल्याणकारी ऐसे महामन्त्र के विषय में इतनी उपेक्षा क्यों ? साधारण विचार से इस के प्रायः दो ही कारण कहे जा सकते हैं कि-या तो वे (उपदेशक, विद्वान्, साधु, महात्मा, और मुनिराज) वार्तमानिक मनुष्य देहधारी प्राणियों को इस महामन्त्र की विधि आदि के प्रदान करने के अधिकारी वा पात्र नहीं समझते हैं, अथवा यह कि--वे स्वयं ही इस की विधि आदि से अनभिज्ञ हैं, इन दोनों कारणों में से यदि प्रथम कारण हो तो वह सर्वथा माननीय नहीं हो सकता है, क्योंकि श्रीजिन प्रणीत विशुद्ध धर्मानुयायी एक विशाल वर्ग में से उस का शतांश और सहस्रांश भी भव्य श्रेणि का न माना जाकर उपदेश का पात्र न हो, यह समझ में नहीं आता है, यदि उस विशाल वर्ग मेंसे शतांश वा सहस्रांश भी भव्य श्रेणि का है और उपदेश का पात्र है तो उस को तो वार्त्तमानिक प्रवचनाचार्यों के द्वारा इस महामन्त्र की विधि आदि का यथोचित उपदेश मिलना ही चाहिये था, परन्तु (अपनी विज्ञता के अनुसार कहा जा सकता है कि) आज तक ऐसा नहीं हुआ, अब यदि दूसरा कारण है (कि वे स्वयं ही इस की विधि आदि से अनभिज्ञ हैं) तो यह बात भी माननीय नहीं हो सकती है, क्योंकि विद्या और विज्ञान से विकस्वर और भास्वर जैनसम्प्रदाय में साधु महात्मा और मुनिराजों के विशाल वर्ग में अगणित साधु महात्मा और मुनिराज सम्यक् ज्ञान; दर्शन और चारित्र के विशुद्ध भाव से उपासक हैं, भला वे इस महामन्त्र की विधि आदि से विज्ञ न हों; यह कब सम्भावना हो सकती है ? किन्तु-असम्भव को भी सम्भव जान यदि हम थोड़ी देर के लिये इस बात

* यदि किन्हीं महानुभाव ने इस जगत् हितकारी विषय में परिश्रम किया हो तो कृपया वे मेरी इस धृष्टता को क्षमा कर मुझे सूचित करें, अन्वेषण करने पर भी कुछ पता न लगने से यह लिखा गया है ॥

को मान भी लें कि वे स्वयं इस की विधि आदि से अनभिज्ञ हैं तो हमें अगत्या यह कहना पड़ेगा कि इस दशा में उन का यह कर्त्तव्य था कि शास्त्र और पूर्वाचार्यों के द्वारा जिस की अत्यन्त महिमा का वर्णन किया गया है, उस के विषय में परस्पर में पूर्ण विचार करते तथा मन्त्रशास्त्र निष्णात अथवा अन्य उत्कृष्ट श्रेणि के विद्वानों के साथ भी इस विषय में परामर्श करते और इस के गूढ़ रहस्यों तथा विधि आदि सब बातों को अन्वेषण कर निकालते, क्योंकि यथार्थ मार्गण और गवेषण से तत्त्वज्ञान होता ही है, परन्तु न तो आज तक ऐसा हुआ और न ऐसा होनेके लक्षण ही प्रतीत होते हैं, इस साधारण काल्पनिक विचार को छोड़ गम्भीर भाव से विशेष विचार करने पर हमारा हार्दिकभाव तो इसी ओर झुकता है कि सम्यक् ज्ञान, दर्शन और चारित्र के आराधक हमारे महानुभाव साधु महात्मा और मुनिराजों को निस्सन्देह इस महामन्त्र के विषय में पूर्ण विज्ञता है परन्तु इस विषय में आज तक त्रुटि केवल इतनी ही रही कि उक्त महानुभावोंका ध्यान इस ओर नहीं गया कि वे इस के विषय में विधि निरूपण आदि के लिये लेखनी को उठाते, अस्तु: एक धर्मशील, परम गुणज्ञ, सुशील श्रावक महोदय के द्वारा इस "श्री पञ्चपरमेष्ठि नमस्कार स्तोत्र" के प्राप्त होने पर मैंने उन का आदि से अन्त तक अवलोकन किया, अवलोकन समय में स्तोत्रकार श्रीजिनकीर्त्ति सूरि जी की कही हुई महिमा के वाक्यों का अवलोकन कर स्वभावतः यह विचार उत्पन्न हुआ कि यह नवकार मन्त्र महाप्रभावशाली है और स्तोत्रकार ने जो कुछ इस की महिमा तथा आराधन के विशिष्ट फल का वर्णन किया है वह यथार्थ में अक्षरशः सत्य है, इस लिये अपनी बुद्धि के अनुसार इस के विषय में गूढ़ रहस्यों का निरूपण करने में अवश्य प्रयत्न करना चाहिये ॥

पाठकवर्ग ! यह विचार तो उत्पन्न हुआ, परन्तु उसे कार्यरूप में परिणत करने में विरोध डालने वाले दो प्रबल विचार और भी आकर उपस्थित हुए प्रथम तो यह कि—श्रीनन्दीसूत्र की टीका का कार्य (जो गत कई वर्षों से हाथ में है) कुछ काल के लिये रुक जावेगा, दूसरा विचार यह उत्पन्न हुआ कि उक्त महामन्त्र अत्यन्त प्रभाव विशिष्ट होने के कारण गूढ़ रहस्यों का अपरिमेय भाण्डार है, इस के गूढ़ रहस्यों का निरूपण करने के

लिये इतनी विद्या और बुद्धि कहां से आवेगी कि जिस से इस के गूढ़ रहस्यों का पर्याप्त निरूपण हो सके।

प्रिय भ्रातृगण ! उक्त दोनों विचारों ने उपस्थित होकर पूर्व सङ्कल्प को रोक दिया कि जिस से कुछ समय तक उक्त सङ्कल्प की ओर ध्यान भी नहीं गया, परन्तु आप जानते हैं कि—नैश्चयिक अवश्यम्भावी कार्य अवश्य ही होता है, अतः कारण सामग्री के उपस्थित होने पर पुनः उक्त सङ्कल्प की वासना जागृत हुई और उस ने प्रबल होकर दोनों विरोधी विचारों को इस प्रकार समझा बुझाकर शान्त कर दिया कि फिर उन का विरोध करने का साहस भी न रहा, उस ने प्रथम विरोधी विचार को इस प्रकार समझाया कि—श्रीनन्दी सूत्र की टीका का कार्य एक बृहत्कार्य है; वह कई वर्षों से हो रहा है तथा थोड़ा सा अवशिष्ट होने पर भी अब भी उसे पूर्त्ति और मुद्रण आदि के द्वारा विशेष समय की आवश्यकता है तथा यह (महामन्त्र विषयक रहस्य निरूपण) तदपेक्षया स्वल्प कार्य है तथा महामहिमा और प्रभाव से विशिष्ट होने के कारण जगत् का सद्यः उपकारी भी है; अतः प्राथम इसे अवश्य कर लेना चाहिये, एवं दूसरे विचार को उसने इस प्रकार समझाया कि—चाहे कितना ही बृहत् और दुस्तर कार्य हो उस में शक्तिभर प्रयत्न करने पर लोक किसी को दोषी नहीं ठहराता है; किन्तु वह उस के पुरुषार्थ का बहुमान ही करता है; भुजा उठाकर समुद्र के विस्तार को बतलाने वाले बालक का बहुमान ही इस विषय में प्रत्यक्ष प्रमाण है, किञ्च—नीतिशास्त्र का सिद्धान्त है कि-"अकरणान्मंदकरणं श्रेयः" अर्थात् कुछ न करने से कुछ करना भी अच्छा होता है।

प्रिय भ्रातृगण ! इस प्रकार दोनों विरोधी विचारों के शान्त होने पर यथाशक्ति और यथासाध्य परिश्रम कर इस कार्य को पूर्ण किया और प्रेसमें भेजने की इच्छा से कागज़ मँगवाने तथा प्रेस वाले को पेशगी द्रव्य देने के हेतु एक धर्मनिष्ठ महानुभाव से १५००) पन्द्रहसौ रुपये उद्धृत रूप में लेकर प्रूफ संशोधन में सुभीता तथा शीघ्र कार्य पूर्त्ति आदि कई बातों का विचार कर यहीं (बीकानेर) के एक नवीन खुले हुए प्रेस में तारीख ३० सितम्बर सन् १९१९ ई० को उक्त द्रव्य के सहित ग्रन्थ को छपने के लिये सौंपा गया, तथा ग्रन्थ में लगाने के लिये प्रयत्न कर चौबीस पौण्ड कागज भी मंगाया

गया, तात्पर्य यह है कि-ग्रन्थ के मुद्रण का पूरा प्रबन्ध करदिया गया, परन्तु खेद का विषय है कि सब प्रकार का प्रबन्ध कर देने पर भी "श्रेयांसि बहुविघ्नानि" की उक्ति के अनुसार इस कार्य में निरन्तर विघ्नों के सञ्चार का आरम्भ होने लगा, जिस की संक्षिप्त कथा इस भांति है कि-उक्त नवीन खुले हुए प्रेस में चिरकाल तक पुष्कल टाइप तथा कम्पोज़ीटरों का प्रबन्ध न होने से कार्य का आरम्भ ही नहीं हुआ और आशा ही आशा में अधिक समय बीत गया, कुछ काल के पश्चात् कार्यारम्भ होने पर भी फिर कम्पोज़ीटरों के अस्त व्यस्त होने से दो फार्मों के छपने के पश्चात् कार्य रुकगया, इसी प्रपञ्च में सात मास बीत गये इस दशा में कार्य की पूर्ति को अति कठिन जान गत मई मास (सन् १९२०) के प्रारम्भ में उक्त प्रेस से कार्य को वापिस लेकर उक्त मास के मध्य में इटावा नगर में आकर श्रीब्रह्मप्रेस के अध्यक्ष से सब बात को निश्चित कर तीसरे फार्म से ग्रन्थ के छपनेका प्रबन्ध उक्त प्रेस में किया गया, ग्रन्थ के मुद्रण के लिये जो चौबीस पौण्ड कागज़ पहिले मंगवाया गया था वापिस न मिलने से कागज़ का प्रबन्ध करनेके लिये अनेक स्थानों में पत्र तथा तार भेजे गये परन्तु खेद है कि—अधिक प्रयत्न करने पर भी चौबीस पौण्ड कागज़ नहीं मिला, अतः लाचार होकर बीस पौण्ड कागज़ के लिये प्रेस की ओर से लखनऊ मिल को आर्डर भिजवा कर मैं बीकानेर को वापिस आगया * लौटते समय प्रेस के अध्यक्ष महोदय से निवेदन कर आया था कि-शीघ्र कार्यारम्भ के हेतु कुछ रीम पार्सल से तथा शेष रीम मालगाड़ी से मंगवा लीजियेगा, परन्तु उक्त महानुभाव ने खर्च के सुभीते आदि कई बातों को विचारकर सब कागज को मालगाड़ी से ही मंगवाया, मई मासके समाप्त होनेपर कागजकी बिल्टी आई, वह बिल्टी रेलवेके एक कर्मचारी को प्रेस के अध्यक्षने सौंप दी और उससे कह दिया कि माल आ जानेपर शीघ्र ही छुड़ा कर प्रेस में पहुंचा देना, परन्तु दैव योगसे उस कर्मचारीसे वह बिल्टी खो गई तथा माल के आ जानेपर वहां के स्टेशन मास्टर ने बिल्टी के बिना मालको नहीं छोड़ा, अतः रेलवेके अध्यक्ष महाशयोंसे लिखा पढ़ी करने आदिमें फिर लगभग सवा मास का समय बीत

* पाठकों को ज्ञात हो कि-इसी हेतु से ग्रन्थ के तीसरे फ़ार्म से लेकर बीस पौण्ड का कागज़ लगाया गया है ,॥

गया, निदान तारीख १२ जुलाई सन् १९२० ई० से (कागजकी प्राप्ति होनेपर) उक्त प्रेस में कार्य का आरम्भ किया गया, इस प्रसङ्गमें हम उक्त प्रेसके सुयोग्य अध्यक्ष श्रीमान् विद्वद्वर्य श्री पण्डित ब्रह्मदेवजी मिश्र शास्त्री काव्यतीर्थ को अनेकानेक धन्यवाद देते हैं कि—जिन्होंने हमारी प्रार्थना को स्वीकृत कर कार्य की शीघ्रतामें तन मनसे परिश्रम कर हमें अनुगृहीत किया, कार्य में शीघ्रता होनेके कारण ग्रन्थ में कुछ अशुद्धियां विशेषरूपमें हो गई हैं, अतः पाठक वर्ग से निवेदन है कि—कृपया प्रदर्शित अशुद्धियों को ठीककर ग्रन्थका अवलोकन करें।

यह भी सूचित कर देना आवश्यक है कि—कागज़के खरीदने के समय उसका मूल्य पूर्वापेक्षा ड्यौढ़ा हो जानेसे तथा एक स्थान से कार्य को वापिस लेकर अन्यत्र मुद्रणका प्रबन्ध करनेसे ग्रन्थमें लगभग ६००) छः सौ रुपये पूर्व निर्धारित व्ययसे अधिक व्यय हुए तथापि इस धर्मसम्बन्धी जगदुपकारी ग्रन्थके प्रचार का विचार कर पेशगी मूल्य देकर तथा ग्राहक श्रेणि में नाम लिखाकर ग्राहक बननेवाले सज्जनोंसे पूर्वनिर्धारित मूल्य ही लिया गया है किन्तु पीछे खरीदनेवाले ग्राहकोंसे हमें विवश होकर तीन रुपयेके स्थानमें ३॥) साढ़े तीन रुपये मूल्य लेनेका निश्चय करना पड़ा है, आशा है कि वाचक वृन्द विवशता को विचार इसके लिये हमें क्षमा प्रदान करेंगे।

इस प्रकार अनेक विघ्नों का सहन कर तथा अधिक परिश्रम और व्यय कर इस ग्रन्थ को वाचकवृन्द की सेवा में समर्पित करनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ है।

कहनेकी आवश्यकता नहीं है कि—जब एक मनुष्य किसी वृहत् कठिन कार्य विशेषमें चिरकालसे व्यग्र रहता है और उसे छोड़ वह दूसरे कार्यमें प्रवृत्त होता है तब चित्तकी अस्थिरता के कारण उस कार्यमें कुछ न कुछ त्रुटियां अवश्य रहती हैं; इसी नियम के अनुसार इस विषयमें त्रुटियोंका रहना नितान्त सम्भव है; त्रुटियोंके रहनेका दूसरा कारण भी आपको प्रकट कर दिया गया है कि—मेरी इतनी विद्या और बुद्धि कहां है कि—मैं उसके आश्रयसे पर्याप्ततया स्वप्रतिज्ञात विषय का निरूपण कर सकता, यह निश्चय जानिये कि उक्त मन्त्रामन्त्र महत्त्व का सागर है, रत्नों

का आकार है, अभीष्ट सिद्धि का भण्डार है तथा सर्व कामसमाधक होनेसे गुणोंका अगाध उदधि है, अतएव इसके महत्त्व गुण और गूढ़ रहस्योंका पार पाना दूरदर्शी, प्रतिभासम्पन्न, प्रज्ञातिशय विशिष्ट महानुभावोंके लिये भी सुकर नहीं है तो भला मेरे जैसे साधारण जन का तो कहना ही क्या है, परन्तु हां किसी दैवी प्रेरणा वा शुभ संस्कार वश एतद्विषयक सङ्कल्प विशेष की वासना के जागृत होनेसे मुझे इस कार्यमें प्रवृत्त होना ही पड़ा है।

जगत्प्रसिद्ध बात यह है कि प्रत्येक कार्यके लिये समुचित योग्यता की आवश्यकता होती है और जिसकी जितनी वा जैसी योग्यता होती है वह उस कार्य को उतनी ही विशेषता और उत्तमता के साथ कर सकता है, किन्तु—यह भी ध्यानमें रहे कि कार्य का विस्तार करते समय मैंने अपने अन्तः करणमें सङ्कोच को तनिक भी स्थान नहीं दिया है अर्थात् बुद्धिके अनुसार हृदयमें समुत्पन्न हुए इसके अङ्गोपाङ्ग सम्बन्धी सब ही विषयोंका समावेश किया है (जैसे इस महामन्त्र के नव पद कौन २ से हैं, इसको नवकार मन्त्र क्यों कहते हैं, इसके किस २ पदमें कौन २ सी सिद्धि सन्निविष्ट है, "अरिहंताणं" इत्यादि पदोंमें षष्ठी विभक्तिका प्रयोग क्यों किया गया है, नमस्कार क्रिया के कितने भेद हैं; जो क्रम परमेष्ठि नमस्कार मन्त्रका रक्खा गया है उसका क्या हेतु है, इसके अतिरिक्त अन्य मुख्य पदों तथा तदन्तर्गत "सव्व" "लोए" "पंच" "मङ्गलाणं" "सव्वेसिं" "पढमं" "हवइ" "मंगलं" इत्यादि पदोंके उपन्यास का क्या प्रयोजन है, इत्यादि,) तात्पर्य यह है कि—विषय विस्तार में लेश मात्र भी सङ्कोच नहीं किया है, हां विषय प्रतिपादनमें उतना ही विस्तार किया जा सका है कि—जहांतक बुद्धि, विद्या और योग्यताने अवलम्ब दिया है, अतएव विषय प्रतिपादन प्रकरणमें यह भी सम्भव है कि—किसी विषय का प्रतिपादन वा उसका कोई भाग किसी को रुचिकर न हो; क्योंकि जनता की रुचि विभिन्न होती हैं, परन्तु कार्य में प्रयास कर्ता किसी की रुचि वा अरुचि की ओर अपना लक्ष्य न लेजाकर अपनी रुचि के अनुसार ही प्रतिपाद्य विषय का प्रतिपादन करता है।

यह भी स्मरण रहे कि लौकिक कार्य विशेषकी सिद्धि के लिये इस महामन्त्र के अवान्तर पद विशेषके गुणन और ध्यानकी विशेष विधि का उल्लेख जान बूझकर नहीं किया है, उसका हेतु यह है कि–वह विधि अनधिकारियोंके पास पहुंचकर उनके और उनके सम्बन्धियोंके लिये हानिकर न हो, क्योंकि सब ही जानते हैं कि–अधिकारी और योग्यके पास शस्त्र होनेसे वह उसके द्वारा अपनी और दूसरोंकी रक्षा करता है, परन्तु अनधिकारी और अयोग्य के पास पहुंचनेपर वह उसके द्वारा दूसरों का और अपना भी विघात कर बैठता है, सम्भावना है कि–इसी उद्देश्य को लेकर स्तोत्रकारने भी स्तोत्रके अन्त में लिखा है कि–"श्रीगुर्वाम्नाय से इसका गुणन और ध्यान करना चाहिये" किन्तु–इसी विषयमें लक्ष्य लेजाकर श्री नमस्कार कल्प में से भी वे ही विषय उद्धृत कर लिखे गये हैं जोकि सर्व साधारणके लिये उपयोगी समझे गये हैं।

प्रतिपाद्य विषयके भेद से यह ग्रन्थ छः परिच्छेदोंमें विभक्त किया गया है:—

१–प्रथम परिच्छेद में–श्रीजिनकीर्त्ति सूरि जी महाराजके निर्मित "श्री पञ्च परमेष्ठि नमस्कार स्तोत्र" की भाषा टीकाके सहित विस्तृत रूपमें व्याख्या की गई है।

२–द्वितीय परिच्छेद में पण्डित विनय समुद्रगणि के शिष्य पण्डित गुणरत्नमुनि के संस्कृतमें वर्णित "णमो अरिहंताणं" के ११० अर्थ अविकल लिखकर उनका भाषामें अनुवाद किया गया है।

३–तृतीय परिच्छेद में–श्री हेमचन्द्राचार्य जी महाराजके बनाये हुए "योगशास्त्र" नामक ग्रन्थमेंसे उद्धृत कर ध्यान; ध्येय, ध्याता और प्राणायामादि विषयोंका तथा श्रीनवकार मन्त्रके ध्यान आदि की समस्त विधि और उस के महत्व आदि का वर्णन अति सरल भाषामें किया गया है।

४–चौथे परिच्छेदमें–श्री नवकार मन्त्र के दुर्लभ "नमस्कार कल्प" मेंसे उद्धृत कर सर्वोपयोगी तथा सर्व लाभदायक कतिपय आवश्यक कल्पों का निदर्शन किया गया है।

५–पांचवें परिच्छेदमें–अवान्तर पदोंके विषय में प्रश्नोत्तर रूपसे युक्ति

प्रमाण और हेतु पूर्वक अच्छे प्रकार वर्णन किया गया है कि जिससे महामन्त्र सम्बन्धी कोई भी विषय शङ्कास्पद नहीं रहता है तथा जिसके अवलोकन से वाचकवृन्द को महामन्त्र सम्बन्धी तात्त्विक विषय भली भांति अवगत हो सकता है।

६-छटे परिच्छेदमें-श्रीजिनकीर्ति सूरिजी महाराज के इस कथन के अनुसार कि-"परमेष्ठिनोऽर्हदादयस्तेषां नमस्कारः श्रुतस्कन्धरूपो नवपदाष्ट सम्पदष्ट षष्ठ्यक्षरमयो महामन्त्रः" अर्थात् "अर्हत् आदि परमेष्ठी हैं; उनका श्रुतस्कन्धरूप नमस्कार नव पदों, आठ सिद्धियों तथा अड़सठ अक्षरोंसे विशिष्ट महामन्त्र है" युक्ति, प्रमाण, हेतु और शास्त्रीय सिद्धान्तों से यह प्रतिपादन किया गया है कि-मन्त्र के अमुक पद में अमुक सिद्धि सन्निविष्ट है।

इस प्रसङ्ग में यह कह देना भी आवश्यक है कि-इस विषय में जो कुछ उल्लेख किया गया है उसके विषयमें यह नहीं कहा जा सकता है कि वह यथार्थ ही है, क्योंकि प्रत्येक विषयकी यथार्थताके विषय में ज्ञानी महाराज के अतिरिक्त कोई भी कथन करनेका साहस नहीं कर सकता है, हां इतनी बात अवश्य है कि-ज्ञानी महाराजकी पूर्ण सत्कृपाके द्वारा किसी दैवी शक्ति वा शुभ संस्कार की प्रेरणा से इस महामन्त्र के विषय में इतना लिखा गया है; अतः आशा होती है कि इस लेख का अधिकांश अवश्यमेव यथार्थता परिपूर्ण होकर महानुभावों के चित्तोत्साह के लिये पर्याप्त होगा।

निस्सन्देह इस प्रयास के द्वारा मैं अपना परम सौभाग्य और प्रगाढ़ पुण्य का अर्जन समझता हूं कि मुझे पूर्व सुकृत से इस पुनीत कार्य के विषय में लेखनी उठानेका यह शुभावसर प्राप्त हुआ।

इस प्रसङ्गमें मैं श्रीमान् मान्यवर, सद्गुण कदम्ब समलङ्कृत, क्षान्त्यादि दशविध श्रमण विभूषित, सच्छील, सौजन्यवारिधि, विपश्चिद्वर्य, बृहद् भट्टारक खरतर गच्छाचार्य, श्री जङ्गमयुग प्रधान, भट्टारक श्री १०८ श्री जिन चारित्र सूरीश्वर जी महाराज को अपने विशुद्ध अन्तःकरण से अनेकानेक धन्यवाद प्रदान करता हूं कि जिन महानुभाव ने इस विषयमें अनेकशः मेरे

उत्साह को बढ़ाकर एवं यथार्थ सहानुभूति पूर्वक सब प्रकार से सहायता प्रदान कर मुझे अनुगृहीत किया ।

इसके अनन्तर मैं श्रीमान्, सद्गुणकदम्बसमलङ्कृत, विद्यानुरागी, सौजन्यवारिधि, विद्वत्प्रिय, धर्मनिष्ठ, परमवदान्य, श्रीमन्मूलचन्द जी महोदय श्रावक को (कि जिन्होंने इस ग्रन्थ के केवल मुद्रण कार्यके के हेतु १५००) सौ रुपये मात्र द्रव्य उद्धृत रूपमें प्रदान कर ग्रन्थ मुद्रण में सहायता पहुंचाकर मुझे चिरानुगृहीत किया) तथा उक्त सर्व गुण सम्पन्न, श्रीयुत, फूलचन्द जी महोदय श्रावक आदि सज्जनों को (कि जिन्हों ने यथाशक्ति ग्राहक संख्यावृद्धि तथा आर्थिक सहायता प्रदान आदि के द्वारा अपनी धर्मनिष्ठा का परिचय दिया है) अपने विशुद्ध भाव से धन्यवाद प्रदान करता हूं, इस के अतिरिक्त ग्राहक बनकर पेशगी मूल्य भेजने वाले आदि आदि अपने अनुग्राहक सज्जनों को भी धन्यवाद देना मैं अपना परम कर्त्तव्य समझता हूं कि जिन महानुभावों ने पेशगी मूल्य भेजकर तथा ग्राहक श्रेणी में नाम लिखवाकर ग्रन्थ के मुद्रण आदि में सहायता पहुंचायी तथा अधिक विलम्ब होनेपर भी विश्वस्त होकर धैर्य का अवलम्बन किया ।

अन्त में ग्रन्थ के सम्बन्ध में पुनः इतना लिखना आवश्यक है कि इस विषय में जो कुछ उल्लेख किया गया है उसके विषयमें सर्वांश रूपमें यथार्थता के लिये मैं साहस पूर्वक बद्धपरिकर नहीं हूं, किन्तु वह मेरा आन्तरिक भाव है, किञ्च—यह तो मुझे दृढ निश्चय है कि विषय प्रतिपादन की यथार्थता होनेपर भी उस में त्रुटियां तो अवश्य रही होंगी; अतः नीर क्षीर विवेकी हंसोंके समान गुणग्राही, विद्वान्, साधु, महात्मा तथा मुनिराजों से सविनय निवेदन है कि वे इस ग्रन्थ का आद्योपान्त अवलोकन कर इस प्रस्तावित विषयमें अपना विचार प्रकट करें , अर्थात् उल्लिखित विषय के सब अंशों में अथवा किसी अंश विशेषमें उन्हें जो २ त्रुटियां प्रतीत हों उनका कृपा

पूर्वक सहेतुक निरूपण करें और विशुद्ध भाव से निकले हुए उक्त विचारों में जो उन्हें सत्यता प्रतीत हो (जैसा कि मुझे पूर्ण विश्वास है कि—आन्तरिक सद्भावमें जागृत विशुद्ध संस्कारसे प्रदर्शित किये हुए ये विचार यथार्थ और हितकारी हैं) उस का ग्रहण और समर्थन कर मुझे चिरानुगृहीत करें, यदि इन विचारोंमेंसे एकांश के द्वारा भी मानवगण का कुछ उपकार होगा तो मैं अपने परिश्रम को सफल समझूंगा, इत्यलं विस्तरेण—

सुजनोंका कृपाभाजन—

जयदयालु शर्मा

संस्कृत प्रधानाध्यापक श्रीडूंगर कालेज ।

बीकानेर ।

॥ श्रीः ॥

मङ्गलाचरणम् ।

शान्तं शिवं शिवपदस्य परं निदानम् ।
दान्तं ह्यचिन्त्यममलं जितमोहमानम् ॥
त्रैलोक्यलोकनयनैकसुधाप्रवाहम् ।
कल्याणवल्लिनवपल्लवनाम्बुवाहम् ॥ १ ॥
श्रेयोङ्गनावरविलासनिबद्धरागम् ।
योगीश्वरैर्विदितसंविहितस्वरूपम् ॥
लोकावलोकनकलातिशयप्रकाशम् ।
आनम्य पञ्चपरमेष्ठि मुहुर्निकान्तम् ॥ २ ॥
संसारतोयनिधितारणयानपात्रम् ।
स्तोत्रं सुनिर्मितमिदं जिनकीर्तिसूरि-
मुख्यैः सुमङ्गलकरं तु महाप्रभावम् ।
व्याख्यामि पञ्चपरमेष्ठि नमस्कृतेर्हि ॥३॥ (विशेषकम्)

समालोक्यायासं स्तवनवरकस्यास्य विवृतौ ।
अभीष्टानां साधे त्रिदशतरु चिन्तामणिनिभ-
स्यमन्दप्रज्ञस्यावरमतियुता मे खलजनाः ।

विधास्यन्ते नूनं मम समुपहासं यदिहते ॥ ४ ॥
गुणत्यागाद्दोषैकदृश इति लोके सुविदिताः ।
सतां संसिद्धिं वै गुणगणसमादानकुशलाम् ॥
न भीतिस्तेभ्यो वीक्ष्य ननु हृदि मे दोषबहुला -
दपि स्वान्ते त्वेषा विलसतितरां मोदगुरुता ॥५॥ (युग्मम्)

अर्थ—शान्ति युक्त शिवस्वरूप शिवपद के प्रधान कारण मन और इन्द्रियों का दमन करने वाले अचिन्त्यरूप निर्मल मोह और मानको जीतने वाले तीनों लोकों के प्राणियों के नेत्रों में अनुपम सुधा का प्रवाह करनेवाले कल्याणरूप लतामें नवीन पत्रोंको उत्पन्न करने के लिये मेघके समान अतिशय कान्तियुक्त मुक्ति रूप सुन्दर अङ्गना के विलास में प्रीति रखनेवाले योगीश्वरों से ज्ञात तथा कथित स्वरूप वाले तथा लोकके अवलोकन की कला में अधिक प्रकाश वाले श्री पञ्च परमेष्ठियोंको बारंबार प्रणाम कर मैं श्रीजिन कीर्त्ति सूरीश्वरके बनाये हुए इस पञ्च परमेष्ठि नमस्कार के स्तोत्रकी व्याख्या को करता हूं जो कि (स्तोत्र) संसार समुद्रसे पार करनेके लिये नौका के समान सुन्दर मङ्गलकारी तथा महाप्रभाव से विशिष्ट है ॥ १ ॥ २ ॥ ३ ॥

अभीष्ट अर्थ की सिद्धि के लिये कल्पवृक्ष तथा चिन्तामणि के समान इस सुन्दर स्तोत्र की व्याख्या में मुझ अल्प बुद्धिके प्रयासको देखकर तुच्छ बुद्धि वाले दुष्ट जन अवश्यमेव मेरा उपहास करेंगे क्योंकि इस संसारमें यह बात प्रसिद्ध ही है कि वे (दुष्ट जन) गुणोंका त्याग कर केवल दोष पर ही दृष्टि डालते हैं परन्तु बहुत दोषवाले भी पदार्थ में से गुण समूहके ग्रहणमें कुशल सत्पुरुषों के स्वभाव का हृदय में विचार कर मुझे उन दुर्जनों का भय नहीं है प्रत्युत मेरे हृदय में यह प्रमोद की गुरुता (गुरु मात्रा) ही अधिक विलास कर रही है ॥ ४ ॥ ५ ॥

शुभम् ॥

॥ श्रीः ॥

श्रीमन्त्रराज गुणकल्पमहोदधिः

अर्थात्

श्री पञ्च परमेष्ठि नमस्कार स्तोत्र व्याख्या ॥

अथ प्रथमः परिच्छेदः ॥

श्री जिनकीर्त्तिसूरिविरचितं

श्री पञ्चपरमेष्ठिनमस्कारमहास्तोत्रम् ॥

मूलम्—परमिट्ठिणमुक्कारं, थुणामि भत्तीइ तन्नवपयाणं
पत्थारभंगसंखा, नट्ठुद्दिट्ठाइकहणेण ॥ १ ॥

संस्कृतम्—परमेष्ठिनमस्कारं स्तवीमि भक्त्या तन्नवपदानाम् ॥
प्रस्तारभंगसंख्यानष्टोद्दिष्टादिकथनेन ॥ १ ॥

भावार्थ—उस के नौ पदों के प्रस्तार, भंगसंख्या तथा नष्ट और उद्दिष्ट आदि के कथन के द्वारा मैं भक्तिपूर्वक परमेष्ठिनमस्कार की स्तुति करता हूं ॥ १ ॥

---

१. (**प्रश्न**)—स्तोत्रकार श्रीजिनकीर्त्तिसूरि जी महाराज ने मूलगाथारचना से पूर्व अभीष्ट देव नमस्कार आदि किसी प्रकार का मंगलाचरण नहीं किया (जैसा कि ग्रन्थ की आदि में विघ्नादि के नाश के लिये प्रायः सब ही आचार्य करते हैं) इस का क्या कारण है ?

(**उत्तर**)—"परमिट्ठिणमुक्कारं" अर्थात् "परमेष्ठिनमस्कार" यह समस्त पद ही मंगलस्वरूप है, अतः पृथक् मंगलाचरण नहीं किया, अत एव स्वोपज्ञवृत्ति के आरम्भ में इस गाथा को उन्हों ने अभीष्टदेवतानमस्कारस्वरूप मंगलप्रतिपादिका कहा है ॥

स्वोपज्ञवृत्ति—जिनं विश्वत्रयीवन्द्यमभिवन्द्य विधीयते ॥
परमेष्ठिस्तवव्याख्या गणितप्रक्रियान्विता ॥ १ ॥

तत्रादावभिधेयगर्भां समुचितेष्टदेवतानमस्कारस्वरूपमंगलप्रतिपादिकांगाथामाह:—

व्याख्या—परमेष्ठिनोऽर्हदादयस्तेषां नमस्कारः श्रुतस्कन्धरूपो नवपदाष्टसम्पदष्टषष्ट्यक्षरमयो महामन्त्रस्तं भक्त्या स्तवीमि, तस्य नमस्कारस्य नवसंख्यानां पदानां प्रस्तारो भंगसंख्या नष्टम् उद्दिष्टम् आदिशब्दादानुपूर्व्यनानुपूर्व्यादिगुणनमहिमा चैतेषां कथनेन ॥ १ ॥

दीपिका—तीनों लोकों के वन्द्य श्रीजिन देव को नमस्कार कर गणितप्रक्रिया से युक्त परमेष्ठिस्तव की व्याख्या को मैं करता हूं ॥ १ ॥

इस विषय में पहिले अभिधेय से विशिष्ट समुचित इष्ट देवता को नमस्कार करना रूप मंगल का कथन करने वाली गाथा को कहा है।

उस नमस्कार के जो नौ पद हैं उन का प्रस्तार, भंगसंख्या, नष्ट, उद्दिष्ट तथा आदि शब्द से आनुपूर्वी और अनानुपूर्वी आदि के जपने का महत्व, इन (विषयों) के कथन के द्वारा परमेष्ठी जो अर्हदादि हैं उन का जो श्रुतस्कन्धरूप नमस्कार है अर्थात् नौ पदों, आठ सिद्धियों तथा अड़सठ (६८) अक्षरों से विशिष्ट जो महामन्त्र है उस की मैं भक्ति के साथ स्तुति करता हूं ॥ १ ॥

मूलम्—एगाईण पयाणं, गणअन्ताणं परोप्परं गुणणे ॥
अणुपुव्विप्पमुहाणं, भंगाणं हुंति संखाओ ।२।

१-वन्दना करने के योग्य ॥ २-परमेष्ठिस्तोत्र ॥ ३-वाच्य विषय ॥ ४-युक्त ॥ ५-भेदों के फैलाव की प्रक्रिया ॥ ६-भांगों की संख्या ॥ ७-अनुक्त संख्या का कथन ॥ ८-कथित स्वरूप की संख्या का प्रतिपादन ॥ ९-क्रम से गणना ॥ १०-क्रम से गणना न करना ॥ ११-आदि शब्द से पश्चानुपूर्वी को जानना चाहिये ॥ १२-आदि शब्द से सिद्ध आदि का ग्रहण होता है ॥ १३-अक्षरगत समूहरूप ॥

संस्कृतम्—एकादीनाम्पदानां गणान्तानाम्परस्परं गुणने ॥
आनुपूर्वीप्रमुखानां भंगानाम्भवन्ति संख्याः ॥२॥

भावार्थ—गणपर्यन्त एक आदि पदों का परस्पर गुणन करने पर आनुपूर्वी आदि भंगों की संख्यायें होती हैं ॥ २ ॥

स्वोपज्ञवृत्ति—तत्रादौ प्रथमोपन्यस्तमपि बहुवक्तव्यं प्रस्तारमुल्लंघय स्वल्पवक्तव्ये भंगपरिमाणे करणमाहः—

व्याख्या—इह गणः स्वाभिमेतः पदसमुदायः, तत एकादीनाम्पदानां द्विकत्रिकचतुष्कपञ्चकादिगणपर्यन्तानां स्थापितानाम्परस्परं गुणने ताड़ने आनुपूर्व्यनानुपूर्व्यादिभंगानां संख्याः स्युः, तथाहि—एकादीनि पदानि नवपर्यन्तानि क्रमेण स्थाप्यन्ते—१,२,३,४,५,६,७,८,९, अत्र मिथो गुणने यथा एकस्य पदस्य द्वितीयाभावेन मिथो गुणनाभावात् एक एव भंगः, एककद्विकयोः गुणने जातौ द्वौ, द्विकगणस्य भंगसंख्या, द्वौ त्रिभिर्गुणितौ जाताः षट्, एषा त्रिकगणस्य भंगसंख्या, ततः षट् चतुर्भिर्गुणिता जाता चतुर्विंशतिः, एषा चतुष्कगणस्य भंगसंख्या, ततश्चतुर्विंशतिः पञ्चभिर्गुणिता जातं विंशत्युत्तरं शतम्, एषा पञ्चकगणस्य भंगसंख्या, विंशत्युत्तरं शतं षड्भिर्गुणितं जातानि सप्त शतानि विंशत्युत्तराणि, एषा षट्कगणस्य भंगसंख्या, इयञ्च सप्तभिर्गुणिता जाताः पञ्चसहस्राः चत्वारिंशदधिकाः, एतावती सप्तकगणस्य भंगसंख्या, इयमष्टभिर्गुणिता जाताष्टकगणस्य भंगसंख्या चत्वारिंशत् सहस्राणि त्रीणि शतानि विंशत्युत्तराणि, एते भंगा नवभिर्गुणिता जातास्तिस्रो लक्षा द्वाषष्टिः सहस्राणि अशीत्युत्तराणि अष्टौ शतानि च, एषा नमस्कारनवपदानामानुपूर्व्यनानुपूर्वीपश्चानुपूर्वीभंगानां संख्या ॥ २ ॥

दीपिका—अब इस विषय में पहिले यद्यपि प्रस्तार को पूर्व कहा है तथापि उस में बहुत कथन करना है इस लिये उसे छोड़ कर अल्पवक्तव्य

१-गण शब्द का अर्थ आगे कहा जावेगा ॥ २-गुणा ॥ ३-आदि शब्द से अनानुपूर्वी और पश्चानुपूर्वी को जानना चाहिये ॥ ४-स्वाभीष्टः ॥ ५-आदिशब्देन षडादिग्रहणम् ॥ ६-आदिशब्देन पश्चानुपूर्व्या ग्रहणम् ॥ ७-सहस्रशब्दस्य पुंस्त्वमपि ॥ ८-लक्षशब्दस्य स्त्रीत्वेऽपि वृत्तिः ॥ ९-जिस में थोड़ा कथन करना है ऐसे ॥

भंगपरिमाण[1] के विषय में क्रिया[2] को कहते हैं:—

अपना अभीष्ट[3] जो पदों का समुदाय[4] है उसे यहां पर गण जानना चाहिये, इस लिये द्विक, त्रिक, चतुष्क और पंचक आदि[5] गणपर्यन्त स्थापित जो एक आदि पद हैं, उन का परस्पर में गुणन अर्थात् ताड़न[6] करने पर आनुपूर्वी और अनानुपूर्वी आदि[7] भंगों की संख्यायें होती हैं, जैसे देखो-नौ तक एक आदि पद क्रम से रक्खे जाते हैं— १, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८, ९, इन में आपस में गुणन करने पर, जैसे—एक पद का दूसरे के न होने से परस्पर गुणन नहीं हो सकता है, इस लिये उस का एक ही भंग होता है, एक और दो का गुणन करने पर दो हुए, इस लिये द्विक गण की भंगसंख्या दो है, उन (दो) को तीन के साथ गुणन किया तो छः हुए, यह त्रिक गण की भंगसंख्या है, इस के पीछे छः (६) को चार से गुणा किया तो चौबीस (२४) हुए, यह चतुष्क गण की भंगसंख्या है, इसके बाद चौबीस को पांच से गुणा किया तो एक सौ बीस (१२०) हुए, यह पञ्चक गण की भंगसंख्या है, एक सौ बीस को छः से गुणा किया तो सात सौ बीस (७२०) हुए, यह षट्क गण की भंगसंख्या है, इस (संख्या) को सात से गुणा किया तो पांच सहस्र चालीस (५०४०) हो गये, इतनी सप्तक गण की भंगसंख्या है, इस (संख्या) को आठ से गुणा किया तो अष्टक गण की भंगसंख्या चालीस सहस्र तीन सौ बीस (४०,३२०) हो गई, इन भंगों को नौ से गुणा किया तो तीन लाख बासठ सहस्र आठ सौ अस्सी (३,६२,८८०) हुए, यह नमस्कार के नव पदों के आनुपूर्वी, अनानुपूर्वी और पश्चानुपूर्वी भंगों की संख्या है ॥ २ ॥

मूलम्—एगस्स एग भंगो,
दोण्हं दो चेव तिण्हछब्भंगा ॥
चउवीसं च चउण्हं,
विसुत्तरसयं च पंचण्हं ॥ ३ ॥

१-भंगों (भँगों) का परिमाण ॥ २-प्रक्रिया, रचनाविधि ॥ ३-इष्ट, विवक्षित ॥ ४-समूह ॥ ५-आदि शब्द से छः आदि को जानना चाहिये ॥ ६-गुणा ॥ ७-आदि शब्द से पश्चानुपूर्वी को जानना चाहिये ॥

सत्त य सयाणि वीसा,
छण्हं पणसहस्स चत्त सत्तण्हं ॥
चालीस सहस्स तिसया,
वीसुत्तरा हुंति अट्ठण्हं ॥ ४ ॥
लक्खतिगं बासट्ठी,
सहस्स अट्ठ य सयाणि तह असिई ॥
नवकारनवपयाणं,
भंगयसंखा उ सव्वा उ ॥ ५ ॥

संस्कृतम्—एकस्य एकभंगो
द्वयोर्द्वौ चैव त्रयाणां षड् भंगाः ॥
चतुर्विंशतिश्च चतुर्णां
विंशत्युत्तरशतञ्च पञ्चानाम् ॥ ३ ॥
सप्त च शतानि विंशतिः
षण्णां पञ्च सहस्राणि चत्वारिंशत् सप्तानाम् ॥
चत्वारिंशत्सहस्राणि त्रीणि शतानि ॥
विंशत्युत्तराणि भवन्ति अष्टानाम् ॥ ४ ॥
लक्षत्रयं द्वाषष्टिः सहस्राणि
अष्ट च शतानि तथा अशीतिः ॥
नवकारनवपदानां
भंगकसंख्या तु सर्वापि[१] ॥ ५ ॥

भाषार्थ[२]—एक का एक भंग होता है। दो के दो भंग होते हैं। तीन के छः भंग होते हैं। चार के चौबीस भंग होते हैं तथा पांच के एक सौ बीस भंग होते हैं॥ ३ ॥

छः के सात सौ बीस भंग होते हैं। सात के पांच सहस्र चालीस भंग होते हैं तथा आठ के चालीस सहस्र तीन सौ बीस भंग होते हैं ॥ ४ ॥

१-मूले तुशब्दोऽपिशब्दार्थः ॥ २-पूर्व कही हुई गाथा की भंगकसंख्या का ही अब कथन किया जाता है ॥

तीन लाख बासठ सहस्र आठसौ अस्सी, नवकार के नौ पदों के भंगों की सब संख्या होती है ॥ ५ ॥

स्वोपज्ञवृत्ति—एताएवभंगसंख्यागाथाभिराह,गाथात्रयंस्पष्टम् ।३।४।५।

दीपिका—भंगों की इन्हीं (पूर्वोक्त) संख्याओं को तीन गाथाओं के द्वारा कहा है, ये तीनों गाथायें स्पष्ट हैं ॥ ३ ॥ ४ ॥ ५ ॥

मूलम्—तत्थ पढमाणुपुव्वी,
चरमा पच्छाणुपुव्विया नेया ॥
सेसा उ मज्झिमाओ,
अणाणुपुव्वीओ सव्वाओ ॥ ६ ॥

संस्कृतम्—तत्र प्रथमानुपूर्वी
चरमा पश्चानुपूर्विका ज्ञेया ॥
शेषास्तु मध्यमाः
अनानुपूर्व्यः सर्व्वाः ॥ ६ ॥

भाषार्थ—उन में से प्रथम (भंगसंख्या) आनुपूर्वी है, पिछली[3] (भंग-संख्या) को पश्चानुपूर्वी जानना चाहिये, शेष[4] जो बीच की (भंगसंख्यायें) हैं वे सब अनानुपूर्वी हैं ॥ ६ ॥

स्वोपज्ञवृत्ति—एषाम्भंगानां नामान्याहः—

षष्ठी गाथा स्पष्टा[5] ॥ ६ ॥

अत्र पंचपदीमाश्रित्य[6][7] विंशत्युत्तरं शतं भंगसंख्यायन्त्रकं[8] लिख्यते यथाः—

१-तीन गाथाओं का अर्थ स्पष्ट है॥ २-सब से पहिली जो भंगसंख्या है उसे आनुपूर्वी कहते हैं॥ ३-सब से अन्तिम ॥ ४-आदि और अन्त की भंगसंख्या को छोड़ कर ॥ ५-स्पष्टार्था ॥ ६-पञ्चानाम्पदानां समाहारः पञ्चपदी ताम् ॥ ७-उद्दिश्य, अधिकृत्य ॥ ८-यन्त्रकं कोष्ठकम् ॥

१२३४५*	२४३१५	३५१२४	१४५२३	१५३४२	३४२५१
२१३४५	४२३१५	५३१२४	४१५२३	५१३४२	४३२५१
१३२४५	३४२१५	२३५१४	१५४२३	३५१४२	२३५४१
३१२४५	४३२१५	३२५१४	५१४२३	५३१४२	३२५४१
२३१४५	१२३५४	२५३१४	४५१२३	१४५३२	२५३४१
३२१४५	२१३५४	५२३१४	५४१२३	४१५३२	५२३४१
१२४३५	१३२५४	३५२१४	२४५१३	१५४३२	३५२४१
२१४३५	३१२५४	५३२१४	४२५१३	५१४३२	५३२४१
१४२३५	२३१५४	१२४५३	२५४१३	४५१३२	२४५३१
४१२३५	३२१५४	२१४५३	५२४१३	५४१३२	४२५३१
२४१३५	१२५३४	१४२५३	४५२१३	३४५१२	२५४३१
४२१३५	२१५३४	४१२५३	५४२१३	४३५१२	५२४३१
१३४२५	१५२३४	२४१५३	१३४५२	३५४१२	४५२३१
३१४२५	५१२३४	४२१५३	३१४५२	५३४१२	५४२३१
१४३२५	२५१३४	१२५४३	१४३५२	४५३१२	३४५२१
४१३२५	५२१३४	२१५४३	४१३५२	५४३१२	४३५२१
३४१२५	१३५२४	१५२४३	३४१५२	२३४५१	३५४२१
४३१२५	३१५२४	५१२४३	४३१५२	३२४५१	५३४२१
२३४१५	१५३२४	२५१४३	१३५४२	२४३५१	४५३२१
३२४१५	५१३२४	५२१४३	३१५४२	४२३५१	५४३२१†

दीपिका—इन भंगों के नामों को कहते हैं:—

छठी गाथा स्पष्ट[१] है ॥ ६ ॥

*इयं भंगसंख्या आनुपूर्वी पूर्वानुपूर्वी चेति कथ्यते।

†इयमन्तिमा भंगसंख्या पश्चानुपूर्वीति कथ्यते, शेषास्तु मध्यमाः सर्वा अपि भंगसंख्या अनानुपूर्व्य उच्यन्ते ॥ १-स्पष्ट अर्थवाली ॥

यहां पर पांच पदों को मान कर एक सौ बीस का भंग संख्या का यन्त्र[1] लिखा जाता है, जैसे[2]:—

मूलम्—अणुपुव्विभंगहिट्ठा
जिट्ठट्ठविअग्गओ उवरि सरिसं ॥
पुव्विं जिट्ठाइकमा
सेसे मुत्तुं समयभेयं ॥ ७ ॥

संस्कृतम्—आनुपूर्वीभंगाधस्तात्,
ज्येष्ठं स्थापय अग्रत उपरि सदृशम् ॥
पूर्वं ज्येष्ठादिक्रमात्
शेषान् मुक्त्वा समयभेदम् ॥ ७ ॥

भावार्थ—आनुपूर्वी भंग के नीचे अगली पंक्ति में ज्येष्ठ अंक की स्थापना करो, ऊपर समान अंक की स्थापना करो तथा समयभेद को छोड़ कर शेष अंकों की ज्येष्ठादि क्रम से पूर्व स्थापना करो ॥ ७ ॥

स्वोपज्ञवृत्ति—अथ प्रस्तारमाहः—

व्याख्या—आनुपूर्वीभंगस्य पूर्वं न्यस्तस्य उपलक्षणत्वादनानुपूर्वीभंगस्यापि पूर्वं न्यस्तस्य अधस्तात् द्वितीयपंक्तावित्यर्थः, ज्येष्ठं सर्वप्रथममंकम् "स्थापय" इति क्रिया सर्वत्र योज्या, तथा "अग्रत उपरीति" उपरितनपंक्तिसदृशमंकराशिमिति गम्यम्,स्थाप्यते,तथा "पूर्वमिति" यत्र ज्येष्ठः स्थापितस्ततः पूर्वभागे पश्चाद्भागे इत्यर्थः, ज्येष्ठानुज्येष्ठादिक्रमात् शेषान् स्थापय अंकानिति गम्यम्, वक्ष्यमाणगाथारीत्या सदृशांकस्थापना समयभेदस्तं मुक्त्वा टालयित्वेत्यर्थः, तत्र पञ्चपदीमाश्रित्योदाहरणं यथा—१,२,३,४,५, एषानुपूर्वी, अत्र

१-कोष्ठक ॥ २-एक सौ बीस का भंगसंख्या का यन्त्र अभी पूर्व लिखा जा चुका है, अतः यहां पर फिर उसे नहीं लिखते हैं ॥ ३-प्रथम भंग ॥ ४-दूसरी आदि ॥ ५-समयभेद का स्वरूप आगे कहा जावेगा ॥ ६-योजनीया, प्रयोक्तव्येति यावत् ॥ ७-ज्येष्ठोऽङ्कः ॥ ८-पूर्वं ज्येष्ठं ततोऽनुज्येष्ठमित्यादिक्रमेण ॥ ९-उच्यते इति शेषः ॥ १०-प्रदर्श्यते इति शेषः ॥

एककस्य सर्वज्येष्ठत्वेन ततोऽपरज्येष्ठाभावात् न किञ्चित्तदधः स्थाप्यते, ततो द्विकस्यैकको ज्येष्ठः स्यादतः स तदधः स्थाप्यते, "अग्रत उपरीति" उपरितन-पंक्तिसदृशोऽङ्कराशिः ३४५ रूपः स्थाप्यते, शेषोऽत्र द्विकः, ततः स[3] पूर्वं स्थाप्यः, जाता द्वितीया पंक्तिः २१३४५, अथ तृतीयपंक्तौ आद्यस्य द्विकस्य एकको ज्येष्ठोऽस्ति, परं तस्मिन् स्थाप्यमाने अग्रत उपरितनांक १३४५ रूपस्थापने सदृशांकस्थापनारूपः समयभेदः स्यात् ततो द्विको मुच्यते, एककस्य च ज्येष्ठाभावात् त्यागः, तत एककं द्विकञ्च मुक्त्वा त्रिकस्य ज्येष्ठो द्विकोऽस्ति स तदधः स्थाप्यते, अग्रत उपरिसदृशौ ४५ रूपावंकौ स्थाप्यौ, पूर्वञ्च शेषावेककत्रिकौ ज्येष्ठादिक्रमात् स्थाप्यौ, जाता तृतीया पंक्तिः १३२४५, अथ चतुर्थपंक्तौ एकस्य ज्येष्ठाभावात् तं[10] मुक्त्वा त्रिकस्याधो ज्येष्ठः[11] स्थाप्यते परं तथा[12] समयभेदः[13] स्यात् ततो द्विकं त्यक्त्वा सर्वज्येष्ठ एककः स्थाप्यः[14], अग्रत उपरितनसदृश २४५ रूपा अंकाः स्थाप्याः, शेषश्चात्र त्रिकः, स पूर्वं स्थाप्यः, जाता चतुर्थी पंक्तिः ३१२४५, एवमनया प्रक्रियया तावत् ज्ञेयं यावच्चरम-पंक्तौ[15] पञ्चकचतुष्कत्रिकद्विकैकाः ५४३२१ जायन्ते ॥ ७ ॥

दीपिका—अब प्रस्तार को कहते हैं:—

पहिले रक्खे हुए आनुपूर्वी भंग के नीचे (यह कथन उपलक्षण रूप है, इस लिये यह भी जानना चाहिये कि पहिले रक्खे हुए अनानुपूर्वी भंग के भी नीचे) अर्थात् दूसरी पंक्ति में ज्येष्ठ अर्थात् सर्वप्रथम अंक की स्थापना करो ("स्थापना करो" इस क्रिया को सर्वत्र जोड़ना चाहिये) तथा "अग्रत उपरि" यह जो कहा गया है, इस का अर्थ यह है कि ऊपर वाली पंक्ति के समान अंकसमूह रक्खा जाता है तथा पूर्व अर्थात् जहां ज्येष्ठ (अंक) की स्थापना की है उस से पूर्व भाग में अर्थात् पश्चात् भाग में ज्येष्ठ और अनु-ज्येष्ठ आदि क्रम से[16] शेष अंकों की स्थापना करो, वक्ष्यमाण[17] गाथा की रीति

१-एकस्याधः ॥ २-द्विकापेक्षया ॥ ३-द्विकः ॥ ४-तस्मात्कारणात् ॥ ५-त्यज्यते, परिह्रियते ॥ ६-मोचनम् ॥ ७-द्विकः ॥ ८-त्रिकस्याधः ॥ ९-पूर्वमेकः स्थाप्यः पश्चात्त्रिक इत्यर्थः ॥ १०-एककम् ॥ ११-ज्येष्ठो द्विक इत्यर्थः ॥ १२-द्विकस्थापने ॥ १३-सदृशांकस्थापना ॥ १४-त्रिकस्याधः इति शेषः ॥ १५-अन्तिमपंक्तौ ॥ १६-पूर्व ज्येष्ठ की, फिर अनुज्येष्ठ अंक की, इस क्रम से ॥ १७-आगे कही हुई ॥

से सदृश अंकों का स्थापन करना समयभेद कहलाता है, उस को छोड़ कर अर्थात् टाल कर, यहां पर पांच पदों को मान कर उदाहरण दिया जाता है, देखो—१,२,३,४,५, यह आनुपूर्वी है, यहां पर एक (अंक) सर्वज्येष्ठ है, क्योंकि उस से बढ़ कर कोई ज्येष्ठ नहीं है, इस लिये उस के नीचे कुछ नहीं रक्खा जाता है, इस के पश्चात् द्विक का एक ज्येष्ठ है, इस लिये वह उस के नीचे रक्खा जाता है, इस से आगे ऊपर की पंक्ति के समान ३,४,५, रूप अंकसमूह रक्खा जाता है, अब शेष रहा द्विक, इस लिये उसे पूर्व रखना चाहिये, दूसरी पंक्ति २,१,३,४,५, हो गई। अब तीसरी पंक्ति में आर्ध द्विक का एक ज्येष्ठ है परन्तु उस के रखने पर आगे ऊपर वाले अंक १,३,४,५, के रखने पर सदृश अंकों की स्थापनारूप समयभेद हो जावेगा, इस लिये द्विक छोड़ दिया जाता है और एक का कोई ज्येष्ठ नहीं है इस लिये उस का भी त्याग होता है, इस लिये एक और द्विक को छोड़ कर त्रिक का ज्येष्ठ द्विक है वह उस के नीचे रक्खा जाता है, उस के आगे ऊपर के समान ४,५, रूप अंकों को रखना चाहिये, अब शेष रहे एक और तीन, उन को ज्येष्ठादि क्रम से पूर्व रखना चाहिये, अब १,३,२,४,५, यह तीसरी पंक्ति बन गई, अब चौथी पंक्ति में-एक का ज्येष्ठ कोई नहीं है, इस लिये उस को छोड़ कर त्रिक के नीचे ज्येष्ठ रक्खा जावे परन्तु ऐसा करने पर समयभेद हो जावेगा, इस लिये द्विक को छोड़ कर सर्वज्येष्ठ एक को रखना चाहिये, आगे ऊपर के समान २,४,५, रूप अंकों को रखना चाहिये, अब यहां पर त्रिक शेष रहा, उसे पहिले रखना चाहिये, तो चौथी पंक्ति ३,१,२,४,५, बन गई, इसी प्रक्रिया से वहां तक जानना चाहिये कि जहां तक पिछली पंक्ति में पांच, चार, तीन, दो, एक, ५,४,३,२,१, हो जावें ॥ ७ ॥

मूलम्—एगाईण पयाणं,
उड्ढमहो आययासु पंतीसु ॥

१-पूर्व भंग ॥ २-सब से बड़ा अंक ॥ ३-द्विक के ॥ ४-पहिले, प्रथम ॥ ५-दो का अंक ॥ ६-एक का ॥ ७-द्विक ॥ ८-त्रिक के ॥ ९-एक को ॥ १०-ज्येष्ठ अर्थात् द्विक अंक ॥ ११-सदृश अंकों की स्थापना ॥ १२-शैली, रीति ॥

पत्थारकरणमवरं,
भणामि परिवट्टअंकेहिं ॥ ८ ॥

संस्कृतम्—एकादीनां पदाना-
मूर्ध्वाध आयतासु पंक्तिषु ॥
प्रस्तारकरणमपरं
भणामि परिवर्ताङ्कैः ॥ ८ ॥

भावार्थ—एक आदि पदों के ऊपर और नीचे आयेत पंक्तियों में परिवर्त्तांकों के द्वारा मैं प्रस्तार की दूसरी क्रिया को कहता हूं ॥ ८ ॥

स्वोपज्ञवृत्ति—अथ प्रस्तारे करणान्तरं विवक्षुः प्रस्तावनागाथामाह:—

व्याख्या—इह एकादीनाम्पदानामूर्ध्वाध आयैताः पंक्तयः प्रस्तीर्यन्ते, ततस्तासु पंक्तिषु प्रस्तारस्य करणमपरं भणामि परिवर्त्तांकैः, इह यस्यां यस्यां पंक्तौ यावद्भिर्वारैरेकैकम्पदं परावर्त्यते तस्यां तस्यां पंक्तौ तदंकसंख्यायाः परिवर्त्तांक इति संज्ञा ॥ ८ ॥

दीपिका—अब प्रस्तार के लिये दूसरी क्रिया को कहने की इच्छा से प्रस्तावनागाथा को कहते हैं:—

यहां एक आदि पदों की ऊपर नीचे लम्बी पंक्तियां खींची जाती हैं, इस के पश्चात् उन पंक्तियों में परिवर्त्तांकों के द्वारा मैं प्रस्तार की दूसरी क्रिया को कहता हूं, यहां पर जिस २ पंक्ति में जितनी वार एक एक पद का परावर्त्तन होता है उस २ पंक्ति में उस अंकसंख्या का नाम परिवर्त्तांक है ॥ ८ ॥

मूलम्—अंतंकेण विभत्तं,
गणगाणिअं लद्धु अंकु सेसेहिं ॥

१-आदि पद से द्विक आदि को जानना चाहिये ॥ २-लम्बी, विस्तीर्ण ॥ ३-परिवर्तांकों का वर्णन आगे किया जावेगा ॥ ४-रीति, विधि, शैली ॥ ५-अन्यत् करणम् ॥ ६-वक्तुमिच्छुः ॥ ७-विस्तीर्णाः, प्रलम्बाः ॥ ८-विलिख्यन्ते, निर्मीयन्ते ॥ ९-संघट्यते ॥ १०-नाम ॥ ११-रीति, शैली ॥ १२-रीति ॥ १३-संघटन ॥

भइअव्वो परिवट्टा,
नेया नवमाइपंतीसु ॥ ९ ॥

संस्कृतम्—अन्तांकेन विभक्तं
गणगणितं लब्धांकः शेषैः ॥
भक्तव्यः परिवर्त्ता
ज्ञेया नवमादिपंक्तिषु ॥ ९ ॥

भाषार्थ—गण का जो गणित है उस में अन्त्य[1] अंक से भाग देने पर जो लब्धांक हो उस में शेषों का भाग देना चाहिये, उन्हीं को नवम आदि[2] पंक्तियों में परिवर्त्त जानना चाहिये ॥ ९ ॥

स्वोपज्ञवृत्ति—तत्र पूर्वं परिवर्त्ताङ्कानयने करणं[3]माह:—

व्याख्या—गणस्य गच्छस्य प्रस्तावादत्र नवकरूपस्य गणितं विकल्पभंगसंख्या[4]३६२८८०रूपम्, तद[5]न्त्यांकेनात्र[6] नवकरूपेण भक्तम्[7], लब्धोऽङ्कः ४०३२०, ततो नवमपंक्तौ अयम्परिवर्त्तांको ज्ञेयः, कोऽर्थ[8]:अस्यां पंक्तावेतावत एतावतो वारान् नवमाष्टमसप्तमादीनि[9] पदानि अधोऽधो न्यसनीयानि[10], ततो लब्धोऽङ्कः ४०३२० रूपः शेषैरष्टभि भज्यते, लब्धं ५०४०, अयमष्टमपंक्तौ परिवर्त्तः, अस्य च शेषैः सप्तभिर्भागे लब्धं ७२०, सप्तमपंक्तावयं परिवर्तः, अस्य च प्रागुवत्[11] शेषैः षड्भिर्भागे लब्धं १२०, षष्ठपंक्तौ परिवर्त्तोऽयम्, तस्य च पञ्चभिर्भागे लब्धं २४, पञ्चमपंक्तौ परिवर्त्तः, अस्य च चतुर्भिर्भागे लब्धं ६, चतुर्थपंक्तौ परिवर्तः, अस्य च त्रिभिर्भागे लब्धं द्वयम्, तृतीयपंक्तौ परिवर्त्तः, अस्य द्वाभ्यां भागे लब्ध एकः, द्वितीयपंक्तौ परिवर्त्तः, तस्याप्येकेन भागे लब्ध एकः प्रथमपंक्तौ परिवर्त्तः ॥ ९ ॥

दीपिका—अब इस विषय में पहिले परिवर्त्तांक के लाने के लिये क्रिया[12] को कहते हैं:—

गण अर्थात् गच्छ का, प्रस्ताव होने से यहां पर नवक रूप का गणित विकल्पभंगसंख्या ३६२८८० रूप है, उस में यहां पर आन्तिम[13] अंक नौ

१-पिछले ॥ २-आदि शब्द से अष्टम आदि का ग्रहण होता है ॥ ३-विधिम् ॥ ४-गणितमित्यस्यैवार्थः-विकल्पभंगसंख्या इति ॥ ५-तद् गणितम् ॥ ६-अन्त्येनाङ्केन ॥ ७-भागमानीतम् ॥ ८-इदं तात्पर्यमित्यर्थः ॥ ९-आदिशब्देन षष्ठादिपरिग्रहः ॥ १०-रक्षणीयानि, स्थाप्यानि ॥ ११ पूर्वरीत्या ॥ १२-रीति ॥ १३-पिछले ॥

का भाग दिया तो लब्धांक ४०३२० हुआ, इस लिये नवीं पंक्ति में यह परिवर्त्तांक जानना चाहिये, तात्पर्य यह है कि इस पंक्ति में इतनी २ वार नौ, आठ और सात आदि पद नीचे २ रक्खे जाने चाहियें, इस के पश्चात् लब्धांक ४०३२० में शेष ८ का भाग दिया जाता है तो लब्धांक ५०४० होता है, यह आठवीं पंक्ति में परिवर्त्त है, इस में शेष सात का भाग देने पर लब्धांक ७२० होता है, इस लिये सातवीं पंक्ति में यह परिवर्त्त है तथा इस में पूर्व के समान शेष छः का भाग देने पर लब्धांक १२० हुआ, यह छठी पंक्ति में परिवर्त्त है, उस में ५ का भाग देने पर लब्धांक २४ हुआ, यह पंचम पंक्ति में परिवर्त है, इस में ४ का भाग देने पर लब्धांक ६ हुआ, यह चौथी पंक्ति में परिवर्त है, इस में ३ का भाग देने पर लब्धांक दो हुआ, यह तीसरी पंक्ति में परिवर्त है, इस में दो का भाग देने पर लब्धांक एक हुआ, यह दूसरी पंक्ति में परिवर्त है, उस में भी एक का भाग देने पर लब्धांक एक हुआ, यह प्रथम पंक्ति में परिवर्त है ॥ ९ ॥

मूलम्—पुव्वगणभंगसंखा
अहवा उत्तरगणंमि परिवट्टो ॥
नियनियसंखा नियनिय,
गणअंतंकेण भत्ता वा ॥ १० ॥

संस्कृतम्—पूर्वगणभंगसंख्या
अथवा उत्तरगणे परिवर्त्तः ॥
निजनिजसंख्या निजनिज-
गणान्तांकेन भक्ता वा ॥ १० ॥

भावार्थ—अथवा पूर्व गण की जो भंगसंख्या है वह उत्तर गण में परिवर्त होता है, अथवा निज २ संख्या में निज २ गण के अन्त्य अंक का भाग देने से परिवर्त होता है ॥ १० ॥

१-आदि शब्द से छः आदि को जानना चाहिये ॥ २-पिङ्गलं ॥

स्वोपज्ञवृत्ति—अथ एतानेवं परिवर्तान् प्रकारान्तरेणानयति:—

अथवा शब्दः प्रकारान्तरे, पूर्वगणस्य या भंगसंख्या "एगस्स एगभंगो" इत्यादिका, सैवोत्तरगणे परिवर्तः, परिवर्तांकस्तत्तुल्य इत्यर्थः, तथाहि, एककरूपस्य पूर्वगणस्य या भंगसंख्या एककरूपा सैवोत्तरगणे द्विकरूपे परिवर्तः तथा द्विकगणस्य भंगसंख्या द्वयरूपा, उत्तरगणे त्रिकरूपे परिवर्तोऽपि द्वयरूपः, तथा त्रिकगणे भंगाः षट् चतुर्थगणे परिवर्तोऽपि षट्करूपः, तथा चतुष्कगणे भंगाः २४, पञ्चमगणे परिवर्तोऽपि २४ रूपः, एवमग्रेतोऽपि ज्ञेयम्, अथोत्तरार्धेन परिवर्तानयने तृतीयप्रकारमाह "नियनिय" इति अथवा निजनिजगणस्य भंगसंख्या निजनिजेन गणस्यान्त्यांकेन भक्ता परिवर्तः स्यात्, तथाहि-एककगणस्य भंगसंख्या एकरूपा, सा अन्त्यांकेन अत्रैककरूपेण भक्ता लब्ध एकः, आद्यपंक्तौ परिवर्तः, तथा द्विकगणे भंगसंख्या द्वयरूपा सा द्विकगणस्य अन्त्यांकेन द्विकरूपेण भक्ता लब्ध एकः, अत्रापि परिवर्तांक एक एव, तथा त्रिकगणे भंगसंख्या षट्स्वरूपा, सा त्रिकगणस्य अन्त्येनांकेन त्रिकरूपेण भक्ता लब्धौ द्वौ, त्रिकगणे परिवर्तः, तथा चतुष्कगणे संख्या २४रूपा, सा अन्त्यांकेन चतुष्करूपेण भक्ता लब्धाः षट्, अत्रायम्परिवर्तः, एवमग्रेतोऽपि ज्ञेयम्।

१	२	३	४	५	६	७	८	९	११
१	१	२	६	२४	१२०	७२०	५०४०	४०३२०	

इयं परिवर्तनास्थापना ॥ १० ॥

दीपिका—अब इन्हीं परिवर्तों को दूसरे प्रकार से लाते हैं:—

अथवा शब्द प्रकारान्तर अर्थ में है, पूर्व "एगस्स एगभंगो" इत्यादि कथन के अनुसार पूर्वगण की जो भंगसंख्या है, उसी को उत्तर गण में परिवर्त

१-पूर्वोक्तानेव ॥ २-अन्येन प्रकारेण ॥ ३-सा भंगसंख्या ॥ ४-परिवर्त इत्यस्यैवार्थः परिवर्तांक इति ॥ ५-अस्तीति शेषः, एवमन्यत्रापि ज्ञेयम् ॥ ६-अग्रेऽपि ॥ ७-गाथाया उत्तरार्धेन ॥ ८-अन्त्येनांकेन ॥ ९-भागमानीता ॥ १०-प्रथमगणे ॥ ११-अग्रेऽपि ॥ १२-परिवर्तांकस्थापना ॥ १३-पूर्वोक्त ॥ १४-दूसरे प्रकार ॥

जानना चाहिये, तात्पर्य यह है कि परिवर्तांक उस के तुल्य ही होता है, जैसे देखो—एकरूप पूर्व गण की जो भंगसंख्या एक है, वही द्विकरूप उत्तर गण में परिवर्त है, तथा द्विकगण की भंगसंख्या द्वयरूप है, इस लिये त्रिकरूप उत्तर गण में परिवर्त भी द्वयरूप है, तथा त्रिक गण में छः भंग हैं अतः चतुर्थगण में परिवर्त भी छः रूप है, तथा चतुष्कगण में भंग २४ हैं, अतः पंचम गण में परिवर्त भी २४ है, इसी प्रकार आगे भी जानना चाहिये। अब (गाथा के) उत्तरार्ध के द्वारा परिवर्त के लाने के लिये तीसरे प्रकार को कहते हैं– " नियनिय " इति, अथवा निज निजे गण की भंगसंख्या में अपने२ गण के अन्तिम अंक का भाग देने पर परिवर्त हो जाता है, जैसे देखो—एक गण की भंगसंख्या एक है, उस में यहां पर अन्त्य अंक एक का भाग दिया तो लब्धांक एक हुआ, बस यही प्रथम पंक्ति में परिवर्त है, तथा द्विकगण में भंगसंख्या दो है, उस में द्विकगण के अन्त्य अंक दो का भाग दिया तो लब्धांक एक हुआ, इस लिये इस में भी परिवर्तांक एक ही है, तथा त्रिकगण में भंगसंख्या छः है, उस में त्रिकगण के अन्त्य अंक तीन का भाग दिया तो लब्ध दो हुए अतः त्रिकगण में यही परिवर्त है, तथा चतुष्कगण में संख्या २४ है उस में अन्त्य अंक चार का भाग दिया तो लब्ध छः हुए, यहां पर यह परिवर्त है, इसी प्रकार आगे भी जानना चाहिये।

१	२	३	४	५	६	७	८	९	११
१	१	२	६	२४	१२०	७२०	५०४०	४०३२०	

यह परिवर्तनों की स्थापना है ॥ १० ॥

मूलम्—इग इग दु छ चउवीसं
विसुत्तरसयं च सत्त सय वीसा ॥

१-दो रूप ॥ २-अपने अपने ॥ ३-पिछले ॥ ४-पिछले ॥ ५-इस लिये ॥ ६-लब्धांक ॥ ७-परिवर्तांक ॥

पण सहस्स चालीसा
चत्त सहस्सा तिसय वीसा ॥ ११ ॥

संस्कृतम्—एक एको द्वौ षट् चतुर्विंशतिः
विंशत्युत्तरशतञ्च सप्तशतानि विंशतिः ॥
पंच सहस्राणि चत्वारिंशत्
चत्वारिंशत्सहस्राणि त्रीणि शतानि विंशतिः ।११।

भावार्थ—एक, एक, दो, छः, चौबीस, एक सौ बीस, सात सौ बीस, पांच सहस्र चालीस तथा चालीस सहस्र तीन सौ बीस ॥ ११ ॥

स्वोपज्ञवृत्ति—अथैतानेवं परिवर्तान् पूर्वानुपूर्व्या गाथाबन्धेनाह ॥११॥

दीपिका—इन्हीं परिवर्तों को पूर्वानुपूर्वी के द्वारा गाथाबन्ध से कहा है ॥ ११ ॥

मूलम्—परिवट्टंकपमाणा
अहो अहो अंतिमाइपंतीसु ॥
अंतिमपभिई अंका
ठविज्ज वज्जिअ समयभेयं ॥ १२ ॥

जा सयलभंगसंखा
नवरं पंतीसु दोसु पढमासु ॥
कमउक्कमओ दुन्हवि
सेसे अंके ठविज्जासु ॥ १३ ॥

संस्कृतम्—परिवर्त्तांकप्रमाणाः
अधोऽधोऽन्तिमादिपंक्तिषु ॥
अन्तिमप्रभृत्यंकाः
स्थापनीयाः वर्जयित्वा समयभेदम् ॥ १२ ॥

---

१ पूर्वोक्तानेव ॥ २-आनुपूर्व्येत्यर्थः ॥ ३-गाथारचनया ॥

यावत् सकलभङ्गसंख्या, नवरं पङ्क्त्योर्द्वयोः प्रथमयोः ॥
क्रमोत्क्रमतो द्वयोरपि, शेषा अङ्काः स्थापनीयाः ॥१३॥

भावार्थ—नीचे नीचे अन्तिम (१) आदि (२) पंक्तियों में परिवर्ताङ्कों की संख्या का यह प्रमाण है, समय भेद को छोड़कर अन्तिम आदि अङ्कों की स्थापना करनी चाहिये ॥१२॥

जहां तक कि सब भङ्गों की संख्या पूर्ण हो जावे, हां यह विशेषता है कि प्रथम दो पंक्तियों में दोनों के पूर्ण होने तक शेष अङ्कों की क्रम और उत्क्रम (३) से स्थापना करनी चाहिये ॥१३॥

स्वोपज्ञवृत्ति—अथ परिवृत्तैः (४) प्रस्तुतां (५) प्रस्तारयुक्तिं (६) गाथाद्वये (७) नाह:—

स्वस्वपरिवर्ताङ्क प्रमाणांस्तत्संख्यातुल्यवारान् पश्चानुपूर्व्या आदिषु पंक्तिषु अन्त्यप्रभृती(८)नङ्कानधोऽधः स्थापयेत्, समयभेदं [९]वर्जयित्वा(१०) सकलभङ्गसंख्यापूर्त्तिं यावत्, नवरम् प्रथमपंक्तिद्वये प्रथम द्वितीयपंङ्क्त्योरित्यर्थः, शेषमङ्कद्वयं क्रमोत्क्रमाभ्यां (११) स्थाप्यम् (१२) पञ्च पदान्याश्रित्य भावना (१३) यथा अभान्त्या पंक्तिः पञ्चमी, तस्याञ्च चतुर्विंशतिरूपः परिवर्ताङ्कः ततश्चतुर्विंशतिवारानन्त्योऽङ्कः, पञ्चकरूपः स्थाप्यः, ततश्चतुष्कत्रिकद्विकैकका: क्रमेण चातुर्विंशतिं चतुर्विंशति वारानधोऽधः स्थाप्याः, यावज्जाता सकलभङ्गसंख्या विंशत्युत्तरशतरूपा सम्पूर्णा, ततश्चतुर्थपंक्तौ षट्करूपः परिवर्ताङ्कः, समयभेदकारित्वमन्त्यमपि पञ्चकं मुक्त्वा चतुष्कत्रिकद्विकैकका: षट् षट् वारान् स्थाप्याः षट् षट् वारान् पञ्चकः स्थाप्यः, ततः समयभेदकरं चतुष्कं मुक्त्वा त्रिकद्विकैकका: षट् षट् संख्यान् वारान् स्थाप्याः, ततः समयभेदकरं त्रिकं मुक्त्वा पञ्चकचतुष्कद्विकैका: षट् षट् संख्या स्थाप्याः ततः समयभेदकरं द्विकं मुक्त्वा पञ्चकचतुष्कत्रिकैकका: षट् षट् संख्याः

१-पिछली ॥ -२आदि शब्द से अन्तिम से पूर्वादि को जानना चाहिये ॥३-क्रम को छोड़ कर ॥ ४-परिवर्ताङ्कैः ॥ ५-प्रसक्ताम्, पूर्वोक्ताम् ॥ ६-प्रस्तारस्य विधिम् ॥ ७-द्वाभ्यां गाथाभ्याम् ॥ ८-अन्त्यादीन् ॥ ९-सदृशाङ्कस्थापनाम् ॥ १०-मुक्त्वा ॥ ११-क्रमेण उत्क्रमेण च ॥ १२- रक्षणीयम् ॥ १३-क्रियते इतिशेषः ॥

स्थाप्याः, ततः समयभेदकरमेकक त्यक्त्वा पञ्चकचतुष्कत्रिकद्विकाः तावतस्तावतो वारान् स्थाप्याः, जाता चतुर्थपंक्तिः सम्पूर्णा, अथ तृतीयपंक्तौ द्विकरूपः परिवर्ताङ्कः, ततः पञ्चकं चतुष्कञ्च समयभेदकरं मुक्त्वा त्रिकद्विकैककाः द्विद्विः स्थाप्याः, ततः पञ्चकं त्रिकञ्च मुक्त्वा चतुष्कद्विकैकका: द्विद्विः स्थाप्याः ततश्चतुष्कत्रिकैककाः, (१) ततः चतुष्कत्रिकद्विकाः, ततस्त्रिकद्विकैककाः, ततः पञ्चकत्रिकैककाः, ततः पञ्चकत्रिकद्विका, एवमन्त्यादयोऽङ्काः समयभेद-करानङ्कान् मुक्त्वा द्विद्विः स्थाप्याः, तावद् यावत् सम्पूर्णा तृतीया पंक्तिः स्यात्, आदिपंक्तिद्वये च शेषावङ्कौ पूर्वभङ्गे क्रमात् (२) द्वितीयभङ्गे तूत्क्रमात् (३) स्थाप्यौ, यावद् द्वे अपि पंक्ती सम्पूर्णे स्याताम् ॥१२॥१३॥

दीपिका—अब दो गाथाओंके द्वारा परिवृत्तों से (४) प्रस्तुत [५] प्रस्तार की युक्ति [६] को कहते हैं:—

अपने २ परिवर्ताङ्कके प्रमाण अर्थात् जितनी उन की संख्या है, उतने वार पश्चानुपूर्वीके द्वारा प्रथम पंक्तियों में अन्त्य (७) आदि (८) अङ्कों को नीचे २ रक्खे, परन्तु समयभेद (९) को छोड़ दे (उक्त अङ्कों को वहां तक रक्खे) जहां तक कि सब भङ्गों की संख्या पूरी हो जावे, हां यह विशेषता है कि—प्रथम दो पंक्तियों में अर्थात् पहिली और दूसरी पंक्ति में शेष दो अङ्कों को क्रम और उत्क्रम से](१०) रखना चाहिये, पांच पदों को मान कर भावना (११) दिखलाई जाती है, जैसे देखो ! यहां पर अन्तिम (१२) पंक्ति पांचवी है, तथा उसमें परिवर्ताङ्क २४ है, इसलिये २४ वार पांच रूप अन्तका अङ्क रखना चाहिये, इसके पश्चात् चार, तीन, दो, एक, इन अङ्कों को क्रमसे चौवीस चौवीस वार नीचे २ रखना चाहिये, वहांतक जहांतक कि सब भङ्गों की संख्या १२० पूरी हो जावे, इस के पश्चात् चौथी पंक्ति में परि-वर्ताङ्क छः है, अतः (१३) समयभेद को करने वाले अन्त्य भी पञ्चकको छोड़कर चार, तीन, दो, एक, को छः छः वार रखना चाहिये, पीछे छः छः वार पांच को रखना चाहिये, इस के पश्चात् समयभेदकारी (१४) चार को छोड़ कर

१-स्थाप्याः 'इतिशेषः, एवमग्रेऽपिज्ञेयम् ॥ २-क्रमेण ॥ ३-उत्क्रमेण ४-परिवर्ताङ्कों ॥ ५ कहे हुए ॥ ६ रीति विधि ॥ ७-आखिरी ॥ ८-आदि शब्द से अन्त्य से पूर्व २ को जानना चाहिये ॥-९ सदृश अङ्कों की स्थापना ॥ १०-क्रम को छोड़ कर ॥ ११-उदाहरण, घटना ॥ १२-पिछली ॥ १३-इसलिये । १४-समयभेद (सदृशाङ्कस्था-पना) को करनेवाले ॥

तीन, दो, एक, को छः छः वार रखना चाहिये, इसके पीछे समयभेदकारी तीन को छोड़कर पांच चार तीन दो एक को छ; छः वार रखना चाहिये इसके पीछे समयभेदकारी द्विकको छोड़ कर पांच, चार, तीन, और एक को छः छः वार रखना चाहिये, इसके पश्चात् समयभेदकारी एक को छोड़ कर पांच, चार, तीन और दो को उतनी ही उतनी वार रखना चाहिये ऐसा करने से चौथी पंक्ति पूरी हो गई, अब तीसरी पंक्ति में परिवर्ताङ्क दो हैं, इसलिये समयभेदकारी (१) पांच और चार को छोड़ कर तीन, दो और एक को दो दो वार रखना चाहिये, इस के पश्चात् पांच, और तीन को छोड़ कर चार, दो, और एक, को दो दो वार रखना चाहिये, इस के पश्चात् चार तीन, और एक को रखना चाहिये, इसके पीछे चार तीन और दो को रखना चाहिये, इस के पश्चात् तीन दो और एक को रखना चाहिये, इस के पश्चात् पांच, तीन, और एक को रखना चाहिये, इस के पश्चात् पांच, तीन और दो को रखना चाहिये, इस प्रकार समयभेदकारी अङ्कों को छोड़ कर अन्त्यादि (२) अङ्कों को वहां तक दो दो वार रखना चाहिये कि जहां तक तीसरी पंक्ति पूरी हो जावे तथा आदि की दो पंक्तियों में शेष दो अङ्कों को पूर्वभङ्ग में क्रम से तथा दूसरे भङ्गमें उत्क्रम से (३) वहां तक रखना चाहिये कि जहां तक दोनों पंक्तियां पूरी हो जावें ॥१२॥१३॥

मूलम्-जंमि अ निक्खित्तेखलु, सोचेवहविज्ज अङ्कविन्नासो॥
सो होइ समय भेओ, वज्जे अव्वो पयत्तेण॥१४॥

संस्कृतम्—यस्मिंश्च निक्षिप्ते खलु, स चैव भवेदङ्क विन्यासः॥
स भवति समयभेदः, वर्जनीयः प्रयत्नेन॥१४॥

भावार्थ—जिस का निक्षेप(४) करनेपर वही अङ्कविन्यास (५) हो जावे वह समय भेद होता है; (६) उसे प्रयत्न के साथ छोड़ देना चाहिये ॥१४॥

स्वोपज्ञवृत्ति—समयभेदस्वरूपमाह ॥१४॥

१-समयभेद को करने वाले ॥ २-अन्त्य से लेकर पूर्व पूर्व ॥३- क्रम को छोड़ कर ॥ ४-स्थापन ॥ ५ अङ्करचना, अङ्कस्थापना ॥ ६ तात्पर्य यह है कि जिस अङ्क के रखने पर समान (एकसी) अङ्कस्थापना हो जावे, इसीका नाम समय भेद है ॥

दीपिका-(चौदहवीं गाथा में) समय भेद का स्वरूप कहा है ॥१४॥

मूलम्--नट्ठंको भाइज्जइ, परिवट्टेहिं इहंतिमाईहिं ।
लद्धाअंताइगया,तयग्गिमं जाण नट्ठंतु ॥१५॥
इगसेसं सेसंका, ठाविज्ज कमेण सुन्न सेसंमि ॥
लद्धंकुरु इगहीणं, उक्कमओ ठवसु सेसंके॥१६॥

संस्कृत-नष्टाङ्कोभज्यते, परिवर्त्तैः इहान्तिमादिभिः ॥
लब्धाअन्त्यादिगताः, तदग्रिमंजानीहिनष्टं तु॥१५॥
एकशेषेशेषाङ्काः, स्थाप्याः क्रमेणशून्यशेषे ॥
लब्धंकुर्वेकहीनम्, उत्क्रमतः स्थाप्याःशेषाङ्काः ॥१६॥

भावार्थ-यहां पर अन्त्यादि (१) परिवर्त्तों का नष्टाङ्क (२) में भाग दिया जाता है, जो लब्ध (३) होते हैं; वे अन्त्यादि गताङ्क कहे जाते हैं; उनसे अग्रिम (४) को नष्ट जानना चाहिये ॥१५॥

एक के शेष रहने पर शेष अङ्कों की (प्रथम आदि पंक्तियों में) क्रमसे स्थापना करनी चाहिये, यदि शून्य शेष रहे तो लब्धाङ्क को एक हीन करदो (५) और शेष अङ्कों की उत्क्रम (६) से स्थापना करदो ॥१६॥

स्वोपज्ञवृत्ति—अथ नष्टानयने (७) करणमाहः—

नष्टाङ्को नष्टस्य रूपस्य संख्याङ्कः सोऽन्त्यादिभिः परिवर्त्ताङ्कैर्भज्यते यल्लभ्यते तदङ्कसंख्या अन्त्यादयोऽङ्काः गता ज्ञेयाः कोऽर्थः (८)-नष्टरूपतः पूर्वं तावत्संख्या अन्त्यादयोऽङ्कास्तस्यां पङ्क्तौ परिवर्त्ताङ्कसंख्यावारान् स्थित्वा तत (९) उत्थिता इत्यर्थः, ततस्तेभ्यः पश्चानुपूर्व्या यदग्रेतनमङ्करूपं तन्नष्टं ज्ञेयम्, कोऽर्थः-तन्नष्टकथने तत्र तत्र पङ्क्तौ लेख्यमित्यर्थः, एवं क्रियमाणे यद्येकः स्यात् तदा शेषरूपाणि लिखितरूपादवशिष्टानि क्रमेण स्थाप्यानि

१-अन्त्यसे पूर्व पूर्व ॥ २ नष्टरूप अङ्क ॥ ३ लब्धाङ्क ॥ ४-अगले ॥५-लब्धाङ्क में से एकको घटा दो ॥ ६-क्रम को छोड़कर ॥ ७-प्रक्रियाम् ॥ ८ इदन्तात्पर्यमित्यर्थः ॥ ९ तस्याः पंक्तेः ॥

प्रथमादिपंक्तिषु तथा यदि शेषं शून्यं स्यात् तदा लब्धोऽङ्क एकेन हीनः कार्यः, तत एकहीनलब्धाङ्कसंख्या अन्त्यादयोऽङ्कास्तस्यांपंक्तौ गता ज्ञेयाः; पूर्वं स्थापिताः सम्प्रति उत्थिता (१) इत्यर्थः तेभ्यः पश्चानुपूर्व्या अग्रेतनं नष्टं रूपं ज्ञेयमिति प्राग्वत् लिखितनष्टरूपेभ्यः शेषा अङ्काः प्रथमादिपंक्तिषु उत्क्रमेण (२) लेख्याः ।

अत्र पञ्चपदीमाश्रित्योदाहरणं यथा—त्रिंशत्तमं रूपं नष्टम्; तत् कीदृशमिति केनापि पृष्टम्, ततोऽत्रत्रिंशदन्त्यपरिवर्त्तेन चतुर्विंशतिरूपेण भज्यते, (३) लब्ध एकः, शेषाः षट्, ततोऽत्र पञ्चमपंक्तौ पञ्चकरूपमेकं रूपं गतम्; कोऽर्थः—चतुर्विंशति वारान् स्थित्वा सम्प्रति पंक्तित उत्थितमित्यर्थः, तस्माच्च पश्चानुपूर्व्याऽग्रेतनं चतुष्करूपं नष्टं ज्ञेयम्; सम्प्रति वर्त्तते इत्यर्थः, अतः चतुष्को नष्टस्थाने पञ्चमपंक्तौ स्थाप्यः, तथा शेषस्य षट्कस्य चतुर्थपंक्तिसत्केन षट्करूपपरिवर्त्तेन भागे लब्ध एकः, शेषस्थाने शून्यम् ततो लब्धमेकहीनं क्रियते जातं लब्धस्थाने शून्यम्, ततश्चतुर्थपंक्तावद्याप्येकमपि रूपं गतं नास्ति, ततोऽन्त्यमेवपदञ्पञ्चकं रूपं नष्टं ज्ञेयम्, शेषा अङ्का एकद्विकत्रिका उत्क्रमेण स्थाप्याः, यथा ३२१५४ इदं त्रिंशत्तमं रूपं ज्ञेयम् । अथ द्वितीयमुदाहरणं यथा-चतुर्विंशतितमं रूप नष्टं तत् कीदृशमिति पृष्टे चतुर्विंशतेरन्त्यपरिवर्त्तेन २४ रूपेण भागे लब्ध एकः, शेषं शून्यम्, ततःपूर्वोक्तयुक्त्या (४) शून्यशेषत्वात् लब्धमेकहीनं (५) क्रियते; जातं लब्धस्थानेऽपि शून्यम्, ततः पञ्चमपंक्तावद्याप्येकमपि रूपं गतं नास्ति, ततोऽन्त्य एव पञ्चकरूपोऽङ्कः स्थाप्यः, शेषाङ्का एकद्विकत्रिकचतुष्का उत्क्रमात् (६) स्थाप्याः, यथा—४३२१५ इदं चतुर्विंशतितमं रूपम् । तृतीयमुदाहरणं यथा—सप्तनवतितमं रूपं नष्टम् ततः सप्तनवतेरन्त्यपरिवर्त्तेन २४ रूपेण भागे लब्धाश्चत्वारः; शेष एकः; अतः पञ्चमपंक्तावन्त्यादयश्चत्वारोऽङ्का गता ज्ञेयाः, तेभ्योऽग्रेतन एकको नष्टस्थाने लेख्य; एकशेषत्वात्शेषाङ्काः क्रमात् (७) लेख्याः; यथा २३४५१ इदं सप्तनवतितमं रूपम् अथ चतुर्थमुदाहरणं यथा—पञ्चाशत्तमं रूपं नष्टम्, ततः पञ्चाशतोऽन्त्यपरिवर्त्तेन २४ रूपेण भागे लब्धौ द्वौ, ततोऽन्त्यपंक्तावन्त्यादारभ्य द्वावङ्कौ गतौ, तदग्रेतनस्त्रिको नष्टस्थाने लेख्यः, तथा शेषस्य द्विकस्य

१ निष्क्रान्ताः ॥ २ क्रमं विहाय ॥ ३-त्रिंशतश्चतुर्विंशतेर्भागो दीयत इत्यर्थः, एवमग्रेऽपि विज्ञेयम् ॥ ४-पूर्वकथितरीत्या ॥ ५ एकेन हीनम् ॥ ६ उत्क्रमेण ॥ ७ क्रमेण ॥

चतुर्थपंक्तिपरिवर्त्तेन षट्करूपेण भागे किमपि न लभ्यते (१) ततोऽत्र चतुर्थपंक्तौ एकमपि रूपं गतं नास्ति; अतोऽन्त्यः पञ्चक एव नष्टस्थाने लेख्यः, ततस्तृतीयपंक्तौ शेषस्य द्विकस्य परिवर्त्तेन द्वयरूपेण भागे लब्ध एकः, शेषं शून्यम् ततो लब्धमेकहीनं क्रियते; जातं लब्धस्थाने शून्यम्, अतस्तृतीयपंक्तावेकमपि रूपं गतं नास्ति, ततः पञ्चकस्य चतुर्थपंक्तौ स्थापितत्वेन पुनः स्थापने समयभेदः (२) स्यादिति तं (३) मुक्त्वाऽन्त्योऽङ्कश्चतुष्क एव स्थाप्यः, शेषौ २१ रूपावुत्क्रमेण स्थाप्यौ, यथा २१४५३ इदम्पञ्चाशत्तमं रूपम् । पञ्चममुदाहरणं यथा पञ्चषष्टितमं रूपं नष्टम् ततः पञ्चषष्टेरन्त्यपरिवर्त्तेन भागे लब्धौ द्वौ, ततः पञ्चकचतुष्करूपौ द्वौ अङ्कौ गतौ, ताभ्यामग्रेतनस्त्रिको नष्टस्थाने लेख्यः, शेषाणां सप्तदशानां चतुर्थपंक्तिपरिवर्त्तेन भागे लब्धौ द्वौ पञ्चकचतुष्करूपावत्र द्वौ अङ्कौ गतौ तदग्रेतनस्त्रिकश्चेत् स्थाप्यते तदा समयभेदः (४) स्यादिति तं (५) मुक्त्वा द्विकः स्थाप्यः, शेषाणां पञ्चानां तृतीयपंक्तिपरिवर्त्तेन भागे लब्धौ द्वौ; शेष एकः, अत्रापि पञ्चकचतुष्कौ द्वौ गतौ, तदग्रेतनयोस्त्रिकद्वयोः स्थापने समयभेदः स्यादिति तौ (६) त्यक्त्वा एककः स्थाप्यः, एकशेषत्वात् शेषौ द्वौ अङ्कौ क्रमेण स्थाप्यौ, यथा ४५१२३ इदम्पञ्चषष्टितमं रूपम् तथा षष्ठमुदाहरणं यथासप्तमं रूपं नष्टम् तत्र सप्तानामन्त्यपरिवर्त्तेन चतुर्विंशत्या भागो नाप्यते, (७) ततोऽत्रैकमपि रूपं गतं नास्ति पञ्चक एव स्थाप्यः । अथ सप्तानां चतुर्थपंक्तिपरिवर्त्तेन षट्करूपेण भागे लब्ध एकः, शेषश्चैकः, तत एकोऽन्त्योऽङ्कोऽत्र गतः, "नट्ठुद्दिट्ठविहाणे" इत्यादिवक्ष्यमाणगाथया वर्जितत्वात् पञ्चमपंक्तिस्थितः पञ्चको गतमध्ये न गण्यते, ततोऽन्त्याङ्कोऽत्र चतुष्करूप एव गतः तदग्रेतनस्त्रिकश्च नष्टस्थाने लेख्यः, एकशेषत्वात् शेषा अंका क्रमेण लेख्याः, यथा १२४३५ । अथ सप्तममुदाहरणं—तत्र एकचत्वारिंशत्तमं रूपं नष्टम्, एकचत्वारिंशतोऽन्त्यपरिवर्त्तेन भागे लब्ध एकः, तत एकोऽन्त्योऽङ्कः पञ्चको गतः तदग्रेतनश्चतुष्को नष्टस्थाने लेख्यः, ततश्चतुर्थपंक्तिपरिवर्त्तेन ६ रूपेण शेषसप्तदशानां भागे लब्धौ द्वौ, नट्ठुद्दिट्ठेत्यादिगाथया वर्जितत्वाच्चतुष्कं टालयित्वा शेषावन्त्यादारभ्य द्वावङ्कौ पञ्चकत्रिकरूपौ गतौ, तदग्रे ततो

१ द्विके षट्करूपस्य भागासम्भवादित्यर्थः॥ २-सदृशाङ्कस्थापनाः॥ ३-पञ्चकम् ॥ ४-सदृशाङ्कस्थापना ॥ ५-त्रिकम् ॥ ६-त्रिकद्विकौ ॥ ७-न लभ्यते ॥

द्विकश्चतुर्थपंक्तौ लेख्यः, तथा शेषाङ्कपञ्चानां तृतीयपंक्तिपरिवर्त्तेन २ रूपेण भागे लब्धौ द्वौ, अत्रापि नट्ठुद्दिट्ठेत्यादिगाथारीत्या टालितत्वेन चतुष्कं त्यक्त्वा शेषौ द्वौ अंकौ पञ्चकत्रिकौ गतौ तदग्रे तनो द्विको नष्टस्थाने लिख्यते पर(१) मेवं समयभेदः स्यादिति तं (२) मुक्त्वा तृतीयपंक्तौ तदग्रेतन एकको लिख्यते, एकशेषत्वात् शेषावङ्कौ त्रिकपञ्चकौ क्रमेण लेख्यौ, यथा ३५१२४ इदमेकचत्वारिंशं रूपम् एवं सर्वोदाहरणेषु ज्ञेयम् ॥१५॥ ॥१६॥

दीपिका—अब नष्ट लाने के लिये क्रिया (३) को कहते हैंः—

नष्टाङ्क अर्थात् नष्ट रूप का जो संख्याङ्क है, उसमें अन्त्यादि (४) परिवर्ताङ्कों का भाग दिया जाता है, (भाग देने पर) जो लब्धाङ्क आता है, उसी अङ्कसंख्या के अनुसार अन्त्यादि अङ्कों को गत जानना चाहिये, तात्पर्य यह है कि नष्ट रूप से पहिले उतनी संख्या वाले अन्त्य आदि अङ्क उस पंक्ति में परिवर्ताङ्क संख्या (५) वार ठहर कर उस में से उठ गये, इसलिये पश्चानुपूर्वी के द्वारा उन से जो अगला अङ्क है उसे नष्ट जानना चाहिये तात्पर्य यह है कि नष्ट के कथन करने में उस पंक्ति में उसे लिखना चाहिये ऐसा करने पर यदि एक रहे तो शेष रूपों को अर्थात् लिखित रूपों से बचे हुए रूपों को प्रथम आदि पंक्तियों में क्रम से रखना चाहिये तथा यदि शून्य शेष रहे तो लब्धाङ्क में से एक घटा देना चाहिये इसके पश्चात् एक कम किये हुए लब्धाङ्क संख्या के अनुसार अन्त्यादि अंकों को उस पंक्ति में गत जानना चाहिये, तात्पर्य यह है कि-पहिले स्थापित किये गये थे परन्तु अब उठ गये, (६) पश्चानुपूर्वी के द्वारा उन से जो अगला अंक है उसे पूर्व लिखे अनुसार नष्ट रूप जानना चाहिये, तथा लिखित नष्ट रूपों से जो शेष अंक हैं उन्हें प्रथम आदि पंक्तियों में उत्क्रम (७) से लिखना चाहिये, यहां पर पांच पदों को मानकर उदाहरण दिया जाता है—जैसे देखो ! किसी ने यह पूछा कि तीसवां रूप नष्ट है वह कैसा है ? इस लिये यहां पर तीस में अन्त्य परिवर्त्त २४ का भाग दिया जाता है, ऐसा करने पर लब्धांक एक हुआ, शेष छः रहे, इसलिये यहां पर पांचवीं पंक्ति में एक रूप पांच गया

१-परन्तु ॥ २-द्विकम् ॥ ३ रीति, शैली । ४ 'अन्तसे लेकर पूर्व २ । ५-अर्थात् जो संख्या परिवर्ताङ्क की है उतनीवार । ६-चले गये । ७-क्रम को छोड़कर ॥

तात्पर्य यह है कि चौवीस वार ठहर कर इस समय पंक्ति में से उठ गया, अब पश्चानुपूर्वी के द्वारा उस से अगला अंक ४ नष्ट जानना चाहिये, तात्पर्य यह है कि इस समय है, इस लिये चार को नष्ट स्थान में पांचवीं पंक्ति में रखना चाहिये, अब शेष छः में चौथी पंक्ति वाले छः रूपपरिवर्तका भाग देने पर लब्धाङ्क, एक हुआ, शून्य शेष रहा, इसलिये लब्धाङ्क में से एक घटाया जाता है, अतः लब्ध के स्थान पर भी शून्य हो गया इसलिये चौथी पंक्ति में अबतक एक रूप भी नहीं गया है, इसलिये अन्तिम (१) पद पांच को ही नष्ट जानना चाहिये, शेष अङ्क एक दो और तीन उत्क्रम (२) से रखना चाहिये, जैसे ३२१५४ इस को तीसवां रूप जानना चाहिये।

अब दूसरा उदाहरण दिया जाता है—देखो ! चौवीसवां रूप नष्ट है वह कैसा है ? यह पूछने पर चौवीस में अन्त्य (३) परिवर्त्त २४ का भाग देने पर लब्धाङ्क एक आया शेष शून्य रहा, इसलिये पहिले कही हुई युक्ति से शून्य के शेष रहने से लब्धाङ्क में से एक घटा दिया तो लब्ध के स्थान में भी शून्य हो गया, इसलिये पांचवीं पंक्ति में अबतक एक भी रूप नहीं गया है इस लिये अन्तिम अंक पांच को ही रखना चाहिये, तथा शेष अङ्क एक दो तीन और चार को उत्क्रम से रखना चाहिये जैसे ४३२१५ यह चौबीसवां रूप है। अब तीसरा उदाहरण दिया जाता है-देखो ! सत्तानवे का रूप नष्ट है, इसलिये सत्तानवे में जो अन्त्य परिवर्त २४ है उसका भाग देने पर लब्धाङ्क चार आये, तथा एक शेष रहा, इस लिये पांचवीं पंक्ति में अन्त्य आदि (४) चार अंकों को (५) गत जानना चाहिये, उनसे अगले एक को नष्ट स्थान में लिखना चाहिये तथा एक शेष रहने से शेष अंकों को क्रम से लिखना चाहिये, जैसे २३४५१ यह सत्तानवे का रूप है। अब चौथा उदाहरण दिया जाता है—जैसे देखो ! पचासवां रूप नष्ट है, इस लिये पचास पंक्ति में अन्त्य परिवर्त २४ का भाग देनेपर लब्ध दो आये, इसलिये अन्त्य पंक्ति में अन्त्य से लेकर दो अंक (६) गये, उनसे अगले त्रिक को नष्ट स्थान में लिखना चाहिये, अब जो शेष द्विक है उस में चौथी पंक्ति के परिवर्त छः का भाग देनेपर कुछ भी लब्ध नहीं होता है, (७) इसलिये यहां चौथी पंक्ति

१-पिछले। २-क्रमको छोड़कर। ३-पिछले। ४-अन्त्य से लेकर ॥ ५-पांच, चार, तीन दो, इन अङ्कों को ॥ ६-पांच और चार ये दो अङ्क ॥ ७-क्योंकि दो में छः का भाग ही नहीं लग सकता है ॥

में एक भी रूप गत नहीं है, इसलिये अन्त्य पांच को ही नष्ट स्थान में लिखना चाहिये, इसके पश्चात् तीसरी पंक्तिमें शेष त्रिक में परिवर्त दो का भाग देने पर लब्ध एक आया तथा शून्य शेष रहा, इस लिये लब्ध में से एक घटा दिया तो लब्ध के स्थान में भी शून्य हो गया, इस लिये तीसरी पंक्ति में एक भी रूप गत नहीं है इसलिये पांच को चौथी पंक्तिमें रख चुके हैं, यदि उस को फिर रक्खें तो समयभेद [१] हो जावेगा; इसलिये उसे (२) छोड़ कर अन्त्य अंक चार को ही रखना चाहिये, शेष दो और एक को उत्क्रम से [३] रखना चाहिये, जैसे २१४५३ यह पचासवां रूप है। अब पांचवां उदाहरण दिया जाता है—देखो! पैंसठवां रूप नष्ट है, इस लिये पैंसठमें अन्त्य परिवर्त का (४) भाग देनेपर लब्धांक दो हुए, इसलिये पांच और चार ये दो अंक गये; उन से अगले त्रिक को नष्ट स्थान में लिखना चाहिये; शेष सत्रह में चौथी पंक्ति के परिवर्त (५) का भाग देनेपर लब्ध दो हुए; इसलिये यहां पर पांच और चार दो अंक गये उन से अगले त्रिक को यदि रक्खा जावे तो समय भेद (६) हो जावेगा; इसलिये उसे छोड़कर द्विक को रखना चाहिये, शेष पांच में तीसरी पंक्ति के परिवर्त का (७) भाग देनेपर लब्ध दो हुए; तथा एक शेष रहा; इस में भी पांच और चार दो गये, उन-से अगले तीन और दो की यदि स्थापना की जावे तो समय भेद होगा, इसलिये उन दोनों को (८) छोड़ कर एक को रखना चाहिये, तथा एक शेष रहने से शेष दो अंकों को क्रम से रखना चाहिये जैसे-४५१२३ यह पैंसठवां रूप है। तथा छठा उदाहरण यह है कि सातवां रूप नष्ट है, अब यहां पर सातमें अन्त्य परिवर्त २४ का भाग नहीं लग सकता है; इस लिये इसमें एक भी रूप गत नहीं है; इसलिये पांच को ही रखना चाहिये; इसके पीछे सात में चौथी पंक्ति के परिवर्त छः का भाग देने पर लब्ध एक आया और शेष भी एक रहा, इसलिये यहां पर एक अन्त्य अंक गया परन्तु "नट्ठुद्दिट्ठविहाणे„ इत्यादि वक्ष्यमाण (९) गाथा के द्वारा वह वर्जित [१०] है; इसलिये पांचवीं पंक्ति में स्थित पांचगत के बीचमें नहीं गिना जाता

१-सदृश अङ्कोंकी स्थापना ॥ २-पांच को ॥ ३-क्रम को छोड़कर ॥ ४-चौबीस का ॥ ५ छः का ॥ ६-सदृश अङ्कों की स्थापना ॥ ७-दो का ॥ ८-तीन और दो को ॥ ९-जिसका कथन आगे किया जावेगा ॥१०-निषिद्ध॥

है, अतः यहां पर अन्त्य अङ्क चार ही गत जानना चाहिये और उससे अगले त्रिक को नष्ट स्थान में लिखना चाहिये तथा एक शेष रहने से शेष अंकों को क्रम से लिखना चाहिये-जैसे १२४३५। अब सातवां उदाहरण दिया जाता है कि इकतालिसवां रूप नष्ट है। यहां पर इकतालीस में अन्त्य परिवर्त (१) का भाग देने पर लब्ध एक आया; इस लिये इस में एक अन्त्य [२] अङ्क पांच गया; अतः उस से अगले चार को नष्ट स्थान में लिखना चाहिये, इसके पश्चात् शेष समूह में चौथी पंक्ति के परिवर्त छः का भाग देनेपर लब्ध दो आये; अत; "नट्ठुद्दिट्ठ" इत्यादि गाथा के द्वारा वर्जित [३] होने के कारण चार को टाल कर अन्त्य से लेकर शेष पांच और तीन, इन दो अङ्कों को गत जानना चाहिये; इस लिये उन से अगले दो को चौथीं पंक्ति में लिखना चाहिये, अब जो पांच शेष हैं उनमें तीसरी पंक्ति के परिवर्त दो का भाग देने पर लब्ध दो हुए, यहां पर भी "नट्ठुद्दिट्ठ" इत्यादि गाथा की रीति से टालित [४] होने के कारण चार को छोड़ कर शेष पांच और तीन, ये दो अङ्क गये, इस लिये उनसे अगले दो को नष्ट स्थान में लिखना चाहिये; परन्तु ऐसा करने पर [५] समयभेद [६] हो जावेगा, इसलिये उसे [७] छोड़ कर तीसरी पंक्ति में उस से [८] अगला एक लिखा जाता है; तथा एक शेष रहने के कारण शेष तीन और पांच इन दो अङ्कों को क्रम से लिखना चाहिये, जैसे ३५१२४ यह इकतालीसवां रूप है। इसी प्रकार से सब उदाहरणों में जान लेना चाहिये ॥ १५॥१६ ॥

मूलम्-अंताइगया अंका, नियनियपरिवट्टताड़िया सव्वे॥
उद्दिट्ठभंगसंखा, इगेण सहिआ मुणे अव्वो ॥१७॥

संस्कृतम्-अन्त्यादिगतअङ्का, निजनिजपरिवर्तताडिताः सर्वे ॥
उद्दिष्टभङ्गसंख्या एकेन सहिता ज्ञातव्या ॥१७॥

भावार्थ—अन्त्यादि गत [९] सब अङ्कों का जब अपने २ परिवर्ताङ्कों से

१-चौबीस का ॥ २-पिछला ॥ ३-निषिद्ध ॥ ४-वर्जित ॥ ५-नष्ट स्थान में दो को लिखने पर ॥६-सदृश अंकोंकी स्थापना ॥७- दो को ॥८ -दो से ॥ ९-अन्त्यसे लेकर गये हुए ॥

गुणन [१] किया जाता है; तब उस में एक जोड़ देने से उद्दिष्ट भङ्ग की संख्या जान ली जाती है ॥१७॥

स्वोपज्ञवृत्ति—अथोद्दिष्टानयने करण [२] माह:—

यावतोऽङ्काः सर्वे पंक्तिष्वन्त्यादयो [३] गताः स्युः, कोऽर्थः [४] स्वस्वपरिवर्ताङ्कसंख्यावारान् वर्तित्वोत्थिताः स्युः, ते अङ्काः स्वस्वपरिवर्तैस्ताड़िता गुणिताः [५] पश्चादेकयुता उद्दिष्टभङ्गस्य संख्या स्यात्, उदाहरणं यथा २३४५१ इदं कतिथमिति केनापि पृष्टम्, अत्रान्त्यपङ्क्तौ दृष्ट एककः; अतोऽन्त्यादयः पश्चानुपूर्व्या पञ्चकचतुष्कत्रिकद्विकरूपाश्चत्वारोऽङ्का गताः, ततश्चत्वारः पञ्चमपंक्ति परिवर्तेन २४ रूपेण गुणिता जाता षण्णवतिः, तथा चतुर्थपंक्तौ दृष्टः पञ्चकः, अतोऽत्र गताङ्काभावः, तृतीयपंक्तौ दृष्टश्चतुष्कः, अत्र पञ्चको गतः स्यात् परं "नट्ठुद्दिट्ठ" इत्यादिगाथया वर्जितत्वात् (६) गतमध्ये न गण्यते; तेनात्रापि [७] गतांकाभावः, एवं द्वितीयपंक्तौ पञ्चकचतुष्कौ प्रथमपंक्तौ च पञ्चकचतुष्कत्रिका गताः स्युः; परं वर्जितत्वेन गतांकेषु न गण्यन्ते, अतस्तत्रापि [८] गतांकाभावः, ततः षण्णवतिरेकयुता जाता सप्तनवतिः तत इदं सप्तनवतितमं रूपम्। तथा ३२१५४ इदं कतिथमिति पृष्टे-अत्रान्त्यपंक्तौ दृष्टश्चतुष्कः, तत एकः पञ्चकरूपोऽङ्को गतः, तत एकश्चतुर्विंशत्या परिवर्तेन गुण्यते, जाता २४, चतुर्थपंक्तौ पञ्चकस्य दृष्टत्वात् गतोऽङ्कः कोऽपि नास्ति, तृतीयपंक्तौ दृष्ट एककः "नट्ठुद्दिट्ठ" इत्यादिनाऽपोदितत्वात् [९] पञ्चकचतुष्कौ गतांकमध्ये न गण्येते; ततस्त्रिकद्विकरूपौ द्वावेव गतौ, तौ च स्वपरिवर्तेन द्विकरूपेण गुणितौ जाताश्चत्वारः, पूर्वं चतुर्विंशतिमध्ये क्षिप्ता जाता २८, द्वितीयपंक्तौ दृष्टो द्विकः; अत्रापि पञ्चकचतुष्कयोः प्राग्वद्वर्जितत्वात् (१०) एक एव त्रिकरूपोऽङ्को गतः, स स्वपरिवर्तेनैकरूपेण गुणितो जात एक एव, पूर्वोष्टाविंशतिमध्ये क्षिप्तः, जाता एकोनत्रिंशत्, प्रथमपंक्तौ तु प्राग्वत् पञ्चकचतुष्कयोर्वर्जितत्वेन गतोऽङ्कः कोऽपि नास्ति, एकोनत्रिंशदेकेन युता जाता त्रिंशत् तत इदं त्रिंशत्तमं रूपम्। तथा २३४१५ अयं कतिथो भङ्गः, इति

१-गुणा ॥ २-रीतिम् ॥ ३-अन्त्यादारभ्य ॥ ४-इदं तात्पर्यमित्यर्थः ॥ ५-गुणनमानीताः ॥ ६-निषिद्धत्वात् ॥ ७-तृतीयपंक्तावपि ॥ ८-द्वितीयप्रथमपङ्क्त्योरपि ॥ ९-वर्जितत्वात् ॥ १०-निषिद्धत्वात् ॥

केनापि पृष्टम्, अत्र अन्त्यपंक्तौ पञ्चकस्य दृष्टत्वात् कोऽपि गतांको नास्ति, चतुर्थपंक्तौ प्राक्तनरीत्या [१] पञ्चकस्य वर्जितत्वात् चतुष्कत्रिकद्विकरूपास्त्रयोऽङ्का गतास्ते च स्वपरिवर्तेन रूपेण गुणिताः १८, तृतीयपंक्तौ पञ्चकस्य वर्जितत्वात् गतोऽङ्को नास्ति, एवं द्वितीयप्रथमपंक्त्योरपि, ततोऽष्टादश एकयुता जाता १९ अयमेकोनविंशो भङ्गः। तथा २१४५३ अयं कतिथ इति पृष्टे, अत्रान्त्यपङ्क्तौ त्रिकस्य दृष्टत्वात् पञ्चकचतुष्करूपौ द्वौ अङ्कौ गतौ, ततो द्वौ स्वपरिवर्तेन २४ रूपेण गुणितौ जाता ४८, चतुर्थेऽङ्को पञ्चकस्य दृष्टत्वेन गतोऽङ्को नास्ति, तृतीयपंक्तावपि पञ्चकस्य प्रोक्तरीत्या वर्जितत्वात् न कोऽपि गतोऽङ्कः, द्वितीयपङ्क्तौ पञ्चकचतुष्कत्रिकाणामपोदितत्वात् (२) द्विकरूप एक एव गतोऽङ्कः स एकेन गुणितो जात एक एव, ४८ मध्ये क्षिप्तो जाता एकोनपञ्चाशत्, एकयुता जाता पञ्चाशत्, अयम्पञ्चाशत्तमो भङ्गः इति वाच्यम्, एवं सर्वत्र ज्ञेयम् ॥१०॥

दीपिका—अब उद्दिष्ट लाने के लिये क्रिया (३) को कहते हैं:—

सब पङ्क्तियों में अन्त्य आदि (४) जितने अङ्क गत हुए हों; अर्थात् अपने २ परिवर्त्ताङ्क की संख्या वार (५) रह कर उठ गये हों; उन अङ्कों में अपने २ परिवर्तों से ताड़न अर्थात् गुणन (६) किया जावे, पीछे उनमें एक जोड़ा जावे तो उद्दिष्ट भङ्ग की संख्या हो जावेगी, जैसे उदाहरण यह है कि—२३४५१ यह कौन सा रूप है ? यह किसी ने पूंछा, अब यहां पर अन्त्य पंक्ति में एक दीखता है; इसलिये पश्चानुपूर्वी के द्वारा अन्त्यादि पांच चार तीन और दो ये चार अङ्क गये हैं, इसलिये चार को पांचवीं पंक्ति के परिवर्त्त २४ से गुणा किया तो छयानवे हुए; तथा चौथी पंक्ति में पांच दीखता है; इसलिये इसमें (७) गताङ्क कोई नहीं है, तीसरी पंक्ति में चार दीखता है; यहां पर पांच गत हो सकता है; परन्तु "नट्ठुद्दिट्ठ" इत्यादि गाथा के द्वारा वर्जित होने से गतों के बीच में नहीं गिना जाता है, इसलिये यहां पर भी (८) गताङ्क कोई नहीं है; इसी प्रकार दूसरी पंक्तिमें पांच और चार तथा प्रथम पंक्ति में पांच चार और तीन, ये गताङ्क हो सकते हैं; परन्तु

१-पूर्वोक्तरीत्या ॥ २-निषिद्धत्वात् ॥ ३-रीति, शैली ॥ ४-अन्त्य से लेकर ॥ ५-परिवर्त्ताङ्क का जो संख्या है उतनी ही बार ॥ ६- गुणा ॥ ७-चौथी पंक्ति में ॥ ८-तीसरी पंक्तिमें भी ॥

वर्जित होने के कारण गताङ्कों में नहीं गिने जाते हैं; इसलिये इन में (१) भी कोई गताङ्क नहीं है इसलिये छयानवे में एक जोड़ा तो सत्तानवे हो गये इस लिये यह सत्तानवे का रूप है । तथा ३२१५४ यह कौन सा रूप है? यह पूछनेपर—यहांपर अन्त्य पंक्ति में चार दीखता है; इस लिये पांच रूप एक अङ्क गया; इस लिये एक का २४ परिवर्त्त से गुणा किया तो चौबीस हुए, चौथी पंक्ति में पांच दीखता है; इस लिये गत अंक कोई नहीं है, तीसरी पंक्ति में एक दीख पड़ता है; यहां पर "नट्ठुद्दिट्ठ" इत्यादि गाथा के द्वारा टालित होने के कारण पांच और चार, ये दोनों [अंक] गताङ्कोंमें नहीं गिने जाते हैं, अतः तीन और दो, ये दो ही अंक गये और दो का अपने परिवर्त्त दो से गुणा किया तो चार हुए, इन चार को पहिले चौबीस में मिला दिया तो अट्ठाईस हुए, दूसरी पंक्तिमें दो दीख पड़ता है यहांपर भी [२] पांच और चार पूर्ववत्[३] वर्जित [४] हैं,अतः (५) त्रिकरूप एक ही अंक गया,उसका[६] अपने परिवर्त्त एक के साथ गुणा किया तो एक ही हुआ, उसको पूर्व के अट्ठाईस में मिला दिया तो उनतीस हुए, पहिली पंक्ति में पूर्वानुसार पांच और चार वर्जित हैं, अतः गतांक कोई नहीं है; अब उनतीसमें एक जोड़ देने से तीस हो गये, इस लिये यह तीसवां रूप है । तथा २३४१५ यह कौन सा भङ्ग है? यह किसी ने पूछा, तो यहां पर अन्त्य पंक्ति में पांच दीखता है, अतः गतांक कोई नहीं है, चौथी पंक्ति में पहिली रीति से पांच वर्जित है; अतः चार तीन और दो, ये तीन अंक गये; उनको अपने परिवर्त्त छः से गुणा किया तो अठारह हुए, तीसरी पंक्ति में पांच वर्जित है; अतः गत अंक नहीं है; इसी प्रकार दूसरी और पहिली पंक्ति में भी [गतांक कोई नहीं है] इसलिये अठारह में एक जोड़ देने से उन्नीस हो गये, बस यह उन्नीसवां भङ्ग है । तथा २१४५३ यह कौन सा भङ्ग है? यह पूछने पर यहां पर अन्त्य पंक्तिमें तीन दीखता है; इसलिये पांच और चार, ये दो अङ्क गये, इस लिये दो को अपने परिवर्त्त २४ से गुणा किया तो अड़तालीस हुए, चौथी पंक्ति में पांच

१–दूसरी तथा प्रथम पंक्ति में भी ॥ २–दूसरी पंक्ति में भी ॥ ३–पहिले के समान ॥ ४–निषिद्ध ॥ ५–इस लिये ॥ ६–त्रिकरूपका ॥

दीखता है; इस लिये गताङ्क नहीं है, तीसरी पंक्ति में भी पहिले कही हुई रीति से पांच वर्जित [१] है; इस लिये गत अंक कोई नहीं है, दूसरी पंक्ति में पांच चार और तीन वर्जित हैं, इस लिये दो रूप एक ही अंक गया, उस को एक से गुणा किया तो एक ही हुआ, उसे अड़तालीस में जोड़ा तो उनचास हुए, उनमें एक जोड़ने से पचास हो गये, इसलिये कह देना चाहिये कि यह पचासवां भङ्ग है, इसी प्रकार सर्वत्र जानना चाहिये ॥ १७ ॥

मूलम्–नट्ठुद्दिट्ठविहाणे, जे अंका अंतिमाइ पंतीसु ।
पुव्वं ठविआ नहिते, गयंकगणणे गणिज्जंति॥१८॥

संस्कृतम्–नष्टोद्दिष्टविधाने ये अङ्का अन्तिमादिपंक्तिषु ॥
पूर्वं स्थापिता नहिते, गताङ्कगणने गण्यन्ते ॥१८॥

भावार्थ–नष्ट और उद्दिष्ट के विधान (२) में अन्तिम आदि (३) पङ्क्तियों में जिन अंकों की पूर्व स्थापना की है, वे गतांकों की गणना में नहीं गिने जाते हैं ॥१८॥

स्वोपज्ञवृत्ति–गतांकगणने (४) अपवादमाहः—

नष्टोद्दिष्टविधौ (५) येऽङ्काः पश्चानुपूर्व्या अन्त्यादिषु पङ्क्तिषु पूर्वं स्थापिता भवन्ति; ते गताङ्कसंख्यायां क्रियमाणायां संख्यायां टाल्यन्ते (६), ते हि (७) अन्त्यादिषु पङ्क्तिषु स्थितत्वेनापरपङ्क्तिषु अद्यापि नाधिकृता अतस्तान् टालयित्वा (८) गताङ्कानां संख्या कार्या इत्यर्थः, भावना (९) नष्टोद्दिष्टोदाहरणेषु कृता ॥१८॥

दीपिका–अब गतांकों की गणनामें अपवाद (१०) को कहते हैंः—

नष्ट और उद्दिष्ट की विधि में जो अंक पश्चानुपूर्वी के द्वारा अन्त्य आदि (११) पंक्तियों में पहिले स्थापित होते हैं वे (अङ्क) गतअङ्कों की संख्या करने में नहीं गिने जाते हैं, अन्त्य से लेकर अङ्कक्रम से आये हुये भी अङ्क संख्या करने में टाल दिये जाते हैं; क्योंकि वे अन्त्य आदि पंक्तियों में

१–निषिद्ध ॥ २–रचना ॥ ३–अन्तिम से लेकर पूर्व पूर्व ॥ ४–अपवाद निषेधम् ५–नष्टस्योद्दिष्टस्य च विधाने ॥ ६–वर्ज्यन्ते, मुच्यन्त इति, यावत् ॥ ७–हि, यतः ॥ ८–वर्जयित्वा ॥ ९–घटना ॥ १०–निषेध ॥ ११–अन्त्य से लेकर पूर्व पूर्व ॥

स्थित होने के कारण दूसरी पंक्तियों में अब तक अधिकृत (१) नहीं हैं; इस लिये उनको टाल कर (२) गताङ्कों की संख्या करनी चाहिये, यह तात्पर्य है, इस विषयकी भावना (३) नष्ट और उद्दिष्टके उदाहरणोंमें करदी गई है ॥१८॥

मूलम्--पढमाए इगकोट्ठो, उड्ढंअहोआययासु पंतीसु ॥
एगेगवड्ढमाणा, कोट्ठासेसासु सव्वासु ॥१९॥

संस्कृतम्—प्रथमायामेककोष्ठः, ऊर्ध्वाध आयतासु पंक्तिषु ॥
एकैकवर्धमानाः, कोष्ठाः शेषासु सर्वासु ॥१९॥

भावार्थ—ऊपर और नीचे आयत (४) पंक्तियोंके करने पर प्रथम पंक्तिमें एक कोष्ठ (५) होता है तथा शेष सब पंक्तियों में एकैक वर्धमान (६) कोष्ठ होते हैं ॥१९॥

स्वोपज्ञवृत्ति-अथ कोष्ठकप्रकारेण नष्टोद्दिष्टे आनिनीषुः (७) पूर्वं कोष्ठकस्थापनामाह:—

इहोर्ध्वाध आयताः कोष्ठकपंक्तयो रेखाभिः क्रियन्ते; तत्र प्रथमपंक्तौ एक एव कोष्ठकः, शेषपंक्तिषु पूर्वपूर्वपंक्तित उत्तरोत्तरपंक्तिषु (८) अधस्तात् संख्यैकवर्धमानाः (९) कोष्ठकाः (१०) कार्याः ॥१९॥

दीपिका—अब कोष्ठक के प्रकार से नष्ट और उद्दिष्ट के लाने की इच्छा से पहिले कोष्ठक स्थापनाको कहते हैं:—

इसमें ऊपर और नीचे विस्तीर्ण कोष्ठक पंक्तियां रेखाओं के द्वारा की जाती हैं; इसमें प्रथम पंक्तिमें एक ही कोष्ठक होता है, शेष पंक्तियों में पहिली २ पंक्तिसे अगली २ पंक्तियों में नीचे एक एक संख्या को बढ़ा कर कोष्ठक करने चाहियें ॥१९॥

मूलम्--इगुआइम पंतीए, सुन्ना अन्नासु आइ कोट्ठेसु ॥
परिवट्टाबीएसु, दुगाइगुणिआय सेसेसु ॥२०॥

संस्कृतम्—एक आद्यायां पंक्तौ, शून्यान्यन्यासु आदिकोष्ठेषु ॥
परिवर्त्ताद्वितीयेषु, द्विकादिगुणिताश्चशेषेषु ॥२०॥

१-अधिकारी ॥ २-छोड़कर ॥ ३-घटना ॥ ४-लम्बी, विस्तीर्ण ॥ ५-कोठा ॥ ६ एक एक बढ़ता हुआ ॥ ७-आनेतुमिच्छुः ॥ ८-पाश्चात्य पाश्चात्यपंक्तिषु ॥ ९-एकै-कसंख्यया वर्धमानाः ॥ १०-कर्त्तव्याः,विधेयाः ॥

भावार्थ—प्रथम पंक्ति में एक (रक्खो), अन्य पंक्तियों में आदि (१) कोष्ठों में शून्य (रक्खो), द्वितीय कोष्ठों में परिवर्त्ताङ्कोंको (रक्खो) तथा शेष कोष्ठों में द्विकादि गुणित (२) अङ्कों को (रक्खो) ॥२०॥

स्वोपज्ञवृत्ति—अथ कोष्ठकेषु अङ्कस्थापनामाह—

आदिमपंक्तौ प्रथमकोष्ठके एक एव स्थाप्यः, अन्यासु द्वितीयादिपंक्तिष्वाद्यकोष्ठकेषु शून्यान्येव स्थाप्यानि, द्वितीयेषु कोष्ठकेषु परिवर्त्ताङ्काः स्थाप्याः तथा तृतीयकोष्ठकेषु त एव (३) द्विगुणाः चतुर्थकोष्ठकेषु त एव त्रिगुणाः पञ्चमेषु चतुर्गुणाः षष्ठेषु पञ्चगुणाः सप्तमेषु षड् गुणाः अष्टमेषु सप्तगुणाः नवमे कोष्ठेऽष्टगुणाः, (४) कोष्ठकपंक्तिस्थापनायन्त्रकमिदं यथाः—

१	०	०	०	०	०	०	०	०
	१	२	६	२४	१२०	७२०	५०४०	४०३२०
		४	१२	४८	२४०	१४४०	१००८०	८०६४०
			१८	७२	३६०	२१६०	१५१२०	१२०९६०
				९६	४८०	२८८०	२०१६०	१६१२८०
					६००	३६००	२५२००	२०१६००
						४३२०	३०२४०	२४१९२०
							३५२८०	२८२२४०
								३२२५६०

॥२०॥

१–प्रथम॥ २–दो आदि अङ्कोंसे गुणाकिये हुए ॥३–परिवर्त्ताङ्क॥४–स्थाप्याः इतिशेषः॥

दीपिका—अब कोष्ठकों में अङ्कों की स्थापना को कहते हैं:—

पहिली पंक्ति में प्रथम कोष्ठक में एक ही रखना चाहिये, अन्य दूसरी आदि पंक्तियों में प्रथम कोष्ठकों में शून्यों को ही रखना चाहिये, दूसरे कोष्ठकों में परिवर्त्ताङ्कों को रखना चाहिये तथा तीसरे कोष्ठकों में उन्हीं को (१) द्विगुण करके रखना चाहिये, चौथे कोष्ठकों में उन्हीं को त्रिगुण करके रखना चाहिये, पांचवें कोष्ठकों में उन्हीं को (२) चौगुना करके रखना चाहिये, छठे कोष्ठकों में उन्हीं को पांच गुणा करके रखना चाहिये, सातवें कोष्ठकों में उन्हीं को छः गुणा करके रखना चाहिये आठवें कोष्ठकों में उन्हीं को सातगुना करके रखना चाहिये तथा नवें कोष्ठकमें उन्हीं को आठ गुना करके रखना चाहिये, कोष्ठक पंक्तियों की स्थापना का यन्त्र यह है ॥

१-परिवर्त्ताङ्कों को ही ॥ २—परिवर्त्ताङ्कों को ही (इसीप्रकार आगे भी जानना चाहिये) ॥

१	०	०	०	०	०	०	०	०
	१	२	६	२४	१२०	७२०	५०४०	४०३२०
		४	१२	४८	२४०	१४४०	१००८०	८०६४०
			१८	७२	३६०	२१६०	१५१२०	१२०९६०
				९६	४८०	२८८०	२०१६०	१६१२८०
					६००	३६००	२५२००	२०१६००
						४३२०	३०२४०	२४१९२०
							३५२८०	२८२२४०
।।२०।।								३२२५६०

मूलम्—पुव्वट्ठि अङ्के मुत्तु, गणि अब्वा अंतिमाइपंतीसु॥
कुट्ठाउ उवरिमाओ, आइंकाऊण लहु अंकं ॥२१॥

संस्कृतम्—पूर्वस्थितानङ्कान् मुक्त्वा, गणनीयमन्तिमादिपंक्तिषु ॥
कोष्ठादुपरितनात्, आदिं कृत्वा लघुमङ्कम् ॥२१॥

भावार्थ—पूर्वस्थित अङ्कों को छोड़ कर तथा लघु अङ्क को आदि करके (१)

१-लघु अङ्कसे लेकर ॥

ऊपर के कोष्ठसे अन्तिम आदि पंक्तियों में (१) गणना करनी चाहिये ॥२१॥

स्वोपज्ञवृत्ति -अथ नष्टोद्दिष्टविधौ कोष्ठेष्वङ्कगणनरीतिमाह:—

यथा प्राक् नष्टोद्दिष्टविधौ (२) पश्चानुपूर्व्या अन्त्यादिपंक्तिषु येऽङ्काः पूर्वं स्थिताः स्युः; ते गताङ्केषु न गण्यन्ते स्म; तथाऽत्रापि (३) तान् (४) मुक्त्वा लघुमङ्कमादिं कृत्वोपरितनकोष्ठकात् गणनीयम्, पश्चानुपूर्व्या नवाष्ट सप्तषट्पञ्चचतुरादिभिरङ्कैः कोष्ठका अङ्कनीया इत्यर्थः ॥२१॥

दीपिका—अब नष्ट और उद्दिष्ट के विधान में कोष्ठों में अंक के गिनने की रीति को कहते हैं:—

जिस प्रकार पहिले नष्ट और उद्दिष्ट की विधि में पश्चानुपूर्वी के द्वारा अन्त्य आदि पंक्तियों में जो अंक पहिले स्थित थे और वे गतांकों में नहीं गिने गये थे; उसी प्रकार यहां पर भी उनको (५) छोड़ कर लघु अंक को आदि करके ऊपरके कोष्ठ से गिनती करनी चाहिये, तात्पर्य यह है कि पश्चानुपूर्वी के द्वारा नौ, आठ, सात, छः, पांच और चार आदि अंकों से कोष्ठों को अंकित करना चाहिये ॥२१॥

मूलम्--अहवा जिट्ठमङ्कं आइं, काऊणमुत्तुठविअङ्के ॥
पंतीसुअंतिमाइसु, हिट्ठिमकोट्ठाउगणिअव्वं ॥२२॥

संस्कृतम्=अथवा ज्येष्ठमङ्कमादिं, कृत्वा मुक्त्वा स्थापितानङ्कान् ॥
पंक्तिष्वन्त्यादिषु, अधस्तनकोष्ठाद् गणनीयम् ॥२२॥

भावार्थ—अथवा ज्येष्ठ अङ्कको आदि करके (६) तथा स्थापित (७) अङ्कों को छोड़कर नीचेके कोष्ठ से अन्तिम आदि पंक्तियों (८) में गणना करनी चाहिये ॥२२॥

स्वोपज्ञवृत्ति—अथवा ज्येष्ठं ज्येष्ठमङ्कमादिं कृत्वाऽधस्तनकोष्ठकात् गणनीयम्, पूर्वानुपूर्व्या एकद्वित्रिचतुःपञ्चादिभिरङ्कैः कोष्ठका अङ्कनीया इत्यर्थः, नष्टाद्यानयने (९) अयमर्थः (१०) स्पष्टीभावी ॥ (११) ॥२२॥

१-अन्त्य से लेकर पूर्व पूर्व पंक्तियों में ॥ २-नष्टस्योद्दिष्टस्य च विधाने॥ ३-अस्मिन्नपिविधौ ॥ ४-पूर्वस्थितानङ्कान् ॥ ५-पूर्व में स्थित अङ्कों को ॥ ६-ज्येष्ठ अङ्कसे लेकर ॥ ७-रक्खे हुए ॥ ८-पूर्व अनेक बार आशय लिख दिया गया है ॥ ९-आदिशब्देनोद्दिष्टग्रहणम् ॥ १०-विषयः ॥ ११-स्पष्टीभविष्यति ॥

दीपिका—अथवा ज्येष्ठ ज्येष्ठ अङ्क को आदि करके नीचे के कोष्ठक से गिनती करनी चाहिये, तात्पर्य यह है कि—पूर्वानुपूर्वी के द्वारा एक दो तीन चार और पांच आदि अङ्कों से कोष्ठकों को अङ्कित करना चाहिये, नष्ट आदि के लाने के समय यह अर्थ (१) स्पष्ट हो जावेगा ॥२२॥

मूलम्--पइपंतिएगकोट्ठय,अङ्कग्गहणेणजेहिंजेहिंसिआ ॥
मूलइगंकजुएहिं, नट्ठंकोतेसुखिवअक्खे ॥२३॥

संस्कृतम्—प्रतिपंक्ति एककोष्ठकाङ्क,ग्रहणेन यैर्यैःस्यात् ॥
मूलैकाङ्कयुतैः, नष्टाङ्कस्तेषु क्षिपाक्षान् ॥२३॥

भावार्थ-प्रत्येक पंक्ति में एक कोष्टकाङ्क (२) के ग्रहण के द्वारा एक के जोड़ने पर जिन २ कोष्ठकाङ्कों तथा मूल पंक्तिके अङ्कोंके द्वारा नष्टाङ्क होजावे उन कोष्ठों में अक्षों को डालो ॥२३॥

स्वोपज्ञवृत्ति—अथ नष्टानयनमाहः—

इह प्रतिपंक्ति एकैक एव कोष्ठकाङ्को(३)ग्राह्य(४)ततो यैर्यैः कोष्ठकाङ्कैः परिवर्त्त सत्कै (५) मूलपंक्तिसत्कैक (६) युतैर्नष्टाङ्को नष्टभङ्गस्य संख्या स्यात्; तेषु तेषु कोष्ठकेषु अभिज्ञानार्थं (७) हे शिष्य ! त्वमक्षान् क्षिप स्थापय॥२३॥

दीपिका—अब नष्ट के आनयन (८) को कहते हैं: —

इसमें [९] प्रत्येक पंक्ति में कोष्ठक के एक एक अङ्कको ही लेना चाहिये; इस लिये कोष्ठ के परिवर्त्त में विद्यमान जिन २ अङ्कों के साथ मूल पंक्तिके एक जोड़ देने से नष्टाङ्क अर्थात् नष्ट भङ्ग की संख्या हो जावे; उन २ कोष्ठकों में अभिज्ञान (१०)के लिये हे शिष्य तुम अक्षोंको डालो अर्थात् स्थापितकरो ॥२३॥

मूलम्--अक्खट्ठाणसमाइं, पंतीसुअतासुनट्ठरूवाइं ॥
नेयाइसुन्नकोट्ठय, संखासरिसाइसेसासु ॥२४॥

१—विषय ॥२—कोष्ठक का अङ्क ॥३—कोष्ठकस्याङ्कः ॥४—ग्रहीतव्यः ॥५—परिवर्त्त रूपेण विद्यमानैः ॥ ६—मूलपंक्तिस्थेनकेन युक्तैः ॥ ७—अभिज्ञानं कर्त्तुम् ॥ ८—लाना ॥ ९—इस विधि में ॥ १०—पहिचान ॥

संस्कृतम्—अक्षस्थानसमानि, पंक्तिषु च तासु नष्टरूपाणि ॥
ज्ञेयानि शून्यकोष्ठक, संख्यासदृशानि शेषासु ॥२४॥

भावार्थ—उन पंक्तियों में अक्ष स्थान के समान नष्टरूप जानने चाहियें तथा शेष पंक्तियों में शून्यकोष्ठकसंख्याके समान नष्ट रूप जानने चाहियें ॥२४॥

स्वोपज्ञवृत्ति—अथ द्वितीयगाथार्थः कथ्यते:—

अक्षस्थानानि अक्षाक्रान्ताः (१) कोष्ठकाः, तैः समानि संख्यया तुल्यानि कोऽर्थः (२)—अक्षाक्रान्तकोष्ठकानां प्रथमो द्वितीयस्तृतीयश्चतुर्थः पञ्चम इत्यादि रूपा या संख्या; तासु पंक्तिषु नष्टरूपाणामपि सैव संख्या ज्ञेया, (३) यावति-थोऽक्षाक्रान्तः कोष्ठकः तावतिथं नष्ट रूपमित्यर्थः, शेषासु अक्षानाक्रान्तपंक्तिषु (४) शून्यकोष्ठकसंख्यातुल्यानि नष्टरूपाणि लेख्यानि, उदाहरणं यथा—त्रिंशत्तमो भङ्गो नष्टः स कीदृशः ? इति केनापि पृष्टम्, ततः पञ्चपदकोष्ठकयन्त्रके पञ्चमपंक्तिस्थः २४, तृतीयपंक्तिस्थः, द्वितीयपंक्तिस्थः १ अङ्के जाता २९, मूलपंक्तिस्थ १ युतत्वे (५) जाता (६) ३०, नष्टभङ्गस्य संख्या, ततोऽभिज्ञानार्थमेतेषु कोष्ठकेषु अक्षाः क्षिप्ताः, ततः पञ्चमपंक्तौ सर्वलघुं पञ्चकमादि कृत्वा पश्चानुपूर्व्या पञ्चमः चतुर्थ इत्यादिगणने अक्षाक्रान्तकोष्ठे स्थितश्चतुष्कः, ततः पञ्चमपंक्तौ नष्टस्थाने चतुष्को लेख्यः, चतुर्थी पंक्तिरक्षैर्नाक्रान्ता अतः सर्वेषु पञ्चकमादि कृत्वा गणने शून्यकोष्ठके स्थितः पञ्चक एव चतुर्थपंक्तौ नष्टस्थाने लेख्यः, तथा तृतीयपंक्तौ पञ्चकचतुष्कौ लघू अपि पूर्वं स्थापितत्वेन मुक्त्वा शेषं त्रिकमेव लघुमादि कृत्वा गणनेऽक्षाक्रान्ते कोष्ठके स्थित एकोऽतः स एव तृतीयपंक्तौ नष्टस्थाने स्थाप्यः, तथा द्वितीयपंक्तौ प्राग्वत् पञ्चक चतुष्कौ पूर्वं स्थितौ विमुच्य लघुं त्रिकमादिं कृत्वा गणनेऽक्षाक्रान्त स्थाने (७) स्थितो द्विकः स एव तत्र नष्टो लेख्यः, एवमाद्यपंक्तावपि त्रिकं लघुमादिं कृत्वा गणनेऽक्षाक्रान्ते (८) स्थितस्त्रिकः; स एव आद्यपंक्तौ नष्टो ज्ञेयः, इति जातस्त्रिंशत्तमो भङ्गः ३२१५४, एवं ज्येष्ठं ज्येष्ठमङ्क-

---

१—अक्षैर्युता ॥ २—इदं तात्पर्यमित्यर्थः ॥ ३—ज्ञातव्या ॥ ४—अक्षविरहितासु पंक्तिषु ॥ ५—मूलपंक्तिस्थेनैकेन योगे कृते सति ॥ ६—समुत्पन्ना, भूता ॥ ७— अक्षेण युते स्थाने ॥ ८—अक्षयुक्ते ॥

मादिं कृत्वाऽधस्तनकोष्ठकाद् गणनेऽपि ईदृशमेवेदं नष्टरूपमायाति, यथाऽन्त्य पंक्तौ सर्वज्येष्ठमेकमादौ कृत्वाऽधस्तनकोष्ठकाद् गणनेऽक्षाक्रान्तस्थाने स्थितश्चतुष्कः, ततः स एव तत्र नष्टो लेख्यः, चतुर्थपंक्तौ पूर्वं पञ्चमपंक्ति स्थापितं चतुष्कं टालयित्वा (१) अधस्तनकोष्ठात् सर्वज्येष्ठमेककमादिं कृत्वा गणनेऽक्षाक्रान्तत्वाभावात् (२) शून्यकोष्ठके स्थितः पञ्चक एव नष्टस्थाने लेख्यः, तृतीयपंक्तौ तथैव गणनेऽक्षाक्रान्तस्थाने स्थित एककः, अतः स एव तत्र नष्टो लेख्यः, द्वितीयपंक्तौ प्राग्वत् ज्येष्ठमप्येककं पूर्वं स्थापितत्वात् टालयित्वा शेषं ज्येष्ठं द्विकमादिं कृत्वा गणनेऽक्षाक्रान्तस्थाने स्थितो द्विकः स एव तत्र लेख्यः, आद्यपंक्तौ सर्वज्येष्ठौ एककद्विकौ पूर्वस्थापितत्वेन त्यक्त्वा ज्येष्ठं त्रिकमादौ दत्वा गणनेऽक्षाक्रान्तस्थाने स्थितस्त्रिकः, ततः स तत्रलेख्यः, ३२१५४ ईदृशं त्रिंशत्तमंरूपं ज्ञेयम्, अनयारीत्या सर्वनष्टरूपाणि ज्ञेयानि ॥२४॥

दीपिका—अब दूसरी गाथाका अर्थ कहते हैं:—

अक्षोंके स्थान अर्थात् अक्षोंसे आक्रान्त (३) जो कोष्ठक हैं उनके समान अर्थात् उनकी संख्याके तुल्य; तात्पर्य यह है कि अक्षोंसे आक्रान्त कोष्ठकों की पहिला, दूसरा, तीसरा, चौथा, और पांचवां इत्यादि रूप जो संख्या है वही संख्या उन पंक्तियों में नष्ट रूपों की भी जाननी चाहिये, आशय (४) यह है कि जौन सा अक्षाक्रान्त (५) कोष्ठक (६) है वही नष्ट रूप है, शेष पंक्तियों में अर्थात् अक्षों से अनाक्रान्त (७) पंक्तियों में शून्य कोष्ठक की संख्या के तुल्य नष्ट रूपों को लिखना चाहिये, उदाहरण यह है कि तीसवां भङ्ग नष्ट है वह कैसा है ? यह किसीने पूछा, इसलिये पांच पद के कोष्ठक के यन्त्र में पांचवीं पंक्तिमें २४ है, तीसरी पंक्तिमें चार है, दूसरी पंक्ति में एक है, इन अङ्कों को जोड़ने से उनतीस हुए तथा मूल पंक्ति का एक जोड़नेपर तीस हो गये, अर्थात् यह नष्ट भङ्ग की संख्या हो गई, इस लिये अभिज्ञान (८) के लिये इन कोष्ठकों में अक्षों को डाला, इसके पश्चात् पांचवीं पंक्तिमें सर्वलघु (९) पांच को आदि करके (१०) पश्चानुपूर्वीके द्वारा पांचवां चौथा इत्यादि गिननेपर अक्षाक्रान्त कोष्ठमें चार स्थित है; इसलिये

१-वर्जयित्वा ॥ २-अक्षैर्योगाभावात् ॥ ३-युक्त ॥ ४-तात्पर्य ॥ ५-अक्षसे युक्त ॥ ६-कोठा ॥ ७-रहित ॥ ८- पहिचान ९-सबसे छोटे ॥ १०-पांच से लेकर ॥

पांचवीं पंक्तिमें नष्ट स्थान में चारको लिखना चाहिये; चौथी पंक्ति अक्षों-से आक्रान्त (१) नहीं है; इसलिये सर्वलघु पांच को आदिमें करके गिनने पर शून्य कोष्ठक में स्थित पांच को ही चौथी पंक्तिमें नष्ट स्थान में लिखना चाहिये; तथा तीसरी पंक्ति में पांच और चार यद्यपि लघु हैं तो भी पूर्व स्थापित होनेसे उनको (२) छोड़कर शेष त्रिक [३] लघु [४] को ही आदि में करके गिनने पर अक्षाक्रान्त कोष्ठक में एक स्थित है, अतः उसी को तीसरी पंक्तिमें नष्ट स्थान में रखना चाहिये, तथा दूसरी पंक्तिमें पूर्ववत् [५] पहिले स्थित पांच और चार को छोड़कर लघुत्रिक को आदि में करके [६] गिनने पर अक्षाक्रान्त [७] स्थान में द्विक [८] स्थित है, इसलिये उसमें [९] उसीको [१०] नष्ट लिखना चाहिये, इसी प्रकार प्रथम पंक्ति में भी लघुत्रिक को आदिमें करके गिननेपर अक्षाक्रान्त स्थानमें त्रिक स्थित है; इसलिये प्रथम पंक्तिमें उसीको [११] नष्ट जानना चाहिये, इस प्रकार ३२१५४ यह तीसवां भङ्ग हो गया । इसी प्रकार ज्येष्ठ ज्येष्ठ अङ्क को आदि में करके [१२] नीचे के कोष्ठक से गिननेपर भी ऐसा ही नष्टका स्वरूप आ जाता है, जैसे देखो ! अन्त्य पंक्तिमें सर्व ज्येष्ठ [१३] एक को आदिमें करके [१४] नीचेके कोष्ठ से गिननेपर अक्षाक्रान्त स्थानमें चार स्थित है, इसलिये उसमें [१५] उसीको [१६] नष्ट लिखना चाहिये, चौथी पंक्ति में पहिले पञ्चम [१७] पंक्तिमें स्थापित [१८] चार को टालकर [१९] नीचेके कोष्ठ से सर्व ज्येष्ठ एकको आदिमें करके गिनने पर अक्षाक्रान्त न होनेसे शून्य कोष्ठकमें स्थित पांच को ही नष्ट स्थान में लिखना चाहिये, तीसरी पंक्तिमें उसी प्रकार गिनने पर अक्षाक्रान्त स्थानमें एक स्थित है; इसलिये उसीको वहां [२०] नष्ट लिखना चाहिये, दूसरी पंक्तिमें पहिले के समान पूर्व स्थापित [२१] होनेके कारण ज्येष्ठ भी एक को टाल कर शेष ज्येष्ठ द्विकको आदिमें करके गिनने पर अक्षाक्रान्त स्थानमें द्विक स्थित है; इसलिये उसीको [२२]

१-युक्त ॥ २-पांच और चार को ॥ ३-तीन ॥ ४-छोटे ॥ ५-पहिले के समान ॥ ६-लघुत्रिक से लेकर ॥ ७-अक्षसे युक्त ॥ ८-दो ॥ ९-अक्षाक्रान्त स्थानमें ॥ १०- द्विक को ही ॥ ११- त्रिकको ही ॥ १२-ज्येष्ठ ज्येष्ठ अङ्कसे लेकर १३-सबसे बड़े ॥ १४- एक से लेकर ॥ १५- अक्षाक्रान्त स्थानमें ॥ १६-चार को ही ॥ १७- पांचवीं ॥ १८-रक्खे हुए ॥ १९- छोड़कर ॥ २०- एक को ही ॥ २१- पहिले रक्खे हुए ॥ २२- द्विकको ही ॥

यहां [१] लिखना चाहिये; पहिली पंक्तिमें पूर्व स्थापित होनेके कारण सर्व ज्येष्ठ एक और द्विकको छोड़कर ज्येष्ठ त्रिकको आदिमें करके गिननेपर अक्षाक्रान्त स्थानमें त्रिक स्थित है; इसलिये उसे [२] वहां लिखना चाहिये, ३२१५४ ऐसा तीसवां रूप जानना चाहिये, इसी रीतिसे नष्ट के सब रूपों को जान लेना चाहिये ॥२४॥

मूलम्-उद्दिट्ठ भंग अंक, प्पमाण कोट्ठेसु संति जे अंका ॥
उद्दिट्ठ भंग संखा, मिलिएहिं तेहि कायव्वा ॥२५॥

संस्कृतम्-उद्दिष्टभङ्गाङ्क, प्रमाण कोष्ठेषु सन्ति येऽङ्काः ॥
उद्दिष्टभङ्गसंख्या, मिलितैस्तैः कर्त्तव्या ॥२५॥

भावार्थ—उद्दिष्ट भङ्गके अङ्कोंके प्रमाण कोष्ठों में जो अङ्क हैं उन सब को मिलाकर उद्दिष्ट भङ्ग की संख्या करनी चाहिये ॥२५॥

स्वोपज्ञवृत्ति—अथोद्दिष्टे करण [३] माहः—

उद्दिष्टो[४]यो भङ्गस्तस्य येऽङ्का नमस्कार पदाभिज्ञानरूपा एकद्वित्रिचतुरादिकाः; [५] तत्प्रमाणास्तत्संख्यास्तावतिथा इत्यर्थः, ये कोष्ठास्तेषु येऽङ्का परिवर्त्ताङ्का सन्ति; तैः सर्वैरेकत्र मिलितैरुद्दिष्टभङ्गस्य संख्या स्यात्, उदाहरणं यथाः ३२४१५ अयंकतियो भङ्ग इति पृष्टं केनचित्, अत्र पञ्चमपंक्तौ दृष्टपञ्चक, सर्वलघुं [६] पञ्चकमादौ दत्वा उपरि तनकोष्ठकाद् गणने [७] शून्यकोष्ठके स्थितः पञ्चकस्ततोऽत्रनकिञ्चिल्लभ्यते, चतुर्थपंक्तौ दृष्ट एककः पूर्वं पञ्चमपंक्तौ स्थितत्वेन पञ्चक,लघुंक्रमागतमपि [८] त्यक्त्वाचतुष्कं लघुमादौ दत्वागणने एकाक्रान्तकोष्ठकसत्का [९]लब्धाः१८,तृतीयपंक्तौ दृष्टः चतुष्कः प्राग्वत् (१०) पञ्चक त्यक्त्वालघुं चतुष्कमादौ दत्वा गणने चतुष्काक्रान्तकोष्ठकसत्कं [११] लब्धशून्यम्, द्वितीयपंक्तौ दृष्टोद्विकः, ततः प्रोक्तरीत्या पञ्चकचतुष्कौ लघू अपि त्यक्त्वा लघुं त्रिकमादौ दत्वा गणने द्विकाक्रान्तकोष्ठे लब्धएककः आद्यपंक्तौ दृष्टस्त्रिकः, ततः प्राग्वत् पञ्चकचतुष्कौ मुक्त्वा त्रिक-

---

१-अक्षाक्रान्त स्थान में ॥ २-त्रिक को ॥ ३-क्रियाम्, रीतिम् ॥ ४-कतिथ ॥ ५-आदिशब्देन पञ्चादि ग्रहणम् ॥ ६-सर्वेभ्यो लघुम् ॥ ७-गणनायां कृतायाम् ॥ ८-क्रमेणायातमपि ॥ ९-एककयुक्त कोष्ठस्थिताः ॥ १०-पूर्वरीत्या ॥ ११-चतुष्कयुक्त कोष्ठस्थितम् ॥

मादौ दत्त्वा गणने त्रिकाक्रान्ते कोष्ठे लब्ध एककः, सर्वं लब्धांकमीलने (१) जाता २०, ततोऽयं विंशतितमो भङ्गः ज्येष्ठं ज्येष्ठमंकमादौ कृत्वाऽधस्तन कोष्ठकाद् गणनेऽपीयमेव (२) संख्या, (३) यथा–पञ्चमपंक्तौ दृष्टः पञ्चकः, ततः सर्वज्येष्ठ (४) मेककमादौ कृत्वाऽधस्तन कोष्ठकाद् गणने पञ्चकाक्रान्त कोष्ठे(५)लब्धं शून्यम्, चतुर्थ पंक्तौ दृष्ट एककः, तं ज्येष्ठत्वादादौ कृत्वाऽधस्तन कोष्ठकाद् गणने लब्धा एककाक्रान्त कोष्ठेऽष्टादश, तृतीय पंक्तौ दृष्टश्चतुष्कः, सर्वज्येष्ठमप्येककं पूर्वस्थितत्वेनमुक्त्वा ज्येष्ठं द्विकमादौ दत्त्वाऽधस्तनको-ष्ठकाद् गणने चतुष्काक्रान्तकोष्ठे लब्धं शून्यम्, द्वितीयपंक्तौदृष्टो द्विकोऽत्रापि प्रोक्तरीत्या ज्येष्ठमेककं मुक्त्वा द्विकं ज्येष्ठमादौ दत्त्वा गणने द्विकाक्रान्त कोष्ठे लब्ध एकः, आद्यपंक्तौ ज्येष्ठौ एककद्विकौ मुक्त्वा त्रिकं ज्येष्ठमादौ दत्त्वा गणने त्रिकाक्रान्तकोष्ठे लब्ध एकः, एक लब्धाङ्कमीलने जाताविंशतिः, द्वितीयमुदाहरणं यथा–५४३२१ अयंकतिथ इति पृष्टे-अन्त्यपंक्तौ दृष्ट एकः, सर्वलघुं पञ्चकमादौ दत्त्वा उपरितन कोष्ठकाद् गणने एकाक्रान्त कोष्ठे ल-ब्धाषण्णवतिः, चतुर्थपंक्तौ दृष्टोद्विकः; प्राग्वद् (६) गणने द्विकाक्रान्त कोष्ठे लब्धा अष्टादश, तृतीयपंक्तौ दृष्टस्त्रिकः, प्राग्वद् गणने त्रिकाक्रान्त कोष्ठे लब्ध एकः, सर्वलब्धमीलने (७) जातं विंशत्युत्तरं शतम्, ततो विंशत्युत्तर शतसंख्योऽयम्भङ्गः इति वाच्यम्, एवं ज्येष्ठमङ्कमादौ दत्त्वाऽधस्तनकोष्ठ-केभ्यो गणनेऽपीयमेव (८) संख्या, (९) यथाऽन्त्यपंक्तौ दृष्ट एकः, सर्वज्येष्ठ-तमादौ दत्त्वा गणने एकाक्रान्तकोष्ठे लब्धाः ९६, चतुर्थपंक्तौ पूर्वस्थितत्वेन ज्येष्ठमेककं मुक्त्वा द्विकं ज्येष्ठमादौ दत्त्वा प्राग्वद् गणने [१०] द्विकाक्रान्त कोष्ठे [११]लब्धाः १८, एवं तृतीयपंक्तौ पूर्वस्थितावेकद्विकौ मुक्त्वा त्रिकमादौ दत्त्वा गणने तदाक्रान्ते[१२] लब्धाः ४, द्वितीयपंक्तावेककद्विक त्रिकान् ज्येष्ठा-नपि पूर्वं स्थितत्वेन मुक्त्वा शेषं ज्येष्ठं चतुष्कमादौ दत्त्वा गणनेलब्ध एकः, एवमाद्यपंक्तौ पञ्चकाक्रान्तस्थाने लब्ध एकः, सर्वमीलने[१३]जातम् १२०। अथ तृतीयमुदाहरणम्–१२३४५ अयं कतिथ इति पृष्ठे, सर्वलघुं [१४] पञ्चकमादिं

१–सर्वेषां लब्धङ्कानां संयोगे॥ २–पूर्वोक्तैव ॥ ३–भवतीति शेषः ॥ ४–सर्वेभ्यो ज्येष्ठम् ॥५–पञ्चकयुक्त कोष्ठे ॥६–पूर्वरीत्या ॥७–सर्वेषां लब्धानां संयोजने॥८–पूर्वो-क्तैव ॥ ९–भवतीति शेषः ॥ १०–गणनायांकृतायाम् ॥ ११–द्विकयुक्तकोष्ठे॥ १२–त्रि-काक्रान्ते ॥ १३–सर्वेषां संयोजने ॥ १४–सर्वेभ्यो लघुम् ॥

कृत्वा उपरितन कोष्ठाद् गणने पञ्चकाक्रान्त स्थाने लब्धं शून्यम्, एवं चतुर्थपंक्तौ पञ्चकं पूर्वस्थितं मुक्त्वा चतुष्कमादौ दत्त्वा गणने चतुष्काक्रान्ते लब्धं शून्यम्, तृतीयायां प्रोक्तरीत्या (१) त्रिकमादौ दत्त्वा गणने लब्धं शून्यम्, एवं द्वितीयायामपि, आद्यपंक्तौ शेषमेककमादौ दत्त्वा गणने एकाक्रान्त कोष्ठे लब्ध एकः, ततः प्रथमोऽयंभङ्गः, एवमधस्तन कोष्ठाद् गणने [२] यथा ज्येष्ठ-मेककमादौ दत्त्वाऽधस्तनकोष्ठाद् गणनेऽन्त्यपंक्तौ पञ्चकाक्रान्त कोष्ठे, चतुर्थपंक्तौ चतुष्काक्रान्तकोष्ठे, तृतीयपंक्तौ त्रिकाक्रान्तकोष्ठे, द्वितीयपंक्तौ द्विकाक्रान्त कोष्ठे च लब्धानि शून्यानि, आद्यपंक्तौ लब्ध एकः, ततः प्रथमोऽयम्भङ्गः एवं सर्वत्र ज्ञेयम् ॥२५॥

दीपिका–अब उद्दिष्ट की क्रिया को कहते हैं:—

उद्दिष्ट[३]जो भङ्ग है, उसके जो नमस्कार पदाभिज्ञान रूप अङ्क एक दो तीन और चार आदि[४]हैं, तत्प्रमाण अर्थात् तत्संख्या वाले अर्थात् उतने जो कोष्ठ हैं; उनमें जो अङ्क अर्थात् परिवर्त्ताङ्क हैं; उन सबको एकत्र मिला देने से उद्दिष्ट भंगकी संख्या हो जाती है उदाहरण यह है कि-३२४१५ यह कौनसा भङ्ग है? यह किसी ने पूछा, यहांपर पांचवीं पंक्ति में पांच दीखता है; अतः सर्व लघु (५) पांचको आदि में करके (६) ऊपर के कोष्ठ से गिनने पर शून्य कोष्ठक में पांच स्थित है; इसलिये यहां पर लब्ध कुछ नहीं होता है, चौथी पंक्तिमें एक दीखता है, पहिले पांचवीं पंक्ति में स्थित होनेके कारण क्रमागत(७) भी लघु पञ्चक को छोड़कर लघु चार को आदि में करके गिनने पर एक से आक्रान्त [८] कोष्ठक के लब्ध १८ हैं, तीसरी पंक्ति में चार दीखता है; यहां पर भी पूर्व के समान पांच को छोड़ कर लघु चार को आदि में करके गिनने पर चार से आक्रान्त कोष्ठकमें विद्यमान [९] शून्य लब्ध हुआ, दूसरी पंक्ति में द्विक दीखता है; इसलिये पूर्व कही रीति से लघु भी पांच और चार को छोड़ कर लघुत्रिक को आदि में करके गिनने पर दो से आक्रान्त कोष्ठ में लब्ध एक है, प्रथम पंक्ति में त्रिक दीखता है; इसलिये पूर्वानुसार पांच और चार को छोड़ कर तीन को आदि में करके गिनने पर त्रिक से आक्रान्त

१–कथितरीत्या ॥ २–गणनायां कृतायाम् ॥ ३–कथित ॥ ४–आदि शब्दसे पांच आदि को जानना चाहिये ॥ ५–सबसे छोटे ॥ ६–पांच से लेकर ॥ ७–क्रम से आये हुए ॥ ८–युक्त ॥ ९–स्थित ॥

कोष्ठक में लब्ध एक हुआ, सब लब्धाङ्कों को मिलाने पर बीस हुए, इस लिये यह बीसवां भङ्ग है, ज्येष्ठ ज्येष्ठ अङ्क को आदि में करके नीचे के कोष्ठक से गिनने पर भी यही संख्या हो जाती है, जैसे देखो ! पांचवी पंक्ति में पांच दीखता है; इस लिये सर्व ज्येष्ठ [१] एक को आदि में करके [२] नीचे के कोष्ठक से गिनने पर पांच से आक्रान्त (३) कोष्ठ में शून्य लब्ध हुआ, चौथी पंक्ति में एक दीख पड़ता है; ज्येष्ठ होने के कारण उसे (४) आदि में करके नीचे के कोष्ठक से गिनने पर एक से आक्रान्त कोष्ठक में अठारह लब्ध हुए, तीसरी पंक्ति में चार दीखता है; अतः पूर्वस्थित होने के कारण सर्व ज्येष्ठ भी एक को छोड़ कर ज्येष्ठ द्विक को आदि में देकर नीचे के कोष्ठक से गिनने पर चार से आक्रान्त कोष्ठ में शून्य लब्ध हुआ, दूसरी पंक्तिमें दो दीखता है; यहां पर भी पहिले कही हुई रीति से ज्येष्ठ एकको छोड़ कर द्विक ज्येष्ठ को आदि में देकर गिननेपर द्विकसे आक्रान्त कोष्ठ में एक लब्ध हुआ, प्रथम पंक्ति में ज्येष्ठ एक और दो को छोड़ कर त्रिक ज्येष्ठको आदि में देकर गिनने पर त्रिक से आक्रान्त कोष्ठ में एक लब्ध हुआ, एक लब्धाङ्क के मिलाने पर बीस हो गये, दूसरा उदाहरण यह है कि ५४३२१ यह कौथा है? यह पूछने पर अन्त्य पंक्ति में एक दीखता है, अतः सर्व लघु (५) पांच को आदि में देकर ऊपर के कोष्ठक से गिनने पर एकसे आक्रान्त कोष्ठ में ९६ लब्ध हुए, चौथी पंक्तिमें द्विक दीखता है; पूर्वानुसार गिननेपर द्विक से आक्रान्त कोष्ठमें अठारह लब्ध हुए, तीसरी पंक्तिमें त्रिक दीखता है; पूर्वानुसार गिनने पर त्रिक से आक्रान्त कोष्ठ में एक लब्ध हुआ, सब लब्धों के मिलाने पर एकसौ बीस होगये, इस लिये यह एकसौ बीसवां भङ्ग है, यह कह देना चाहिये, इसी प्रकार से ज्येष्ठ अङ्क को आदि में देकर नीचेके कोष्ठकों से गिनने पर भी (६) यही संख्या हो जाती है, जैसे देखो ! अन्त्य पंक्तिमें एक दीखता है; अतः सर्व ज्येष्ठ (७) उस (एक) को आदिमें देकर गिननेपर एक से आक्रान्त (८) कोष्ठमें ९६ लब्ध हुए, चौथी पंक्तिमें पूर्व स्थित होनेके कारण ज्येष्ठ एकको छोड़कर द्विक ज्येष्ठ को आदि में करके पूर्वानुसार गिनने पर द्विक से आक्रान्त कोष्ठमें

१-सबसे बड़े ॥ २-एकसे लेकर ॥ ३-युक्त ॥ ४-एक को ॥ ५-सबसे छोटे ॥ ६-पूर्वोक्त ही ॥ ७-सबसे बड़े ॥ ८-युक्त ॥

अठारह लब्ध हुए, इसी प्रकार तीसरी पंक्ति में पूर्वस्थित एक और दो को छोड़कर त्रिक को आदिमें देकर गिनने पर उससे (१) आक्रान्त स्थानमें चार लब्ध हुए, दूसरी पंक्तिमें पूर्वस्थित होनेके कारण ज्येष्ठ भी एक द्विक और त्रिक को छोड़कर शेष ज्येष्ठ चार को आदिमें देकर गिनने पर एक लब्ध हुआ, इसी प्रकार प्रथम पंक्तिमें पांच से आक्रान्त स्थान में एक लब्ध हुआ, सबको मिलाने पर एक सौ बीस हो गये। अब तीसरा उदाहरण दिया जाता है १२३४५ यह कौथा है ? यह पूछनेपर सर्वलघु (२) पांच को आदिमें करके (३) ऊपरके कोष्ठसे गिनने पर पांच से आक्रान्त स्थानमें शून्य लब्ध हुआ, इसी प्रकार चौथी पंक्ति में पूर्व स्थित पांच को छोड़कर चार को आदि में देकर गिनने पर चार से आक्रान्त (स्थान) में शून्य लब्ध हुआ, तीसरी (पंक्ति) में पहिले कही हुई रीतिसे तीन को आदिमें देकर गिनने पर शून्य लब्ध हुआ, इसी प्रकार से दूसरी (पङ्क्ति) में भी, (४) प्रथम पंक्तिमें शेष एकको आदि में देकर गिनने पर एकसे आक्रान्त (५) कोष्ठमें एक लब्ध हुआ, इसलिये यह प्रथम भङ्ग है। इसी प्रकार नीचेके कोष्ठक से गिनने पर भी (यही संख्या होती है) जैसे देखो ! ज्येष्ठ एक को आदिमें देकर नीचे के कोष्ठ से गिनने पर अन्त्य (६) पङ्क्ति में पांच से आक्रान्त कोष्ठमें, चौथी पंक्ति में चार से आक्रान्त कोष्ठमें, तीसरी पंक्तिमें तीनसे आक्रान्त कोष्ठमें तथा दूसरी पंक्ति में दो से आक्रान्त कोष्ठमें शून्य लब्ध हुए, प्रथम पंक्तिमें एक लब्ध हुआ; इसलिये यह प्रथम भङ्ग है, इसी प्रकार से सर्वत्र जान लेना चाहिये ॥२५॥

मूलम्—इय अणुपुव्विप्पमुहे, भंगे सम्मं वियाणिउं जोउ॥
भावेणगुणइ निच्चं, सो सिद्धिसुहाइं पावेइ ॥२६॥
जं छम्मासियवरिसिअ, तवेण तिव्वेण झिज्झए पावं ॥
नमुक्कार अणणु पुव्वी, गुणेण तयं खणद्धेण ॥२७॥

१-त्रिकसे ॥ २-सबसे छोटे ॥ ३-पांच से लेकर ॥ ४-" द्विकको आदि में देकर गिनने पर शून्य लब्ध हुआ" यह वाक्य शेष जानना चाहिये ॥ ५-युक्त ॥ ६-पिछली ॥

जो गुणइ अणाणुपुव्वी, भंगे सयले वियाणिऊण मणो ॥
दढ रोस वेरिएहिं, बद्धोवि समुच्चए सिग्घं ॥२८॥
एएहिं अभिमंतिअ, वासेणं सिरिसिरि वत्तमित्तेण ॥
साइणि भूअप्पमुहा, नासंति खणेण सव्वगहा ॥२९॥
अन्नेवि अउवसग्गा, रायाइ भयाइं दुट्ठरोगाय ॥
नवपय अणाणुपुव्वी, गुणणेणं जंति उवसामं ॥३०॥
तवगच्छ मंडणाणं, सीसो सिरिसोम सुंदर गुरूणं ॥
परमपय संपयत्थी, जं पइ नव पय थुयं एयं ॥३१॥
पञ्चनमुक्कार थुयं, एय सयं करंति संझमवि ॥
जोझाएइ लहइसो, जिणकितिअमहिमसिद्धि सुहं ॥३२॥

संस्कृतम्—एवमानुपूर्वी प्रमुखान् (१) भङ्गान् सम्यग् विज्ञाय यस्तु।
भावेन गुणति नित्यं, स सिद्धिसुखानि प्राप्नोति ॥२६॥
यत् पाण्मासिक (२) वार्षिक (३) तपसा तीव्रेण क्षीयते पापम्॥
नमस्कारानानुपूर्वी, गुणनेन (४) तकत् (५) क्षणार्द्धेन ॥२७॥
यो गुणत्यनानुपूर्वी, भङ्गान् सकलानपि सावधानमनाः(६) ॥
दृढरोष (७) वैरिभिः, बद्धोऽपि स मुच्यते शीघ्रम् ॥२८॥
एतैरभिमन्त्रित, वासेन श्रीश्रीवेष्टमात्रेण ॥
शाकिनीभूतप्रमुखा, नश्यन्ति क्षणेन सर्वग्रहाः ॥२९॥
अन्येऽपिचोपसर्गा, राजादिभयानि दुष्टरोगाश्च ॥
नवपदानानुपूर्वी, गुणनेन यान्त्युपशमम् ॥३०॥
तपागच्छमण्डनानां, शिष्यश्रीसोमसुन्दरगुरूणाम् ॥

१—आनुपूर्व्यादीन् ॥ २—षण्मासे भवं षाण्मासिकम् ॥ ३—वर्षे भवं वार्षिकम् ॥ ४—नमस्कारस्यानुपूर्व्या गुणनेन ॥ ५—तत् ॥ ६—सावधानमनो यस्य सः ॥ ७—दृढो रोषो येषान्ते दृढरोषाः एवम्भूतैर्वैरिभिः ॥

परमपदसम्पदर्थी जल्पति नवपदस्तुतमेतद् ॥३१॥
पञ्चनमस्कारस्तुतमेतत् स्वयं करोति संयतोऽपि ॥
यो ध्यायति लभते स, जिन कीर्तित महिमसिद्धि सुखम्(१) ॥३२॥

भावार्थ—इस प्रकार आनुपूर्वी (२) आदि भङ्गों को अच्छे प्रकार जान कर जो उन्हें भावपूर्वक प्रतिदिन गुणता है; वह सिद्धि सुखों को प्राप्त होता है ॥२६॥

जो पाप षाण्मासिक (३) और वार्षिक (४) तीव्र[५] तपसे नष्ट होता है वह पाप नमस्कारकी अनानुपूर्वी के गुणनेसे आधे क्षण में नष्ट हो जाता है ॥२७॥

जो मनुष्य सावधान मन होकर अनानुपूर्वी के सब ही भङ्गों को गुणता है वह अति रुष्ट (६) वैरियों से बांधा हुआ भी शीघ्र ही मुक्त हो जाता है ॥२८॥

इनसे अभिमन्त्रित श्री "श्रीवेष्ट" नामक वाससे शाकिनी और भूत आदि तथा सर्वग्रह एक क्षणभरमें नष्ट हो जाते हैं ॥२९॥

दूसरे भी उपसर्ग, (७) राजा आदि के भय तथा दुष्ट रोग नवपदकी अनानुपूर्वीके गुणनसे शान्त हो जाते हैं ॥३०॥

तपगच्छ के मण्डन रूप श्रीसोमसुन्दर गुरु के शिष्य ने परमपद रूप सम्पत्ति का अभिलाषी होकर इस नव पद स्तोत्र का कथन किया है ॥३१॥

इस पञ्च नमस्कार स्तोत्र को जो संयम में तत्पर होकर स्वयं करता है तथा जो इसका ध्यान करता है वह उस सिद्धि सुख को प्राप्त होता है कि जिसकी महिमा जिन भगवान् ने कही है ॥३२॥

सोपज्ञवृत्ति—आनुपूर्वीप्रभृतिभङ्गगुणने माहात्म्यमाह [८] ॥२६॥२७॥२८॥ ॥२९॥३०॥३१॥३२॥

एष श्री पञ्चपरमेष्ठिनमस्कार महामन्त्र; सकल समीहितार्थप्रापणकल्पद्रुमाभ्यधिकमहिमा, (९) शान्तिकपौष्टिकाद्यष्टकर्मकृत् (१०) ऐहिकपारलौ

१–जिनैः कीर्तितः (कथितः) महिमा यस्य तत्, एवम्भूत सिद्धिसुखम् ॥
२–आदि शब्द से अनानुपूर्वी और पश्चानुपूर्वी को जानना चाहिये ॥ ३– छः महीने के ॥ ४ वर्ष भर के ॥ ५–उग्र, कठिन ॥ ६–अति क्रुद्ध ॥ ७–उपद्रव ॥ ८–महत्त्वम् ॥
९–सकलानां समीहितार्थानांप्रापणे कल्पद्रुमादपि अभ्यधिको महिमा यस्य स तथा॥
१०–शान्तिक पौष्टिकादीनामष्टानां कर्मणां साधकः ॥

किकस्वाभिमतार्थसिद्धये (१) यथा श्री गुर्वाम्नायं (२) ध्यातव्यः ॥

श्रीमत्तपागगन(३)भास्करो (४) विनेयःश्रीसोमसुन्दरगुरोर्जिनकीर्ति सूरिः॥ स्वोपज्ञपञ्चपरमेष्ठिमहास्तवस्य । वृत्तिं व्यधाज्जलधिमन्दमनु[५]प्रमेऽब्दे (६)॥१॥

इति श्रीनमस्कारस्तवः सम्पूर्णः ॥

इतिश्री जिनकीर्तिसूरिविरचित नमस्कारस्तववृत्तिः ॥

दीपिका—आनुपूर्वी आदि [७] भङ्गों के गुणन का माहात्म्य [८] कहा है ॥२६॥२७॥२८॥२९॥३०॥३१॥३२॥

यह श्रीपञ्चपरमेष्ठि नमस्कार महामन्त्र है, सब मनोहित पदार्थों की प्राप्ति के लिये इसकी महिमा कल्पवृक्ष से भी अधिक है, यह (महामन्त्र) शान्तिक और पौष्टिक आदि आठ कार्यों को पूर्ण करता है, इस लोक और परलोक के अपने अभीष्ट [९] अर्थ की सिद्धि के लिये श्रीगुर्वाम्नाय से इसका ध्यान करना चाहिये ।

श्रीयुत तपागच्छ रूप आकाश में सूर्य के समान श्रीसोमसुन्दर गुरु के शिष्य जिनकीर्तिसूरिने संवत् १४९७ में श्रीपञ्चपरमेष्ठि महास्तोत्रकी इस स्वोपज्ञवृत्ति को बनाया ॥ १ ॥

यह श्रीनमस्कारस्तव समाप्त हुआ ॥

यह श्री जिनकीर्तिसूरि विरचित स्वोपज्ञवृत्ति के गूढ़ आशय को प्रकाशित करनेवाली जयदयाल शर्मा निर्मित दीपिका नाम्नी भाषाटीका समाप्त हुई ।

यह प्रथम परिच्छेद समाप्त हुआ ॥

१- ऐहिकानां पारलौकिकानाञ्च स्वाभीष्टानामर्थानां सिद्धये ॥२-श्रीगुर्वाम्नाय पूर्वकम् ॥३- गणोगच्छः ॥४- तपागच्छरूपे आकाशे सूर्यतुल्यस्य ॥५- जलधयः सप्त, मन्दानव, मनवश्चचतुर्दश, तेन १४९७ संख्या जाता, एतत्प्रमाणे ॥६- वर्षे ॥७- आदि शब्द से अनानुपूर्वी आदि को जानना चाहिये ॥८- महत्त्व ॥९-वांछित॥

अथ द्वितीयःपरिच्छेदः ।

पण्डित श्रीविनयसमुद्रगणि शिष्येण पण्डित गुणरत्न मुनिना संस्कृतभाषायायाम्प्रोक्ताः "णमोअरिहंताण" इत्याद्यपदस्य दशोत्तरशतमर्था भाषानुवादसहिता लिख्यन्ते ॥

अब पण्डित श्री विनय समुद्र गणिके शिष्य पण्डित गुणरत्न मुनिके संस्कृत में कहे हुए "णमो अरि हंताणं" इस प्रथम पद ११० के भाषानुवाद सहित लिखे जाते हैं ॥

(१) -श्रीविनय समुद्रगणिगुरुभ्यो नमः ॥

नमोअरहंताणं ॥

१—नमोऽर्हद्भ्यः, इति मुख्योऽर्थः ॥

२—अरयो वैरिणस्तेषां हन्तारोऽरि हन्तारः, सर्ववैरि विनाशकारकचक्रवर्तिन इत्यर्थः, तेभ्योनमोअस्तु, इति तत्सेवकवचः ॥

३—अथवा अरा विद्यन्ते यत्र तदरिचक्रं, तेनहन्तारो वैरिविनाशकारक चक्रवर्तिन इत्यर्थः, तेभ्योनमोऽस्तु ॥

४—हो जलं तस्यआगं रत्नं सरोवरमित्यर्थः, तद्वर्तते, किम्भूतं मोहो हर्ष-स्तस्य अरिरिवारिः शोकः, न विद्यते मोहारिः शोको यस्मात् तत्-मोहारि, नखादिगणान्नत्रोऽवस्थानं, प्रक्रियां नाति विस्तरामित्यादिवत्॥

५—अरिचक्रं हन्तिगच्छति प्राप्नोति, इति अरिहं, चक्रधरं, विष्णुं नम इति क्रियापदं पञ्चम्या (२) मध्यम पुरुषैक वचने, किम्भूतं विष्णुम्-आणं शरण भूतं तत्सेवकानाम्, ओ इति सम्बोधने ॥

६—हो जलं तस्मात्त नो विस्तार उत्पत्तिर्यस्य तत इताणं, कमलं वर्तते,

---

१- ग्रन्थकर्तुः कृतिरविकला लिख्यते भ्रमास्पद विषयेषु टिप्पण्यां [illegible] प्रदर्शितम् ॥ २—लोट् लकारस्य ॥

किम्भूतं नमोदालि—नमः प्रह्वीभावस्तेन उत्प्रबला उद्धता अलयो भ्रमरा यत्र एवं विधम्, अनुस्वाराभावश्चित्रत्वात्, रलयोरैक्यमुतस्मादेव [१] ॥

७—नमोअरि, नमंनमत् उदरं, नमोदरं नमोदरंविद्यते यस्य तन्नमोदरि, बुभुक्षाक्रान्तोदरं भिक्षाचर [२] वृन्दमित्यर्थः, तद्वर्तते, किम्भूतं हन्ताणं—हन्त शब्देन भिक्षा उच्यते, देशीभाषया हन्त भिक्षा; तया आणं जीवनं यस्य हन्ताणम् ॥

८— भो अ शब्देन प्रस्रवणम्, यदुक्तम् "अलहारो मो अ निंबाई" इति, प्रस्रवणस्य लिहः पानकारी, लिहींक आस्वादने तस्यैवं विधकष्टकर्तुरपि त्राण शरणं न स्यात्, त्राणं विनेत्युपस्कारः, (३)सोपस्काराणि सूत्राणि भवन्तीतिन्यायः ॥

९—मौकलिर्वायसः, तस्य हन्ता घातकः, तस्य आनं जीवनं न स्यात् लोके हि एवं रूढिर्वायसस्य भक्षकश्चिरजीवी स्यात्, तत्रायमर्थो न समर्थः तस्य हननेऽपि अधिकं जीवनं नैवेत्यर्थः ॥

१०—हन्ताणं—भानि नक्षत्राणि तेषां त्राणं रक्षणं यस्य, (४) सर्वनक्षत्रत्राता, चन्द्र इत्यर्थः, "पश्यत"इति क्रियाध्याहारः, चन्द्रं किम्भूतं नमोदारि (५) र्नो बुद्धि र्मोदो हर्षः, आरः प्रापणम्, आरो विद्यते यस्यस आरी, बुद्धिमोदयोरारी, शुभे चन्द्रे हि शुभा बुद्धिर्हर्षश्च प्राप्यते, (६) आरि इत्यत्रानुस्वाराभावो न दोषाय, चित्रत्वात्, ख घ थ ध भां हः इत्यादौ भकारस्य हकारः, क्वचिदादावपि भवतीति वचनात्, बाहुलकाद्वा ॥

११—त्राणं सत्पुरुषशरणं वर्त्तते, किम्भूतं—नमोदार्हं—नोज्ञानं मोदो हर्षस्तयोरर्हं योग्यम् ॥

१२—तानं वस्त्रम्, लोके हि तानकयोगाद्वस्त्रनिष्पत्तिः, कारणे कार्योपचारात्(७) तानं वस्त्रम्, किम्भूतं-नमो अरिहं(८)—नृणां मनुष्याणां मा शोभा तस्या उदर्हं भृशं योग्यम्, मनुष्य शोभाकारि इत्यर्थः ॥

१३—हन्त इतिखेदे, नमं नमत् कृशमुदरं यस्याः सा नमोदरी, कृशो-

१-चित्रत्वादेव ॥ २-भिक्षाचरा भिक्षुकाः॥३-अवशिष्टं पदम् ॥-४"यस्मात्" इतिभवितव्यम्॥५-वक्ष्यमाणव्युत्पत्त्या "नमोदारिणम्"इति भवितव्यम्॥ ६-"आरि" इत्यारभ्य "चित्रत्वात्" इत्यन्तः पाठो ग्रन्थकर्त्तुर्भ्रमास्पदः॥ ७-उपचारो व्यवहारः ॥ ८-"नृमोदार्हम्" इति संस्कृतमवगन्तव्यम्॥

दूरी स्त्री इत्यर्थः, सा आनम्-आसमन्तात् नं बन्धनम्, स्त्रियः सर्वत्र बन्धन रूपा इत्यर्थः ॥

१४—अरिहंताणम्-अर्हदाज्ञाम्प्रति नम प्रह्वीभव; इति शिष्यस्य कथनम्॥

१५—मः शिवः, शिव शब्देन मोक्षो ज्ञेयः, तस्योपरि हन्ता गन्ता न वर्त्तते, मुक्ते रुपरि अलोकसद्भावेन कस्यापि गमनं नास्ति, हनंक(१) हिंसा गत्यो-रिति गत्यर्थः ॥

१६—इह जगति अं परब्रह्म, तस्य तानं विस्तारम् उ अ पश्य, सर्व-स्मिन् जगति ब्रह्मैवास्तीति वेदान्तिमतम्, नमः विधाता, "मश्चन्द्रे विधौ शिवे," विधाता जगत्कर्त्ता कोऽपि तन्मते न वर्त्तते इत्यर्थः ॥

१७—न विद्यते रा द्रव्यं यस्य तत् अरि, निर्द्रव्यं कुलमित्यर्थः, तत् किम्भूतं(२)हताणं हो निवासस्तस्यातानं लाघवं यस्य तत्,निर्धनस्य गृहलाघवं स्यात्, तानो विस्तारः,अतानं लाघवम्, न मा इति निषेधद्वयं प्रकृत (३)मर्थं ब्रूते, ऊ इति पूरणे ॥

१८—तस्तस्करः, तस्य आ समन्तात् नं बन्धनम् किम्भूतं नमोत्परिघं भ्रमत् आरतः परतोऽपि चौरादिषु मिलन् उत्प्रबलः परिघोऽर्गला यत्र तदेव चौर बन्धनं स्यात् ॥

१९—अरि प्राप्नुवत् (४) हकारो यत्र, एतावता सकारस्तस्मात् अन्ता-नम् इति योज्यते, तदा सन्तानम्, (५) इति स्यात्, ततः संतानं (६) मा लक्ष्मीश्च ऊः रक्षणं न स्यात्, दुर्गतिपातत इति ॥

२०—अर्हन्तः सामान्यकेवलिन स्तेभ्यो नमः ॥

२१—ओ इति सम्बोधने, नं बुद्धिम्, अर्हन्तं प्राप्नुवन्तं, बुद्धिनिधानं कन्धिरणाम्, अत सातत्यगमने, अत (७) गत्यर्था ज्ञानार्था इति, स्वराणां स्वराः इत्याकारः, णं वाक्यालङ्कारे ॥

२२—अर्हद्भ्यः पूज्येभ्यो मातापितृप्रभृतिभ्यो (८) नमः ॥

२३—अर्हतः स्तुत्यान् सत्पुरुषान् नमः, स्नु ग(९)द्विषार्हः तृणत्र स्तुत्ये इति॥

१-पाणिनीय व्याकरणे हन धातुः॥ २-वक्ष्यमाणार्थविवक्षया "हाताणम्" इत्युप-न्यसनीयम्भवेत् ॥ ३-प्रसक्तम् ॥ ४-"अरो प्राप्नुवन्" इति भवितव्यम् ॥ ५-नियमेन "सान्तानम्"इतिभवितव्यम् ॥ ६-क्लीवत्वश्चि·त्यम् ॥७-अत इत्यस्यैवार्थः"जानीहि" इति ॥ ८-प्रभृति शब्देन गुर्वाचार्यादि ग्रहणम् ॥ ९-स्नु गित्यारभ्य स्तुत्ये इत्यन्तः सन्दिग्धः पाठः ॥

२४—नं ज्ञान मर्हतः प्राप्तान् (१) श्रुत केवलिनः च अ पश्य ॥

२५—नं ज्ञानं तस्य मा प्रामाण्यम्, ऊः धारणम्, तस्य अरिहं (२) योग्यम, ज्ञानप्रामाण्यधारिनं अनं त्वम् अण वद, अण रणेति दण्डक धातुः, तातावत् प्रक्रमे, अन्तेऽनुस्वारः प्राकृतत्वात् ॥

२६—अर्हः (३)प्राप्तोऽन्तो येः, एवंविधा "अणाणि" "अनन्तानुबन्धिनो यस्य तम, पदैकदेशे पदसमुदायोपचारात् सम्यग् दृष्टिपुरुषं क्षायिकसम्यक्त्ववन्तं नमः ।

२७—आणं भोजनभाजनमण्डनयोग्यं वस्तु, तन्नम, अन्तर्भूतणिगर्थत्वात् प्रह्वीकुरु, मण्डयेति भोजनकारि वचः, तत् किम्भूतम्—उतं सम्बद्धं लिहं भोजनं यस्मात् ॥

२८—"ताण" तृणसमूहो वर्त्तते, किम्भूतं नमं नमत् कुटीरप्रायं यत् ओको गृहं तस्याहं; तृणैराच्छाद्यते गेहमिति ॥

२९—तृणं वर्त्तते, किम्भूतं—मोदारिहं मोदो हर्षस्तत्प्रधाना अरयस्तान् हन्ति हिनस्ति मोदारिहं, नेति निषेधे, तृणमुखा (४) स्ते वैरिणो जीवन्तीत्यर्थः ॥

३०—ऋणं वर्त्तते, हन्त इति खेदे, किम्भूतं नमोदारि—न बुद्धिर्मोदो हर्षस्तस्यारिर्वैरिभूतं वर्त्तते, ऋणे सति बुद्धिहर्षौ नश्यत इत्यर्थः ॥

३१—नमो अरिहंताणं अरिभं रिपुनक्षत्रं, तत्र अतो गमनं यस्यसः, अत सातत्यगमने, एवं विधोमश्चन्द्रः नं बन्धनम् विग्रहमित्यर्थः, तम, णकारो निष्फले प्रकटे चेति वचनात् णं निष्फलं करोतीत्यध्याहारः (५)। अरि हन्ताणे प्रथमैक वचनस्य व्यत्ययोऽप्यासामिति वचनादपभ्रंशापेक्षया स्वम् जस् शसां लुगिति लुक, एवमन्यत्रापि ज्ञेयम् ॥

३२—भशब्देन राशिरप्युच्यते भवनमपि, ततोऽरिभं रिपुभवनं यदामश्चन्द्रो न आकः न प्राप्तः, तदा अणं सफलं स्यात्, कार्यमिति शेषः, षष्ठभवने चन्द्रस्त्याज्य इत्यर्थः ॥

३३—ता तावत्, अनः शकटं वर्त्तते, किम्भूतं नमो अरिहं नमोदरिहं

१- "अर्हतः" इति शतृ प्रत्ययान्तस्य पदस्य "प्राप्तान्" इत्यर्थश्चिन्त्यः ॥ २-प्राकृतं पदमव्यगतव्यम् ॥ ३-"अर्हः" इति पदस्य "प्राप्तः" इत्यर्थश्चिन्त्यः ॥ ४-तृण मुखे विधायेत्यर्थः॥ ५-"करोति" इति क्रियापदस्याध्याहारः कर्त्तव्य इत्यर्थः ॥

समं गमत् नीचैर्भवत् पुनः उत् उच्चैर्भवत्; एवं विधमरिचक्रं ताभ्यां (१) हन्ति गच्छति, शकटं हि चक्राभ्यां चलतीति ॥

३४—मः ईश्वरो वर्त्तते, किम्भूतः—अरहन्ता- अरं शीघ्रम्, हः कामस्तस्य हन्ता, यम् अलङ्कारे (२) ॥

३५—ता शोभा तत्प्रधानोऽक्षः शब्दः साधुशब्दो यशः न ओ नोऽहम्, ओजो बलं तस्य योग्यं न, बलेन यशो न स्यादित्यर्थः, मकारोऽलाक्षणिकः,(३) अक्षमित्यत्र लिङ्गमतन्त्र (४) मिति क्लीबत्वे न दोषः ॥

३६—अरमत्यर्थम्, इभान्तः, हस्तिविनाशी सिंहस्तस्य अक्षः शब्दः, सिंहनाद इत्यर्थः, तं त्वम् अय (५) प्राप्नुहि, इति सुभटस्योच्यते, यतोमूर्वन्धनं न स्यात्, स्वराणां स्वराः इत्योक्तरः ॥

३७—अजः छागे हरे विष्णौ रघजे वेधसि स्मरे इत्यनेकार्थवचनादज ईश्वरः, सोऽरिर्यस्य सः अजारिः कन्दर्पः, तस्य हन्तृभ्यो नीरागेभ्यो नमः ॥

३८—कस्यचिद्धनवतो धर्मपराङ्मुख(६) स्योच्यते--लिहींक् आस्वादने, लिहनं लिहः, बाहुलकाद्.भावे कः, न विद्यते लिहो यस्य अलिहमभक्ष्यम् त्वमज क्षिप, त्यजेत्यर्थः, अवतेर्वृद्ध्यर्थात् क्विपि ऊस्तस्यामन्त्रणं हे ओ, (७) धन वृद्ध, मा लक्ष्मीस्त्राणं शरणं न भवतीति विरतिरेव त्राणं स्यादित्यभक्ष्याद्यं त्यजेत्यर्थः ॥

३९—अजः छागस्तं लिहन्ति भक्षयन्तीति अजलिहाः, एवं विधास्ता स्तस्करास्तेषामन्तोचो मोक्षो न स्यात्; कर्म मुक्तिर्न स्यादित्यर्थः, मोचनं मोच इति घिमन्तादच् ॥

४०—मोचा कदली वर्त्तते, किम्भूता—लिहो भोज्यं तस्य ता शोभा यस्याः सा, भोज्ये सारभूता, न नेति निषेधद्वयं प्रकृतार्थम् ॥

४१—अर्हः पूजा, तस्या अन्तो विनाशो यस्यां सा अर्हान्ता, ईदृशी मा लक्ष्मीर्न भवतीति, लक्ष्मीःसर्वत्र पूजाम्प्राप्नोतीत्यर्थः, यमलङ्कारे ॥

४२—मातीति मः कश्चिद्धः, प्रमाणवेदी पुरुषः, किम्भूतः अजः परमात्मा

१–चक्राभ्याम् ॥ २–सन्दिग्धा व्याख्या ॥ ३–लक्षणेन सूत्रेणानिष्पन्नः ॥ ४–अतन्त्रमप्रधानम् ॥ ५–अय धातोरात्मनेपदित्वेन "अय" इति सन्दिग्धं पदम् ॥ ६–धर्मविमुखस्य ॥ ७–अवतेर्वृद्ध्यर्थात् क्विपि ऊः इति जाते सम्बुद्धौ "ओ" इति चिन्त्यम्पदम् संम्बुद्धौ ह्रस्वस्य गुण विधानात् ॥

तस्यारिर्निषेधकः, प्रतिवादीति यावत्, तस्य हन्ता निवारकः, परमेश्वरं यो न मन्यते तं वारयति, प्रमाणवेत्ता पुरुषः सर्वज्ञं स्थापयतीत्यर्थः, नम् द्वयं प्रकृत्यर्थे ॥

४३—अजः सर्वज्ञः, तस्य अर्हः पूजा ताम् अणति वदत्युपदिशति यस्तम्पुरुषं (१) नमोऽस्तु, पूजा स्थापकः पूजार्हः स्यादित्यर्थः ॥

४४—अन्तः स्वरूपे निकटे प्रान्ते निश्चय नाशयोः । अवयवेऽप्यथाऽर्हन् स्यात् पूज्ये तीर्थंकरेऽपि चेति, न; शिवोऽस्ति, किम्भूतः अर्हान्ताणः, अर्हं सर्वेषां योग्यम्; अन्तः स्वरूपं तस्याण उपदेष्टा, अण शब्दे, नश्च चन्द्रे विधौ शिवे, इत्येकाक्षर निर्घण्टुः, ईश्वरः सर्वपदार्थयथास्थितस्वरूपवादी न स्यात्, तदुक्ततत्त्वव्यभिचारात् ॥

४५—अजः छागस्तेन, ऋक् गतौ इयर्त्ति अजारी, छागवाहनो वह्निः, शीलार्थे इन्, तंहिट् गतिवृद्ध्योः, हाययति वर्धयतीति अजारिहः, वह्निवर्धकोऽग्नि होत्री यस्तम्पुरुषं नमोऽस्तु, इत्युपहासः, तं किम्भूतम्-ताणं तां शोभा नयति ताणः, वयमग्निहोत्रिण इत्यभिमानी ॥

४६—मोचा शाल्मलिकदल्योर्मोचः शिग्रौ इत्यनेकार्थः, मोचा शाल्मली, सांत्वंन अत, अत सातत्यगमने, मागच्छेति, यतः अलिहम् अलीनां भ्रमराणां हन् गमनं णं निष्फलं वर्तते, हनंक् (२) हिंसागत्योः, खिचिरूपम्, भ्रमराणां भ्रमणं निष्फलं सौरभरहितत्वात्, ततस्त्वं मागच्छेति मित्रस्योक्तिः ॥

४७—नमो० अरिभिर्हताणाम्-अष्टविधकर्मपीडितेभ्यो नमः, उपहास नमस्कारः ॥

४८—अरिहम् अर्हन् जिनस्तस्य त्राणं शरणं नमोचं ३) नमोच्यम् इति ॥

४९—अर्हन् तीर्थंकरस्तस्य त्राणं शरणं न मोच्यम् ।

५०—अरिमष्टविधं कर्म हतवन्तस्ते अरिहा. सिद्धास्तेषां शरणं न मोच्यमिति॥

५१—मोदारिः शोकस्तेन हतानांपीडितानां न मः शिवं न स्यात् ॥

५२—अरि हतानां बाह्यवैरिपीडितानां न मोदः हर्षो न स्यात् ॥

५३—अरि इत्यव्ययं सम्बोधने, हतेभ्यो निन्द्येभ्यो नम इत्युपहास्यम् ॥

१-"प्रति" इति विवक्षया द्वितीया ज्ञेया ॥ २-अन्यत्र "हन्" इतिधातुः ॥ ३-मोचमिति सन्दिग्धम्पदम् ॥

५४—अगाः पर्वतास्तेषामरिरिन्द्रस्तस्य ।ह्रो निवासः स्वर्गस्तस्यान्तः स्वरूपम्, अन्तः स्वरूपे निकटे इति वचनात्, तमणति वदति यस्तं प्रणाप मादि सिद्धान्तवेदिनं नमः। प्रणतोऽस्मीत्यर्थः, अवर्णो यश्रुतिरिति नयकारः लाघुलकात् अगारिरित्यत्र ॥

५५—णं त्वं पण्डितम्दुरूपंत्वमत जानीहि, अतसातत्यगमने, गत्यर्था ज्ञानार्थाः, किम्भूतं नमोर्हं प्रणामयोग्यम् ॥

५६—अरिहंताणम्-अर्हन्तीर्थंकरस्तस्य ऋणं कर्म (१) तीर्थंकर नामकर्मेत्यर्थः किम्भूतं न मो (२) नो ज्ञानं मः शिवं तयोः ऊः प्राप्तिर्यस्माद्यत् कर्मण्युदिते परमज्ञानं मोक्षश्च प्राप्यतएवेत्यर्थः ॥

५७—नमोत्तरी नमा नमन्ती ऊत् ऊर्ध्वं गच्छन्ती एव विधा नरी नौः, किम्भूता हान्ता-हं जलं तस्यान्तः प्रान्तो यस्याएवंविधा न स्यात्, जलप्रान्तं न गम्यते इत्यर्थः ॥

५८—ना पुरुषस्तस्य मो मस्तकः, किम्भूतः हतानः, हः शूलिनि करे नीरे इति वचनात् ह ईश्वरस्तस्य ता शोभा तां शोभामानयति वर्धयति, अरि सम्बोधने ॥

५९—अजं विष्णुं नम प्रह्वीभव, किम्भूतं हताऽनं हतमनः शकटं दैत्यो येन तम्, इजेः पाद पूरणे इति सूत्रात् इकारयुक्तो रेफः पादपूरणे ॥

६०—अणो रघुतनयः, अरि हन्ता सर्ववैरि विनाशी अभूत्, णम लङ्कारे मान इतिनिषेधद्वयं प्रकृतार्थम् ॥

६१—नमो अरहंताणं ॥ अयमपि पाठोऽस्ति, ताना एकोनपञ्चाशत्, तामङ्गी ततानं रह जानीहि, रहुगगतौ, गत्यर्थाश्चज्ञानार्थाः, तानं किम्भूतं न मोदं नृणाम्पुरुषाणां मोदो यस्मात् ॥

६२—अनेन पदेनानुयोग चतुष्टयं (३) व्याख्यायते-अरहंताणम् अर्हदाज्ञां न मोचय, मोचा शाल्मली मोचां करोति मोचयति, मध्यमपुरुषैकवचने मोचयेति सिद्धम्, शाल्मलितुल्यामसारां जिनाज्ञां मा कुरु, तत्स्वरूपांतां जानीहि, इति चरणकरणानुयोगः ॥

१—"ऋणं देये जले दुर्गे" इति वचनादृणशब्दस्य कर्मवाचकत्वे संशीतिः ॥ २—वक्ष्यमाण विग्रहेण "नमो इति पदस्य कर्मविशेषणत्वे संशीति रेव, क्लीवत्वे हृस्वेन भाव्यम् ॥ ३—द्रव्यानुयोगाद्यनुयोगचतुष्टयम् ॥

६३–अरहम् अरहन्तकं साधुं आयां शरणभूतं नमस्कुरु, पदैकदेशे पदसमुदायोपचारात् अरहम् अरहन्तकम्, इति धर्मकथानुयोगः ॥

६४–अथवास्ति प्रत्यये अहं हो आयंति अथ प्रयोगः, अणं मीणं पुरुष मोच; शिग्रुस्तस्य, र शब्देनरसो हन्ता घातको न भवति. क्षयरोगी पुरुषः शिग्रुरसेन नीरोगः स्यादिति तात्पर्यम् । देशे समुदायोपचारात् रशब्देन रसः नेयं (१) स्वमतिकल्पना, श्रीजिनप्रभासूरिभिरपि "पउमा भवासु पुज्जा" इत्यस्यां गाथायां चतुरनुयोगीं व्याख्यानयद्भिरेव (२) व्याख्यातम् पउ इति पौषः मा इति माघ; भ इति भाद्रपद; तत्र अव तति अवमरात्रे सतीत्यर्थः, असु इति असुभिक्षं दुर्भिक्षं स्यात् पुहत्ति पुहवी लोगो पुहवी . सोवा तस्य ज्या ज्यानिर्हानिः स्यादित्यर्थः इति द्रव्यानुयोगः ॥

६५–नमो अरि हंताणं अलि(३)वृश्चिकराशिस्तत्र हनंक् (४) हिंसागत्योः हन्ति गच्छतीति विचि अलिहन् वृश्चिकराशिगतो मयचन्द्रस्ताणां विपद्रक्षको न भवति वृश्चिकराशौचन्द्रस्य नीचत्वात् दौर्बल्यमिति गणितानुयोगः ।

६६–अलिः सुरापुष्पलिहोरित्यनेकार्थवचनादलिः सुरा, तां जहाति अलिहं सुरावर्जकम् सुराया उपलक्षणत्वात् मांसाद्यपि ग्राह्यम्, मद्यादिवर्जकम्, अन्तः स्वरूपं येषान्तानि अलिहान्तानि श्राद्धकुलानि, तेभ्योनमः उद्यमो भवतु, श्राद्धकुलानि उदितानि सन्तीत्यर्थः ॥

६७–कश्चिच्छ्लेषोक्तिः-हम् अहम्, रे रामविषये, नमोनमस्कारम् अताणम् अतन्वम्; कृतवान् इत्यर्थः, दशब्देनराम उच्यते, एकाक्षरमालायाम्, अतन्वमिति ह्यस्तन्युत्तमैकवचः, (५) अकारः पादपूरणे ॥

६८–कश्चिज्जैनो वक्ति अहं रामे नमः मातन्वम्, अकारोनिषेधे, अमानोनाः प्रतिषेधवाचकाः इतिमाला ॥

६९–नमो अरहंताणं॥ नं बन्धनं मीग् श्र बन्धने हिंसायाम्, मीनाति हिनस्ति डप्रत्ययेनमो बंधच्छोटको वन्दिमोक्षकरः, सवर्तते, किम्भूतः- अर हंता रो नरः न र; अरः, अमर्त्यो देवइत्यर्थः, अरान् देवान् भनक्तीति अरभन् (६)दैत्यः,तेभ्यः, तायृङ् संतानपालनयोः, तायते इति ताः क्विपि य्वोःक्वियिति

१–इयमपूर्वोक्ता ॥ २–व्याख्यानं कुर्वन्तिइति व्याख्यानयन्तस्तैः ॥ ३–रलयोरैक्येन अरिशब्देनालिर्गृहीतः ॥ ४–अन्यत्र "हन्" धातुः ॥ ५–लङि उत्तमपुरुषैक वचने रूपमित्यर्थः ॥ ६–क्विपि रूपम् ॥

भलोपे अरहंता, बन्दिमोक्षकरो मन्त्रमरायादिः पदार्थो दैत्यभयवारको भवति, यं पूरयो ॥

७०—न शब्देन ज्ञानं तच्च पञ्चसंख्यम् (१) एतावता नं पञ्चसंख्यया मं ज्ञानं यस्यस नमः, पञ्चमज्ञानवान् केवली, माङ्क् मान शब्दयोः, मीयते इतिमं ज्ञानं, बाहुलकाद्भावे ड प्रत्ययेसिद्धम्, केवली किम्भूतः अरहन् अरादेवास्तान् हन्तगच्छति प्राप्नोति अरहन्, देवसेव्य इत्यर्थः, प्राणिषट्कायरक्षकश्च ॥

७१—अम् अकारं रियन्तति हे अराः, रिंत्गतौ, (२) अकारप्रापकाः, हकारोऽन्ते येषान्ते हान्ताः, अकारादयो हकारान्ता वर्णा इत्यर्थः, नमोः नंज्ञानंमा शब्दः, माङ्क् मान शब्दयोः इति, तयोरीः अवगमनं भवति, अत्र धातुरवगमना (३) र्थेऽपि वर्तते, अवनमोः भावे क्विप्, अरहन्ताणम् इत्यत्रचतुर्थीज्ञेया, वर्णेभ्योज्ञानं शब्दावगमश्च स्यादित्यर्थः ॥

७२—त्राण शब्देन बृहत्पूपिकोच्यते जैनमुनिभाषया; येलोके मण्डका इति प्रसिद्धास्तेसाधूनां त्राणका इति, त्राणानां समूहस्त्राणम् समूहार्थेऽण् त्राणं किम्भूतं नमं नमत् उदरं यस्याः सा नमोदरा बुभुक्षा, तां भनक्तीतिक्विप् स्वराणां स्वरा इत्यकारः ॥

७३—मूको दैत्यावाग् दीनेषु इत्यनेकार्थसंग्रहः, मूकानां समूहो मौकम्, षष्ठ्याः समूहे इत्यण् रह त्यागे मौकं रहति मौकरहो न स्यात्, कः तां लक्ष्मीमानयतीति तानः, धनोपार्जकः दीनसमूहवर्जको न स्यात्, दीनसमूहं प्रीणयतीति स दीनैः सेव्यत इत्यर्थः ॥

७४—णः प्रकटे निश्चलेच प्रस्तुते ज्ञानबन्धयोरित्येकाक्षरवचनात्णो बन्धः, कर्मबन्ध इत्यर्थः, तं रहन्तस्त्यजन्तः पुरुषा नमोणाः स्युः, नमः नमस्कारं गच्छन्ति प्राप्नुवन्ति इति नमोगाः, नमस्काराहाः स्युः ॥

७५—णं ज्ञानं रहन्तः प्राप्नुवन्तः पुरुषाः न मोचः स्युः, नमन्तीति हे नाः प्रणामकारिणस्तान् मोचयन्ति संसारात्-नमोचः, णिगन्तात् क्विप् रहु गतौ रहन्त इत्यत्रानुस्वाराभावश्चिन्त्यत्वात् ॥

७६—नमो अरहंताणं नमि कौटिल्ये, नमनं नः कौटिल्यम्, अरंहन्तः

१-पञ्चभेदम् ॥ अत्र तु "अतनवम्" इतिरूपनिष्पत्तेश्चिन्त्यमतन्वमिति पदम् एवमग्रेऽपिज्ञेयम् ॥ २-अन्यच्च "रि" धातुः ॥ ३-गत्यर्थत्वादवगमनार्थेऽपिवर्तते इत्याशयः ॥

अप्राप्नुवन्तः पुरुषाः खं प्रकटं यथास्यात् (१) तथा अवन्ति दीप्यन्ते (२) इति क्विपि ऊः, (३) प्राकृतत्वाज्जस् लुक् स्यं जस् शसांलुक् अपभ्रंशे व्यत्ययश्चेति भाषाव्यत्ययात् प्राकृतेऽपि ॥

७७–मृदंकरोति खिजि अचि मः, कुम्भकारोऽस्ति, किम्भूतः अरिचक्रं तेन अंहते दीप्यते अरिहन्ता, सेर्लुक्, ननभवतीति भवत्येवेत्यर्थः, आः पाद पूरणे ॥

७८–मोक्कंकायिकीं रहंताणंत्यजतां परिष्ठापयतां (४) साधूनां नोभवति अविधिना त्यजतां नः कर्मबन्धः विधिनात्यजतां तु नो ज्ञानं स्यात्, इति-विवक्षयाऽ र्थद्वयम् ॥

७९–अथ चतुर्दशस्वप्न वर्णनम्॥ नमः प्रह्वीभावः, सौम्यत्वमिति यावत्, तेन अवति दीप्यते अवधातुरेकोनविंशत्यर्थेषु; (५) तत्र (६) दीप्त्यर्थोऽप्यस्ति, नमोचासौ करीहस्ती, सौम्यो गज इत्यर्थः, स दुःख हेतुत्वात् ऋणं दुःखम्, कारणे कार्योपचारात् (७) हन्ति विनाशयति, अणमित्यत्र स्वराणांस्वरा इत्या-त्वम्, हन्ताणम् इत्यत्र पदयोः सन्धिर्वेति सन्धौ अधो मन यां यलोपे सिद्धम्॥

८०—रहं रथं तानयति विस्तारयति स्थानात् स्थानान्तरं नयति, न वारिवकृदन्तेरात्रेरिति मोऽन्ते रथम्, ताणो वृषभः, तम् उअ पश्य, नमेति हे नम, नमतीति नमः, तत्सम्बुद्धिः ॥

८१—णहींच् (८) बन्धने, णह्यतेऽसि (९) भावे ड प्रत्यये णं बन्धनं तस्योप लक्षणादन्यापि पीडा ग्राह्या, तस्मात्(१०) मोचयति णमोग्, णिगन्तात् क्विप्, करिहन्ता सिंहः, णमोक् चासौ करिहन्ता च स तथा, केषाम् आणम् अर्णो अणी गत्यादानयोश्चेति चानुकृष्टशोभार्थादचेर्ड प्रत्यये अः शोभमानः पुण्य-वाजर इत्यर्थः, तेषामेवंविधः सिंहो दृष्टः, पीडा हर इत्यर्थः ॥

८२—ता लक्ष्मीस्तस्या आनं वर्णाच्युतकादासनं, (११) वर्त्तते, किम्भूतं नमोदरहं नमं नमत् उदरं हं जलं यत्रं तत्तथा, एकार्थञ्चानेकं चेति समासः,

---

१–क्रिया विशेषणम् ॥ २–अवन्ति" इत्यस्यैवार्थः "दीप्यन्ते" इति ॥ ३–अव्धातोः क्विपि ऊः इति रूपम्भवतीत्यर्थः ॥ ४–परिष्ठापनं कुर्वताम् ॥ ५–" वर्त्तते " इति शेषः ॥ ६–एकोन विंशत्यर्थेषु ॥ ७–ऋणं दुःखस्य कारणम्, कारणे च कार्योपचारो भवतीति ऋण शब्देन दुःखं गृहीत मित्यर्थः ॥ ८–अन्यत्र " णह् " धातुः ॥ ९–स-न्दिग्धोयम्पाठः ॥ १०–बन्धनात् ॥ ११–वर्णच्युतकादान शब्देनासनपरिग्रह इत्यर्थः ॥

आसनेस्थिता लक्ष्मीः स्वं जलेन सिञ्चति इति, लक्ष्म्या अभिषेकः स्वप्ने दृष्ट इति, तथा वर्णितम्, वर्णच्युतिश्च नैषधस्यादिकाव्ये—" तयाद्रियन्ते न बुधाः सुधामपी " त्यत्र सुधाशब्देन वसुधां व्याकुर्वता टीकाकारेण महाकविना दर्शिता ॥

८३—गज १ वृषभ २ सिंह ३ पद्मासन ४ स्रक् ५ चन्द्रर्दितपन ७ पताकाः ८ कुम्भा ९ म्भोज सरो १० ऽम्बुधि ११ विमान १२ रत्नोच्चया १३ ग्नयः १४ स्वप्नाः, (१) चतुर्दश स्वप्न नामानि, तत्र चत्वारि (२) व्याख्यातानि, अथ स्रक् व्याख्यायते—हं जलं तस्मात्तन्यते विस्तरति, उत्पद्यते इति यावत्, हंतं (३) कमलं कर्मकर्त्तरि डः, कमलस्योपलक्षणादन्यान्यपि पुष्पाणि गृह्यन्ते, आसिक् (४) उपवेशने, आसनमास्, कमलादि पुष्पाणामाः स्थानम्, एवं विधो यो बन्धो रचना विशेषः स्रग् पं:, तत् हन्तानं, क्लीवत्वमप्राकृते लिङ्गस्यातन्त्रत्वात्, (५)किम्भूतम्—नमो आरं रलयोरैक्यम्, नमः प्रह्वीभाव आरतं परतो भ्रमणं तेन ऊः शोभमाना अलयो यत्र तत्, अवतेः शोभावाचिनः क्विपि ऊः ॥

८४—सश्चन्द्रो वर्त्तते, किम्भूतः—नमि कौटिल्ये, नमते इतिनः, क्विपि अम्वादेरिति न दीर्घः, आदित्वात्, न नः, न कुटिलः पूर्ण इत्यर्थः, एवं विधश्चन्द्रोऽरि हन्तास्तु, णमित्यत्रानुस्वाराभावश्चित्रत्वात् ॥

८५—अथ सूर्यः ॥ नमो अरहंताणं ॥ अहर्दिनं तनोति करोति अहस्तानो दिनकरः, अरा विद्यन्ते यत्र तत् अरिचक्रं, तद्वदाचरति वृत्त(६) स्वादाचार क्यनि क्विपि तयोर्लोपे अर्, अर् चासौ अहस्तानश्च वृत्तो दीप्यमानश्च सूर्यस्तं नमः ॥

८६—तानोद्भवत्वात् तानं वस्त्रं कारणे कार्योपचारात् (७) तानं किम्भूतं नमोदन् नमं नमनं सर्व दिक्षु प्रसरणं तेन अवति कान्तिमद् भवति, क्विपि नमु दण्डं अर्थति णिजि क्विपि पदस्य (८) उ लोपे दन्, नमु च तद्दन् च नमोदन्, एतावता ध्वज इत्यर्थः स्वराणां स्वरा इत्योकारः तं ध्वजं त्वं रह आ-

१–" सन्ति " इति शेषः ॥ २–"स्वप्ननामानि " इति शेषः ॥ ३–नियमेन 'हतम्, इति सिध्यति ॥ ४–अन्यत्र " आस् " धातुः ॥ ५–अप्रधानत्वात् ॥ ६–मण्डलाकारत्वात् ॥ ७–कारणे कार्यस्योपचारो भवतीति तानशब्देन वस्त्र परिग्रह इत्यर्थः ॥ ८–दण्ड शब्दस्य ॥

गौहि, रहुण् गतौ, गत्यर्था ज्ञानार्था इति वचनात् ज्ञानार्थत्वम् चन्द्रमते विवोऽनित्यत्वात् विजभावे रंहेति सिद्धम्, अनुस्वारसद्सत्वं चित्रत्वाद्दुष्टम् ॥

८७-अथ कुम्भः-ओकलः कलसं श्रयति विजि क्विपि सम्बोधने ओकलं, ओ इति सम्बोधन पदम्, हे कलशाश्रयिन् पुरुष त्वम्, हिंट् गतिवृद्धयोः इयन हो वृद्धिस्तस्या अन्तं विनाशं न मा अग वद्, कलशाश्रयिणः पुरुषस्य वृद्धेरन्तो न स्यात्, कामकुम्भो हि कामित करः; (१) तेनैवमुच्यते; नकार माकारौ निषेध वाचकौ, एक निषेधेऽर्थसिद्धौ द्वितीय निषेधो द्विर्बद्धं सुबद्धं भवतीति न्याया दवगन्तव्यः, (२) लोकप्रधानत्वापेक्षयाच निषेधद्वयं म न करि २ इत्यादि ॥

८८—अथ पद्मसरः—रो वर्त्तते, किम्भूतः हन्तः—हकारोऽन्ते यस्य एतावता सकारः, तेन असति (३) शोभते, असति हान्तास् एतावता सर इति जातम्, अब्जानि कमलानि अयतीति विचि क्विपे लक्लोपे अन्त्यस्वरादि लोपे(४) पद्मयति ज लोपे च अत्र् इति जातम्, अन्त्य व्यञ्जनस्येति प्राकृते वकारस्यापि लोपे अम् इति स्थितम्, एतावता पद्माश्रितं सर इत्यर्थः, किम्भूतं मोदयति मोद्, एवंविधम् न न, प्रकृतार्थौ द्वौ निषेधौ, इष्टकारकमेवेत्यर्थः

८९—अथ सागरः-नभं नमनं सर्वत्र प्रसरणं तेन कः शोभमानः, एवं विधो अलध्यन्तः समुद्रः, अन्तशब्दः स्वरूपे, किम्भूतः- टनदु समृद्धौ आङ् पूर्वः नद् आनन्दयति समृद्धिं प्रापयति सेवकान् रत्नाकरत्वात्, विचि आनन् इति सिद्धम् ॥

९०—अथ विमानः-अन्त शब्देन पदैकदेशे समुदायोपचारात् निशान्त इति,(५) निशान्तं गृहम्, रः कामे तीक्ष्णे वैश्वानरे नरे इत्येकाक्षर वचनात् रो नरः, नरः अरोदेवः अरान् देवान् हन्ति गच्छति प्राप्नोति देवाश्रितत्वात्, अरहम् एवंविधम् अन्तं निशान्तम् अरहन्तम् (६) अमरविमानमित्यर्थः, तस्य सम्बुद्धौ हे अरहन्त (७) त्वमृणं दुःखं (८) नामय पराकुरु, नम इत्यत्र अन्त-

१-अभीष्ट करः ॥ २-ज्ञेयः ॥ ३-"असति" इत्यस्यैवार्थः "शोभते" इति ॥ ४-टिलोपे ॥ ५-पदस्यैकदेशे समुदायस्योपचारो भवतीति कृत्वा अन्तशब्देन निशान्तग्रहणमित्याशयः ॥ ६ नियमेन "अरहान्तम्" इति भवितव्यम् ॥ ७-एतदपि सन्दिग्धमपदम् ॥८-कारणे कार्योपचाराद्दण शब्देन दुःख ग्रहणम् ॥

भूतो णिगर्वो श्रेयः, श्रो इति हे इत्यर्थः ॥

९१—मद्यचन्द्रे विधौशिवे इति वचनात् मद्यचन्द्रस्तेन ऊतं कान्तं मोतं चन्द्रकान्तमित्यर्थः, अव धातोः कान्त्यर्थात् क्त प्रत्यये ऊतं कान्त मित्यर्थः, रेऽग्निस्तत्तुल्यं तथा अहर्दिनम्, अहः करोति णिजि क्विपि अहः सूर्यः तद्वद्न्तः स्वरूपं यस्य सूर्यकान्त इत्यर्थः, एतावता चन्द्रकान्त वह्नि वर्ण सूर्यकान्तादीनि रत्नानि, उपलक्षणादन्यान्यपि रत्नानि ग्राह्याणि, तेषां गणः समूहोऽस्ति, क ग च अति गलुक्, पदयोः सन्धिर्वेति सन्धिः, यथा चक्काओ चक्रवाकः, णिश समाधौ नेशति समाधिं करोति चित्तस्वास्थ्यं निर्मातीति हे नः

९२—अथाग्निः—अजः छागो रथो वाहनं यस्य सः अजरथो वह्निः, तम्, त्र्यणम् त्रयोऽणाः शब्दा यस्य स त्रिविधोऽग्निरिति कविसमयः, श्रो इति सम्बोधने, तं नम प्रणमेति ॥

९३—नमो अरहंताणं ॥ नं ज्ञानम्, अरहन्ताणमस्यअताम्पुरुषाणाम् उख् भवति, उख् नखेति गत्यर्थो दण्डक धातुः, ओखणम् ओग् विधि सिद्धम्, अव्ययव्यञ्जनलोपे श्रो गतिर्भवतीत्यर्थः, गतिः सैव या सद्गतिः, यथा " कुले हि जातो न करोति पापम् " इत्यत्र कुलं तदेव यत्सत्कुलमिति ॥

९४—हंसं श्रयति वाहनतया णिजि क्विपि हन्, श्रो इति सम्बोधने, हे हन् हे सरस्वति, नोऽस्माकं नं ज्ञानं तां शोभाश्च तर देहि, तृ धातुर्दाने अन्यथा विपूर्वोऽपि दाने न प्रवर्त्तेत, उपसर्गाणां धात्वर्थद्योतकत्वात् तृ धातुर्दानार्थोऽस्तीति ॥]

९५—अन्त शब्देन देशे समुदायोपचारात् हेमन्त इति, अहर्दिनं नमतीति नमं कृशम्, हे हेमन्त ऋतो त्वं नमं कृशं दिनम् अर प्राप्नुहि, ,वामलङ्कारे, हेमन्ते दिनलघुतेति प्रसिद्धिः ॥

९६—रस्तीक्ष्ण इति वचनात् रं तीक्ष्णम्, उष्णमिति यावत्, न रम् अरम्, अतीक्ष्णः शिशिरऋतुरित्यर्थः, तस्मिन्नरे शिशिर ऋतौ इत्यर्थः, अपभ्रंशे हकारः, व्यत्ययोऽप्यासामिति व्यत्ययः स्याच्च, हं जलं तस्मात्तन्यन्ते विस्तारं यान्ति हतानि जलरुहाणि, पद्मानीत्यर्थः, तेषां नमो नमनं कृशता भवति शिशिरे हि कमलानि हिमेन शुष्यन्तीति प्रसिद्धम् ॥

९७—हकारोऽन्ते यस्य स हान्तः सकार इत्यर्थः, तेन असति शोभते (१) हान्तात् एवंविधः रभ्शब्दः पुनः किम्भूतः उ अ उकारेणासति शोभते उ अ० अन्त्यव्यञ्जनस्येति ष लोपः सरह इति शब्दः सकारयुक्तः क्रियते तदा सुरह इति जातम् कोऽर्थः सुरभिर्वसन्त ऋतुः तमाचष्टे स्तौति इच्छति वा यः पुरुषः सुरभ् णिजि तल्लोपेसिद्धम् क्विप्लोपश्च उ अरह इत्यत्र अन्त्यव्यञ्जनलोपः सुरभशब्देन वसंतस्तावकः पुरुष इत्यर्थः खः प्रकटे निष्फलेचेति वचनात् खं प्रकटं यथा (२) स्यात्तथा नम् स्यात् नमतीति नम्, प्रह्वीभाव, उद्युक्तः सर्वकर्म्मणीत्यर्थः ॥

९८=रस्तीक्ष्णे इति वचनात् र उष्णः ग्रीष्मऋतुरित्यर्थः, किम्भूतः हं जलमन्तमानयतीति हन्तानः, (३) ग्रीष्मे जलशोषः स्यादित्यर्थः मोदयतीति मोदः एवंविधेन, ग्रीष्मः प्रायः परितापकरत्वान्न मोदकृत् ॥

९९=उ अर कोऽर्थः- ऋत्वरः, रहत्यागे, रह्यते त्यज्यते इतिभावे ड प्रत्यये रो निन्द्यः, नरः अरः उत्तम उत्यर्थः, ऋतुषुअर उत्तमः ऋत्वरः सर्व ऋतुप्रधान इत्यर्थः, स क इति विशेषण द्वारेणाह-"हन्तानः"-हं जलं तानयति विस्तारयति हतानः, वर्षाऋतुरित्यर्थः, किम्भूतो "नमः" नमति प्रह्वीकरोति सोद्यमान् सर्वजनान् करोति, अन्तर्भूतणिगर्थत्वात् नम्, (४) सर्वव्यापार प्रवर्त्तक इत्यर्थः ॥

१००=अरहंत० आपोजलम्, रह त्यागे, रहन्ति त्यजन्ति मुञ्चन्तीति अरहो(५)मेघः, तस्यान्तो विनाशो यस्मात् स अरहान्तो घनात्ययः, शरद् इत्यर्थः हे शरत् त्वं न निषेधे, नमेति क्रियापदम्, मा नम मा कृशीभव, शरदोऽतिरमणीयत्वादेवमुक्तिः ॥

१०१=अथ नवग्रहा वर्ण्यन्ते तत्र सूर्यचन्द्रौ पूर्वम्, (६) तत्रापि (७) चन्द्रः प्रथमं (८) सिद्धान्तवेदिनाम्, रस्तीक्ष्णे इति वचनात् रः तीक्ष्णः, नरः अरः, शीत इत्यर्थः, अरा शीता (९) भा कान्तिर्यस्य स अरभः शीतगुः, (१०) तं नमोऽस्तु, चन्द्रम् किम्भूतंशाखं सर्वनक्षत्रग्रहताराणां शरणभूतं नायकमित्यर्थः॥

१-"असति" इत्यस्यैवार्थः "शोभते" इति ॥ २-क्रियाविशेषणम् ॥-३नियमेन "हान्तानः" इति भवितव्यम् ॥४-सन्दिग्धपदम् ॥५-शब्दसिद्धौसन्देहः ॥ ६-स्तः इति-शेषः ॥७- तयोरपि ॥८-पूर्वम्, क्रियाविशेषणमेतदवगन्तव्यम् ॥९-"अरा" इत्यस्यैवार्थः "शीता" इति ॥१० शीतरश्मिः, चन्द्र इत्यर्थः ॥

१०२-अथ सूर्यः-रा तीक्ष्णाभा कान्तिर्यस्य स रभः, सूर्य इत्यर्थः, रभाय सूर्याय नमः, व्यत्ययोऽप्यासाम्, आसां विभक्तीनां व्यत्ययोऽपि स्यादिति वचनात् चतुर्थ्यर्थे द्वितीया, च: पूर्वोक्तार्थसमुच्चये, किम्भूताय रभाय-तानाय तकारस्तस्करे युद्धे इत्येकाक्षर वचनात् तश्चौरः, तेषामा (१) समन्तात् नो बन्धनं यस्मात्सः तानः, तस्मै, सूर्योदयेहि चौराणां बन्धनम्भवति ॥

१०३-अथ भौमः-हे अर, अरः किम्भूतः-आनः-आकारस्य नो बन्धो यत्र एतावता आरः कुजः, (२) किम्भूतः-हन्तः-(३) हो जलं तस्य अन्तो यस्मात्स तथा, एवंविधोन, जलदाता इत्यर्थः, किम्भूतः सन् मौः-मश्चचन्द्रे शिवेशिवे इति वचनात् मश्चन्द्रः, तमवति प्राप्नोतीति क्विपि मौः, (४) चन्द्र युक्तो हि भौमो वर्षाकाले वृष्टिदः ॥

१०४—अथ बुधः-मो ब्रह्मा, सः अवति देवतात्वेन स्वामी भवति, क्विपि मौः, स्वाम्यर्थेऽवधातुः, ततो मौः रोहिणी नक्षत्रं तस्माज्जायते इति मोजो बुधः, श्यामाङ्गो रोहिणीसुतः इति वचनात्, रिहं-राः धनं तदेव भं भवनं (५) धनभवनमित्यर्थः, तत्र गत इति शेषः, तानः ता लक्ष्मीमानयतीतितानः एवंविधो न किन्तु एवंविध एवेति काक्वत्या (६) व्याख्येयम्, धनभवनस्थो हि बुधो लक्ष्मीप्रद इति ज्योतिर्विदः, ऐशब्दस्य ऐत् एत् स्वराणां स्वरा इतीकारः॥

१०५—अथ गुरुः-लश्चामृते इति वचनात् लोऽमृतम्, अदनम् अदो भोजनम्, अदे भोजने (७) लोऽमृतं येषान्ते अदला देवाः, तान् हन्ति गच्छति आचार्यतया प्राप्नोति अदलहन्ता सुराचार्यो जीव इत्यर्थः, किम्भूतः आनः आ समन्तात् नो ज्ञानं यस्मात्स आनः, ज्ञानदाता, किम्भूतः सन् नमः-नो बुद्धिः पञ्चमम्भवनं तत्र, मदुङ् स्तुतिमोदमदस्वप्नगतिषु, मन्दने गच्छति नमः, ड प्रत्यये सिद्धम्, लग्ने हि पञ्चमभवनस्थोगुरुर्ज्ञानदाता स्यादिति ।

१०६—अथ शुक्रः-तानः-तकारस्य षोडशव्यञ्जनत्वात् त शब्देन षोडश उच्यन्ते, अषी असी गत्यादानयोश्चेत्यत्र चानुकृष्टदीप्त्यर्थादस् धातोः

१-चौराणाम् ॥२- भौमः ॥३-"हन्नः" इति भवितव्यम् ॥४-"ममवति" इति व्युत्पत्तौ अव्धातोः क्विपि ऊः इति सिद्धम् गुणेकृते मो शब्दनिष्पत्तिः, तस्य प्रथमैक वचने मौरिति ॥५- "भाम्' इत्यस्यैवार्थः "भवनम्" इति ॥६-काकुवादेन ॥७-"अदे" इत्यस्यैवार्थः "भोजने" इति ॥

क्विपि अस् इति रूपम्, असो (१) दीप्तयः किरणा इति यावत्, ततः ताः षोडश असः किरणास्तेषां नो बन्धो योजना यस्य सतानः, शुक्रः, समधौ दीर्घे अन्त्यव्यञ्जनस्येति सलोपे प्राकृते रूपसिद्धिः, व्यञ्जनैश्च संख्याप्रतिपादनं ग्रन्थप्रसिद्धम्, यदुक्तमारम्भसिद्धौ—विद्युन्मुख १ शूला २ शनि ३ केतू ४ ल्का ५ वज्र ६ कम्प ७ निर्घाताः ८ ङ ५ ज ८ ढ १४ द १८ ध १९ फ २२ ब २३ भ २४ संख्ये रवि पुरत उपग्रहा धिष्ण्ये ॥१॥ इत्यादि षोडशार्चिर्दैत्य गुरुरिति वचनात् तानः षोडशकिरणः, शुक्र इतियावत्, तं शुक्रं नम, धातूनामनेकार्थत्वात् भजस्वेत्यर्थः किम्भूतम् ऊ आहम् उंदैप् (२ क्लेदने उनक्ति रोगैः क्लिन्नोभवति उन्द (३)स्तस्य लभ्यामृत इतिवचनात् लोऽमृतं लभ्यते अन्तर्भूतणिजर्थत्वात् प्रापयति भूङ (४) प्राप्तौ धातोः, डरूपम् उन्दलभः, तमू रलयोरैक्यम्, रोगार्तस्यहि शुक्रोऽमृतदाता सञ्जीवनीविद्या शुक्रस्यैवेति तद्विदः, (५) अथवा भश्चालिशुक्रयोरिति वचनात् भः शुक्रः, अरः शीघ्रगामी (६) चासौभश्च अरभः, तं नम सेवस्व, ऊ इति सम्बोधनम्, किम्भूतं भंतानं शुभकार्याणि तानयति विस्तारयति तानः तम्, शुक्रोहि शीघ्रगामी अनस्तमितः (७) शुभः, शुभकार्याय भवति ॥

१०७—अथ शनिः-आरः क्षितिसुतेऽर्कजे इति विश्वप्रकाश वचनात्, आरः शनिः, स्वराणां स्वरा इति प्राकृते अर इति जातम्, (८) अथवा अरः कथम्भूतः—आनः अकारस्य नो बन्धो (९) यत्रेत्यनया व्युत्पत्त्या आर इति जातम् अरं शनिं नमोऽस्तु, इति उपहाससमस्कारः यतो हन्ता जन पीडकः तस्मात् हे आर त्वां नमोऽस्तु इत्यर्थः ॥

१०८—अथ राहुः उ अरहः उदरे हीयते उदरहो राहुः (१०) राहुस्तु उदरहीनः शिरोमात्ररूपत्वात् तस्य, किम्भूतो नमः-नशौच् (११) आदर्शने, नश्यतीति ड नः (१२) एवंविधोमश्चन्द्रो यस्मात्, उपलक्षणात् सूर्योऽपि(१३)

१-प्रथमाया बहुवचने रूपम् ॥२-अन्यत्र "उन्दी"धातुः ॥३- कर्त्तरि अच् प्रत्ययः॥ ४-अन्यत्र भू धातुः सच प्राप्तावात्मने पदी॥ ५-तज्ज्ञाः ॥ ६-"अरः" इत्यस्यैवार्थः शीघ्रगामी इति ॥७-अनस्तङ्गतः ॥८- स्वराणां स्वराः इति प्राकृतलक्षणात् आकारस्य अकारो जात इत्यर्थः ॥ ९-बन्धः संयोगः ॥ १-"ज्ञेयः" इतिशेषः॥२-अन्यत्र "णश्" धातुः॥३-नश् धातोर्ड प्रत्ययेन इति पदं सिद्धमित्यर्थः॥१३-"गृह्यते" इति शेषः ॥

राहुः चन्द्रसूर्यौ ग्रसतीति राहोश्चन्द्र मासः, पुनः किंविशिष्टः-तासः तो युद्धं तस्य नो बन्धो रचना यस्मात्स तथा, (१) राहुसाधना पूर्वं युद्धं क्रियते इति इदं विशेषणं युक्तिमत् (२) ॥

१०९—अथ केतुः-उदरहो राहुः, पूर्ववद्व्याख्या, (३) तस्य तः पुच्छं केतुः तकारस्तस्करे युद्धे क्रोडे पुच्छे चेत्येकाक्षरवचनम्, केतुस्तु राहुपुच्छ रूपेण ज्योतिर्विदाम्प्रसिद्धः, यतः "तत्पुच्छे मघुहायामापद्दुःखं विपक्षपरितापः अत्र तत्पुच्छ इतिराहुपुच्छं केतुरित्यर्थः, इतिताजिके, हे उदरह त्वम् ऋण ऋणवदाचर, मानिषेधे, ऋणं यथा दुःखदायि तथा केतुरप्युदितः सन् जन पीडाकरस्तत (४ एवमुच्यते, (५) त्वं माऋण, नकारोऽपिनिषेधार्थे, द्विर्बद्धं सुबद्धं भवतीति निषेधद्वयं विशेषनिषेधायेति ॥

११०—अथ नवरसा वर्ण्यन्ते-तत्रपूर्वंशृङ्गाररसो यथा कश्चित्कामी कुपित कामिनी प्रसत्ति (६) कृते वक्ति-हे नमोदरि हे कृशोदरि, त्वमथावद, इन्तेति कोमलामन्त्रणे, नमं नमत् कृशमुदरं यस्याः सा, नमोदरी क्षामोदरी, तस्याः सम्बोधनम्॥ (७)

इति श्रीपरमगुरुश्रीजिनमाणिक्यसूरि शिष्य पण्डित विनयसमुद्रगुरु राज पादुकाप्रसादासादिताधिगमपण्डित गुणरत्नमुनिना (८) लिखितम् । श्रीः, श्रीः, शुभम्भवतु ॥

१-"तो युद्धं तस्य आसमन्तात् नो बन्धो रचना यस्मात्स तथा" इति वक्तव्यमासीत्, अन्यथा तान शब्दासिद्धिरेव भवेत् ॥ २- युक्तियुक्तम् ॥ ३- " ज्ञेया " इति शेषः ॥ ४-तस्मात्कारणात् ॥ ५- पूर्वोक्तम् ६- प्रसत्तिः प्रसादः ॥ ७- नवरस वर्णनाधिकारम्प्रति श्रुत्यादयरसवर्णन एव ग्रन्थपरिसमाप्तिः सन्दर्भविच्छेदपरिचायिकेति ॥ ८- पण्डित गुणरत्नमुनिरयं कदाऽभूदिति सम्यक्तया नावगम्यते ॥

उक्त एकसौदश अर्थों का भाषानुवाद (१)

१—अर्हतों को नमस्कार हो, यह मुख्य अर्थ है ॥

२—"अरि" नाम वैरियों का है, उनके जो "हन्ता" (मारनेवाले) हैं; उनको "अरि हन्तृ" कहते हैं, अर्थात् सब वैरियों का नाश करने वाले चक्रवर्त्ती, उनको नमस्कार हो, यह उनके सेवकों का वचन है ॥

३—जिसमें अर (आरे) होते हैं उसको "अरि" कहते हैं, अर्थात् चक्र, उस (चक्र) से मारने वाले अर्थात् वैरियों का नाश करने वाले जो चक्रवर्त्ती हैं, उनको नमस्कार हो ॥

४—"ह" नाम जलका है, उसका "त्राण" अर्थात् रक्षा करने वाला अर्थात् सरोवर है । वह (सरोवर) कैसा है कि—मोद अर्थात् हर्ष का अरि (वैरी) के समान वैरी है, अर्थात् शोक, (२) वह "मोदारी" अर्थात् शोक जिससे नहीं होता है, इस लिये उसे "नमोदारि" कहते हैं, (नखादि गण में पाठ होने से नञ् रह गया, जैसे कि "प्रक्रियां नातिविस्तराम्" इत्यादि प्रयोगों में रह जाता है) ॥

५—"अरि" अर्थात् चक्र को जो "हन्ति" अर्थात् प्राप्त होता है उसे 'अरिह" कहते हैं, उस "अरिह" अर्थात् चक्रधर विष्णु को "नम" नमस्कार करो, (नम यह क्रियापद पञ्चमी (३) के मध्यम पुरुष के एक वचन में बनता है) वे विष्णु कैसे हैं कि—"त्राण" अर्थात् अपने सेवकोंके शरण भूत(४) हैं, "ओ" शब्द सम्बोधन अर्थ में है ॥

६—"ह" नाम जलका है; उस से जिसका "तान" अर्थात् विस्तार वा उत्पत्ति होती है उसका नाम "हतान" है, इस लिये हतान अर्थात् कमल है, वह कैसा है कि—"नमोदालि"—है, "नम" प्रह्वी भाव (५) को कहते हैं,

१-ग्रन्थकार के कथित भ्रमास्पद विषयों में संस्कृतमे ही टिप्पणी में उल्लेख कर स्वमत प्रदर्शित किया गया है-किन्तु भाषा में अनावश्यक समझकर उन विषयों का उल्लेख नहीं किया गया है ॥ २- मोद (हर्ष) का अरि (वैरी) होने से मोदारि नाम शोक का है ॥ ३-लोट् लकार ॥ ४-शरणदायक ॥ ५-नम्रता ॥

उससे "उत्" अर्थात् प्रबल वा उद्धत "अलि" अर्थात् भ्रमर जहां है, ऐसा वह कमल है, चित्र (१) होने के कारण अनुस्वार का अभाव हो गया तथा उसी से रेफ और लकार की एकता (२) भी होती है) ॥

७—"नमो अरि"—"नम" अर्थात् नमत् (कृश) जो उदर है उसे "नमोदर" कहते हैं, जिसका नमोदर है उसको " नमोदरि " कहते हैं, अर्थात् बुभुक्षा से युक्त उदर वाला भिक्षाचरों का वृन्द है, वह कैसा है कि—"हन्ताणम्"—"हन्त" शब्द भिक्षा का वाचक है, क्योंकि देशी भाषा में "हन्त" नाम भिक्षा का है, उस (भिक्षा) के द्वारा "आन" अर्थात् जीवन जिसका हो रहा है ॥

८—"मो अ" शब्द से अश्रवण का ग्रहण होता है, जैसा कि कहा है कि "अणाहारो मोअ लिंबाई" अश्रावण का जो "लिह" अर्थात् पानकर्त्ता है (लिहींक् धातु आस्वादन अर्थ में है) इस प्रकार भी कष्ट कारी उस मनुष्य का " त्राण " अर्थात् शरण नहीं हो सकता है, " ज्ञान के विना यह वाक्य उपस्कार रूप जानना चाहिये, क्योंकि यह न्याय है कि—सूत्रों में उपस्कार रहता है ॥

९—"मोकलि" नाम वायस का है, उसका जो हनन करने वाला अर्थात् घातक है उसका "आन" अर्थात् जीवन नहीं हो सकता है, लोक में यह बात प्रसिद्ध है कि—वायस का खाने वाला चिरजीवी होता है, उस विषय में यह अर्थ (मत) उचित नहीं है अर्थात् उसका हनन करने पर भी अधिक जीवन नहीं होता है ॥

१०—"हन्ताणं" "भ" नाम नक्षत्रोंका है, उनका जिससे "त्राण,, अर्थात् रक्षण होता है, अर्थात् सब नक्षत्रों का रक्षक जो चन्द्रमा है उसको देखो, (यहां पर " पश्य " इस क्रिया का अध्याहार होता है) वह चन्द्र कैसा है कि " नमोदारी " "है, न" नाम बुद्धि का है तथा "मोद" हर्षको कहते हैं, तथा "आर" प्रापण को कहते हैं, आर जिस में विद्यमान हो उसको "आरी" कहते हैं, वह चन्द्र बुद्धि और मोद का आरी है, क्योंकि शुभचन्द्र में शुभ बुद्धि तथा हर्ष की प्राप्ति होती है, ("आरि" इस पद में अनुस्वार का न होना दोष के लिये नहीं है, क्योंकि सूत्र विचित्र होते हैं, "ख घ थ

१—सूत्र विचित्र रूप होते हैं इस कारण ॥ २—एकत्व ॥

ध भां हः,, इत्यादि में भकार के स्थान में हकार कहा गया है, यह भी कहा गया है कि कहीं आदि में भी हो जाता है, अथवा बाहुलकसे जानना चाहियें) ॥

११—"आणा" अर्थात् सत्पुरुषोंका शरण है, वह कैसा है कि-"नमोदाई" है, "न" नाम ज्ञानका है तथा "मोद" हर्ष को कहते हैं, उनके "अर्ह" अर्थात् योग्य है ॥

१२—"तान" नाम वस्त्र का है; क्योंकि लोकमें तानकके सम्बन्ध से वस्त्र बनता है, कारणमें कार्यका व्यवहार होनेसे तान वस्त्र को कहते हैं, वह कैसा है कि-"नमो अरिह" है-"नर" अर्थात् मनुष्योंकी "मा" अर्थात् शोभाके "उदर्ह" अर्थात् अत्यन्त योग्य है, तात्पर्य यह है कि वह मनुष्योंकी शोभाका करनेवाला है ॥

१३—"हन्त" यह शब्द खेद अर्थमें है, "नम्" अर्थात् नमत् अर्थात् कृश है, उदर जिस (स्त्री) का उसे नमोदरी कहते हैं, अर्थात् कृशोदरी स्त्री को नमोदरी कहते हैं, वह (स्त्री) "आन"—है अर्थात् चारों ओरसे बन्धन रूप है, तात्पर्य यह है कि-स्त्रियां सर्वत्र बन्धन रूप होती हैं ॥

१४—"अरि हन्ताणम्" अर्हत की आज्ञा को नमन करो अर्थात् उसमें प्रह्वीभावको, रक्खो यह शिष्यसे कहा गया है ॥

१५—"म" नाम शिवका है, शिव शब्द से मोक्ष को जानना चाहिये, उसके ऊपर "हन्ता" अर्थात् गमन करनेवाला नहीं है, मुक्ति के ऊपर अलोक के होने से किसीका गमन नहीं होता है. (हनंक् हिंसागत्योः अर्थात् हनंक् धातु हिंसा और गति अर्थमें है; इसलिये यहां गत्यर्थक जानना चाहिये) ॥

१६—इस जगत् में "अ" अर्थात् पर ब्रह्म के "तान,, अर्थात् विस्तार को "उ अ" अर्थात् देखो, सब जगत् में ब्रह्म ही है, यह वेदान्तियोंका मत है; किन्तु "म" अर्थात् विधाता नहीं है, (म शब्द चन्द्रविधि और शिव अर्थ का वाचक है), तात्पर्य यह है कि उनके मतमें विधाता अर्थात् जगत् का कर्ता कोई नहीं है ॥

१७—जिसके पास "रै" अर्थात् द्रव्य नहीं है उसको 'अरि" कहते हैं, अर्थात् द्रव्य रहित कुल का नाम "अरि" वह कैसा है कि—"हताण" है—"ह,,

नाम निवासका है, उसका "अतान" अर्थात् लाघव है, निर्धन गृहका लाघव होता ही है, "तान" नाम विस्तारका है तथा "अतान" नाम लाघव का है, न और न, ये दो निषेध प्रकृत अर्थको कहते हैं, ऊ शब्द पूरण अर्थमें है ॥

१८—"त" नाम तस्कर (१) का है, उसका "आ" अर्थात् अच्छे प्रकार "न" अर्थात् बन्धन होता है, वह (बन्धन) कैसा है कि–"नमोत्परिघ" है "नमत्" अर्थात् पदसे भी द्वार आदि में मिला हुआ, "उत्" अर्थात् प्रबल "परिघ„ अर्थात् अर्गला जिसमें है, वही चौर का बन्धन होता है ॥

१९—"अरि" अर्थात् प्राप्त होता है हकार जहांपर, इस कथन से सकार का ग्रहण होता है, उस (सकार) से "अन्तानम्" यह पद जोड़ दिया जाता है, तब "सन्तानम्" ऐसा बन जाता है, इसलिये सन्तान और "मा" अर्थात् लक्ष्मी ये दोनों दुर्गतिपात(२)से "ऊ" अर्थात् रक्षा नहीं कर सकते हैं ॥

२०—"अर्हन्त" सामान्य केवलियोंको कहते हैं, उनको नमस्कार हो॥

२१—"ओ" यह पद सम्बोधन अर्थ में है–"न" अर्थात् बुद्धिको "अर्हत्" अर्थात् प्राप्त करनेवाले अर्थात् बुद्धिनिधान मन्त्री को "अत" अर्थात् जानो (अत धातु सातत्यगमन अर्थमें है तथा गत्यर्थ धातु ज्ञानार्थक होने (३) हैं) (स्वराणां स्वराः इस सूत्रसे आकार हो जाता है) (णम् शब्द वाक्यालंकार अर्थ में है) ॥

२२—"अर्हत्" अर्थात् पूज्य माता पिता आदि (४) को नमस्कार हो ॥

२३—"अर्हत्" अर्थात् स्तुतिके योग्य सत्पुरुषोंको नमस्कार हो (५) ॥

२४—"न" अर्थात् ज्ञान को "अर्हत्" अर्थात् प्राप्त हुए श्रुतकेवलियों को "उ अ" अर्थात् देखो ॥

२५—"न" ज्ञान को कहते हैं, उसका "मा" अर्थात् प्रामाण्य (६) "ऊ" अर्थात् धारण, उसके "अरिह" अर्थात् योग्य, ज्ञानके प्रामाण्य के वक्ता मनुष्य को तुम "अण„ अर्थात् कहो, (अण रण इत्यादि दण्डक धातु है) ता अर्थात् तावत् शब्द प्रक्रम (७) अर्थ में है, अन्तमें अनुस्वार प्राकृत के कारण हो जाता है)

१–चोर ॥ २–दुर्गति में गिरने ॥ ३–जो धातु गति अर्थ वाले हैं, उन सब का ज्ञान अर्थ भी माना जाता है ॥ ४–आदि शब्द से आचार्य और गुरु आदि को जानना चाहिये ॥ ५–मूल में (संस्कृत में) यहां पर कुछ पाठ सन्दिग्ध है ॥ ६–प्रमाणत्व, प्रमाणपन ॥ ७–क्रम ॥

२६—"अर्ह" अर्थात् प्राप्त किया है अन्त को जिन्होंने; इस प्रकार के हैं "अणति" अर्थात् प्राप्त किया है अनन्तानुबन्धवाले जिसके उसको अर्थात् क्षायिक (१) सम्यक्त्व वाले सम्यग् दृष्टि पुरुषको नमस्कार हो, पद के एक देशमें समुदाय का उपचार होता है) ॥

२७—"आणा" अर्थात् भोजन भाजन और मण्डन योग्य जो वस्तु है उसको नमन करो (णिक् प्रत्ययका अर्थ अन्तर्भूत है, इसलिये यह अर्थ जानना चाहिये कि प्रह्वी करो)अर्थात् सुसज्जित(२),करोयह भोजनकर्ताका वचन, है वह(वचन)कैसा है कि "उत,, अर्थात् सम्बद्ध(३)है लिह अर्थात् भोजन जिससे॥

२८—"ताण" अर्थात् तृणसमूह है, वह कैसा है कि—"नम" अर्थात् नमत् कुटीर प्राय (४) जो "ओक" अर्थात् घर है; उसके योग्य है; क्योंकि घर तृणों से आच्छादित (५) किया जाता है ॥

२९—तृण है, कैसा है कि—मोदारिह है "मोद" नाम हर्षका है; तत्प्रधान (६) जो अरि (७) हैं उनका जो नाश करता है (उसे मोदारिह कहते हैं) "न,, शब्द निषेध अर्थमें है, तात्पर्य यह है कि वे वैरी लोग मुखमें तृणको डाल कर जीते हैं ॥

३०—"ऋण" है (हन्त यह शब्द खेद अर्थ में है)वह कैसा है कि "नमोदारि, है "न" नाम बुद्धिका है तथा "मोद" नाम हर्षका है, उसका "अरि" अर्थात् वैरीरूप है तात्पर्य यह है कि ऋण के होनेपर बुद्धि और हर्ष नष्ट हो जाते हैं ॥

३१—"नमोअरि हंताणम्" अरिभ अर्थात् रिपुनक्षत्र में अत अर्थात् गमन जिस का होता है (अत धातु सातत्यगमन अर्थ में है) इस प्रकारका म अर्थात् चन्द्रमा न अर्थात् बन्धन अर्थात् विग्रह (८) को णम् अर्थात् निष्फल कर देता है, (णकार निष्फल तथा प्रकट अर्थ में कहा गया है, करोति क्रिया का अध्याहार हो जाता है अरि हन्त शब्द के आगे प्रथमा के एक वचनका लुक् हो जाता है, क्योंकि " व्यत्ययोऽप्यासाम् " इस वचन से अपभ्रंश की अपेक्षा से " स्वंजस् शसां लुक् इस सूत्र से लुक् हो जाता है, इसी प्रकार अन्यत्र भी जानना चाहिये) ॥

१—क्षय जन्य ॥ २—तैयार ॥ ३—सम्बन्धयुक्त, उचित ॥ ४—कुटी के समान ॥ ५—आवृत, ढका हुआ ॥ ६—मोद प्रधान, मोद युक्त ॥ ७—शत्रु ॥ ८—कलह, झगड़ा ॥

३२—"भ" शब्द से राशि तथा भवन भी कहा जाता (१) है, इस लिये "अरि भ" अर्थात् रिपुभवन में जब "म" अर्थात् चन्द्रमा "न आकः" अर्थात् प्राप्त नहीं हुआ है तब कार्य (कार्य शब्दको ऊपर से जान लेना चाहिये) "अण" अर्थात् सफल होता है, तात्पर्य यह है कि छठे भवन में चन्द्रमा त्याज्य (२) होता है ॥

३३—'ता" अर्थात् तावत् "अन"अर्थात् शकट (३) है, वह कैसा है कि "नमो" अरिह अर्थात् "नमोदरिह है, "नम्" अर्थात् "नमत्" अर्थात् नीचे होता हुआ, फिर "उत्" अर्थात् ऊंचा होता हुआ, इस प्रकार का "अरि" अर्थात् चक्र होता है, उन दो चक्रों से 'हन्ति" अर्थात् गमन करता है, क्योंकि शकट दो चक्रों से चलता है ॥

३४—"म" अर्थात् ईश्वर है, वह कैसा है कि "अरहन्ता" है, "अरं" अर्थात् शीघ्र "ह" अर्थात् कामदेव का हन्ता (नाशक) है, "णाम्" शब्द अलङ्कार अर्थ में है ॥

३५—"ता" अर्थात् शोभा; तत्प्रधान (४) "अण" अर्थात् शब्द अर्थात् साधु शब्द यानी यश जो है वह; "न ओजोऽर्हम्" ओज नाम बलका है, उसके योग्य नहीं है, तात्पर्य यह है कि—बल से यश नहीं होता है (मकार अलाक्षणिक (५) है), अणम् इस पद में "लिङ्गमतन्त्रम्" इस सूत्रसे नपुंसक लिंग मान लेने पर दोष नहीं है) ॥

३६—"अर"अर्थात् अत्यर्थ(६)"इभान्त" अर्थात् हाथीका नाशक सिंह (७) उसका "अण" अर्थात् शब्द अर्थात् सिंह नाद है, उसको तुम "अय" अर्थात् प्राप्त हो, यह बात सुभट (८) से कही जाती है कि जिससे मू अर्थात् बन्धन न हो, (स्वराणां स्वराः इस सूत्रसे ओकार आदेश हो जाता है) ॥

३७—"अज" नाम छाग (९), हरि, (१०) विष्णु, रघुज, (११) ब्रह्मा और काम देवका है, इस अनेकार्थ वचन से "अज" नाम ईश्वर का है, वह जिस

१-अर्थात् म शब्द राशि तथा भवनका भी वाचक है ॥ २-त्याग करने योग्य॥ ३-छकड़ा ॥ ४-शोभा है प्रधान जिसमें ॥ ५-सूत्र से असिद्ध, निपातन सिद्ध ॥ ६-अत्यन्त ही ॥ ७-नाश करने वाला ॥ ८-योद्धा, वीर ॥ ९-बकरा ॥ १०-इन्द्र ॥ ११-रघु का पुत्र ॥

का अरि है उसका नाम "प्रजारि" है अर्थात् कन्दर्प, (१) उसका हनन(२) करने वाले वीतरागों को नमस्कार हु ॥

३८—कोई पुरुष धर्म से पराङ् मुख (३) किसी धैनवानूसे कहता है कि (लिहँक् धातु आस्वादन अर्थ में है; उससे लिहनम् इस व्युत्पत्ति के करने पर लिहः शब्द बनता है, बाहुलक से भावमें क प्रत्यय हो जाता है), जिस का लिह नहीं है उसे अलिह कहते हैं अर्थात् "अलिह" नाम अभक्ष्य का है, उसको तुम "अज" अर्थात् फेंको अर्थात् त्याग दो, (वृद्धि अर्थवाले अव् धातु से क्विप् प्रत्यय करने पर ऊ शब्द बनता है, उसका आमन्त्रण (४ में हे ओ ऐसा बनता है, अतः)हे "ओ" अर्थात् हे धनवृद्ध "मा" अर्थात् लक्ष्मी "त्राण" अर्थात् शरण(५)नहीं होती है, तात्पर्य यह है कि—विरति (६) ही रक्षा करने वाली होती है, इस लिये तू अभक्ष्य आदि का त्याग करदे ॥

३९—"अज" नाम छाग का है, उसको जो 'लिहन्ति" अर्थात् खाते हैं; उन को "अजलिह" कहते हैं; इस प्रकार के जो "त" अर्थात् तस्कर हैं उन का "मोच" अर्थात् मोक्ष नहीं हो सकता है, तात्पर्य यह कि—कर्म मुक्ति (७) नहीं हो सकती है, (मोचनम् इस व्युत्पत्ति के करने पर मोचः ऐसा शब्द बन जाता है इसमें णिगन्त से अच् प्रत्यय होता है) ॥

४०—"मोचा" अर्थात् कदली (८) है, वह कैसी है कि—"लिह" अर्थात् भोज्य की "ता" अर्थात् शोभा जिससे होती है, अर्थात् भोज्य में सार भूत है, "न न" ये दो निषेध प्रकृत (९) अर्थ को बतलाते हैं ॥

४१—"अर्ह" नाम पूजा का है, उसका जिसमें "अन्त" अर्थात् विनाश हो जाता है उसे "अर्हान्ता,, कहते हैं, इस प्रकार की "मा,, अर्थात् लक्ष्मी नहीं होती है, तात्पर्य यह है कि—लक्ष्मी सर्वत्र पूजा को प्राप्त होती है, "णम" शब्द अलङ्कार अर्थ में है ॥

४२—("माति" इस व्युत्पत्ति के करने पर "मः" ऐसा पद बनता है, " क्वचिड्डः" इस सूत्र से ड प्रत्यय हो जाता है) , "म" नाम प्रमाण(१०) वेदी पुरुष का है, वह कैसा है कि—"अज" नाम परमात्मा उसका "अरि"

१—कामदेव ॥ २—नाश ॥ ३—बहिर्मुख, रहित ॥ ४—सम्बोधन ॥ ५—आश्रय देने वाली ॥ ६—वैराग्य ॥ ७—कर्म से छुटकारा ॥ ८—केला ॥ ९—प्रस्तुत ॥ १०—प्रमाण का जानने वाला ॥

अर्थात् निषेधक (१) है, अर्थात् प्रतिवादी है, उसका जो "हन्ता" अर्थात् निवारक (२) है; अर्थात् जो परमेश्वर को नहीं मानता है, उसको हटाता है तात्पर्य यह है कि प्रमाणवेत्ता (३) पुरुष सर्वज्ञ को स्थापित करता है, दो नञ् प्रकृति (४) अर्थमें हैं ॥

४३—"अज" नाम सर्वज्ञ का है, उसकी जो "अर्ह" अर्थात् पूजा है, उसका जो "अणति" कथन करता है, अर्थात् उपदेश करता है, उस पुरुषको नमस्कार हो, तात्पर्य यह है कि-पूजा का स्थापक पूजा के योग्य होता है ॥

४४—"अन्त" शब्द-स्वरूप, निकट, प्रान्त, निश्चय, नाश, तथा अवयव अर्थ का वाचक है, तथा "अर्हन्" पूज्य और तीर्थङ्कर को कहते हैं, "स" अर्थात् शिव है, वह कैसा है कि-"अर्हान्ताण" है, अर्ह अर्थात् सब के योग्य "अन्त" अर्थात् स्वरूप; उसका "अण" अर्थात् उपदेष्टा (५) है, (अण धातु शब्द अर्थ में है), एकाक्षर निघण्टु में "स" नाम चन्द्र, शिव, और विधि का कहा है, ईश्वर सब प दार्थों के यथार्थ स्वरूप का वक्ता (६) नहीं हो सकता है, क्योंकि उसके कहे हुए तत्त्वों में व्यभिचार (७) आता है,

४५—"अज" छाग को कहते हैं, उससे (अक् धातु गति अर्थ में है) जो गमन करता है उसका नाम "अजारि" है; अर्थात् छाग वाहन (८) वह्नि (९) को "अजारि" कहते हैं, (यहां शील अर्थमें इन् प्रत्यय होता है हिंट् धातु गति और वृद्धि अर्थ में है) उस (अजारि) को जो "हाययति" अर्थात् बढ़ाता है उसका नाम "अजारिह" है, वह्नि का बढ़ाने वाला अग्निहोत्री होता है, इस प्रकार का जो (अग्निहोत्री) पुरुष है उसको नमस्कार हो, यह, उपहास (१०) है; वह कैसा है कि "ताण है "ता" अर्थात् शोभा को जो कहता है उसका नाम "ताण" है, अर्थात् वह "हम अग्नि होत्री हैं" इस प्रकार का अभिमान करता है ॥

४६—"मोचा" शब्द शाल्मली (११) और कदली (१२) का वाचक है, तथा "मोच" नाम शिग्रु का (१३) है, यह अनेकार्थमें कहा है, इसलिये "मोचा"

१-निषेध करने वाला ॥ २-निवारण करने वाला ॥ ३-प्रमाण का जानने वाला ॥ ४-प्रस्तुति विद्यमानता ॥ ५-उपदेश करने वाला ॥ ६-बोलने वाला ॥ ७-मिथ्यात्व ॥ ८-बकरा है वाहन (यान) जिसका ॥ ९-अग्नि ॥ १०-हंसी, ठट्ठा ॥ ११-एक प्रकार का वृक्ष ॥ १२-केला ॥ १३-एक प्रकारका वृक्ष ॥

अर्थात् शाल्मली के पास तुम " न अल" अर्थात् मत जाओ, (अल धातु सातत्यगमन (१) अर्थ में है) क्योंकि "अलिह" है-"अलि" अर्थात् भ्रमरों का "हम्" अर्थात् गमन "थम्" अर्थात् निष्फल है, (हनंक् धातु हिंसा और गति अर्थ में है; उससे क्विप् प्रत्यय करने पर "हन्" ऐसा रूप बनता है । सुरभि (२) से रहित होनेके कारण भ्रमरों का भ्रमण निष्फल है, इस लिये तुम मत जाओ, यह मित्र का कथन है ॥

४७–नमो०॥ अरियों से "हत" अर्थात् आठ प्रकार के कर्म से पीड़ितों को नमस्कार हो, यह उपहास नमस्कार (३) है ॥

४८—"अरिहम्" अर्थात् "अर्हन्" अर्थात् जो जिन है; उसका "त्राण" अर्थात् शरण [४] "न मोचम्" अर्थात् नहीं छोड़ना चाहिये ॥

४९–"अर्हन्" अर्थात् तीर्थङ्कर; उसका "त्राण" अर्थात् शरण नहीं छोड़ना चाहिये ॥

५०—"अरि" अर्थात आठ प्रकार के कर्म का जिन्होंने हनन [५] किया है उनको "अरिह" अर्थात् सिद्ध कहते हैं, उन (सिद्धों) के शरण को नहीं छोड़ना चाहिये ॥

५१—"मोदारि" नाम शोकका है, उससे "हत" अर्थात् पीड़ितों को "म" नहीं होता है; अर्थात् शिव (६) नहीं हो सकता है ॥

५२—अरि हतों अर्थात् बाहरी वैरियों से पीड़ितों को "मोद" अर्थात् हर्ष नहीं होता है ॥

५३–"अरि" यह अव्यय सम्बोधन में है, "हत" अर्थात् निन्द्यों (७) को नमस्कार हो, यह उपहास है ॥

५४–"अग" नाम पर्वत का है, उनका "अरि" अर्थात् इन्द्र, उसका "ह" अर्थात् निवास (स्वर्ग), उसका "अन्त" अर्थात् स्वरूप (अन्त शब्द स्वरूप और निकट वाचक कहा गया है) उसको "अणति" अर्थात् कहता है, उस प्रज्ञापना (८) आदि सिद्धान्त के जाननेवाले पुरुष को नमस्कार हो अर्थात् मैं उस को प्रणाम करता हूं, (अवर्ण की यकार रूप में श्रुति (९) होती है, इस लिये यकार नहीं रहता है, बाहुलक से अगारि इस पदमें)॥

१–निरन्तर गमन ॥ २–सुगन्धि ॥ ३–हंसी के साथ प्रणाम॥ ४–आश्रय॥ ५–नाश॥ ६–कल्याण ॥ ७ निन्दाके योग्य ॥ ८–सूत्रविशेष ॥ ९–श्रवण ॥

५५–"ण" अर्थात् ज्ञ (पण्डित पुरुष) को तुम "अत" अर्थात् जानो [अत धातु सातत्यगमन [१] अर्थ में है तथा गत्यर्थक [२] धातु ज्ञानार्थक [३] होते हैं] वह पण्डित पुरुष कैसा है कि "नमोऽर्हं" है, अर्थात् नमस्कार के योग्य है ॥

५६–"अरि हन्ताणम्" "अर्हन्" नामतीर्थङ्कर का है, उसका जो "ऋण" अर्थात् कर्म है अर्थात् तीर्थंकर नाम कर्म है, वह कैसा है कि "नमो" "न" अर्थात् ज्ञान तथा "म" अर्थात् शिव, इन दोनों की जिससे "ऊ" अर्थात् प्राप्ति होती है, तात्पर्य यह है कि जिस कर्म का उदय होने पर परम (४) ज्ञान तथा मोक्षकी प्राप्ति होती ही है ॥

५७–"नमोत्तरी" "नमा" अर्थात् नमती हुई तथा "उत्" अर्थात् ऊपर को जाती हुई; इस प्रकार की "तरी" अर्थात् नौका है, वह कैसी है कि "हान्ता" है, "ह" जलको कहते हैं, उसका "अन्त" अर्थात् प्रान्त (५) जिसके हो; ऐसी नहीं है, तात्पर्य यह है कि वह जल के प्रान्त में नहीं जा सकती है ॥

५८–"ना" नाम पुरुष का है, उसका "म" अर्थात् मस्तक है, वह कैसा है कि "हतान" है, "ह" नाम शूली (६ कर [७] और नरि(८) का कहा गया है, इसलिये "ह" शब्द से ईश्वर को जानना चाहिये, उसकी "ता" अर्थात् शोभा, उस (शोभा) को "आनयति" अर्थात् बढ़ाता है, "अरि" शब्द सम्बोधन अर्थ में है ॥

५९—"अज" अर्थात् विष्णु को "नम" अर्थात् नमस्कार करो, वह विष्णु कैसा है कि "हताऽन है–नष्ट किया है "अन" अर्थात् शकट (दैत्य) को जिसने, (इजेराः पाद पूरणे" इस सूत्र से इकार के सहित रेफ पाद पूरण अर्थ में है) ॥

६०—"अज" नाम रघुके पुत्रका है, वह 'अरिहन्ता" अर्थात् सब वैरियों का नाशक था, [९] "णम्" शब्द अलङ्कार अर्थमें है, "मा" और "न," ये दो निषेध प्रकृत (१०) अर्थ को बतलाते हैं ॥

१– निरन्तर गमन ॥ २–गति अर्थ वाले ॥ ३–ज्ञान अर्थवाले ॥४–उत्कृष्ट, उत्तम ॥ ५–किनारा, समाप्ति ॥ ६–महादेव ॥ ७–हाथ किरण ॥ ८–जल ॥ ९–नाश करने वाला ॥ १०–प्रस्तुत, विद्यमान

६१—नमो अरहंताणम् ॥ ऐसा भी पाठ है "ताना,, नाम उनचास का है, उन ४९ को अङ्कीतान, "रह" अर्थात् जानो, (रहुण, धातु गति अर्थमें है तथा गत्यर्थक (१) धातु ज्ञानार्थक (२) होते हैं), वह तान कैसा है कि "नमोद" है, अर्थात् जिससे पुरुषों का मोद होता है ॥

६२—इस पद से चार अनुयोगों की व्याख्या की जाती है-"अरहंताणम् अर्हत् की आज्ञा को "न मोचय" अर्थात् मत छोड़ो "मोचा" नाम शाल्मली का (३) है, ("मोचां करोति" इस व्युत्पत्ति के करने पर "मोचयति" ऐसा पद बनता है, मध्यम पुरुष के एक वचन में "मोचय" ऐसा पद बन जाता है) अतः यह अर्थ है कि जिनकी आज्ञा को शाल्मली के समान असार [४] मत करो, उसको तत्त्वरूप जानो, यह चरणकरणानुयोग [५]है ॥

६३—"अरहम्" "अरहन्तक" अर्थात् साधु को जो कि "त्राण" अर्थात् शरण भूत (६) है; नमस्कार करो, पद के एक देशमें पद समुदाय का व्यवहार होता है, इसलिये अरह शब्द से अरहन्तक कहा गया है, यह धर्म कथानुयोग (७) है ॥

६४— (क्ष धातु से त प्रत्यय करने पर-"क्षही आभ्रा" इस सूत्र से क्षण शब्द बनता है) क्षण अर्थात् क्षीण (८) पुरुष को "मोच" अर्थात् शिग्रु (९) का "र" अर्थात् रस, (र शब्द से रस का ग्रहण होता है) "हन्ता" अर्थात् घातक (१०) नहीं होता है, तात्पर्य यह है कि क्षय रोगी पुरुष शिग्रु के रस से नीरोग हो जाता है (एक देश में समुदाय का व्यवहार होने से र शब्द से रसका ग्रहण होता है, यह अपनी बुद्धि की कल्पना नहीं है, क्योंकि श्रीजिनप्रभसूरि ने भी-"पउमाभवासु पूज्जा" इस गाथा में चार अनुयोगों का व्याख्यान करते हुए ऐसी व्याख्या की है कि पउ अर्थात् पौष, मा अर्थात् माघ, भ अर्थात् भाद्रपद उनमें अवतसि अर्थात् अवम रात्रि के होने पर असु अर्थात् असुभिक्ष अर्थात् दुर्भिक्ष होता है, पु अर्थात् पुहवी लोग अथवा पुहवास, की ज्या अर्थात् ज्यानि (हानि) होती है, यह द्रव्यानुयोग (११) है ॥

१—गति अर्थ वाले ॥ २—ज्ञान अर्थवाले ॥ ३—एक प्रकारका वृक्ष ॥ ४—निष्फल, व्यर्थ ॥ ५—चरण करण व्याख्या ॥ ६—शरण स्वरूप, शरण दायक ॥ ७—धर्म कथा व्याख्या ॥ ८—दुर्बल, क्षय रोग वाला ॥ ९—एक वृक्षविशेष ॥ १०—नाश करनेवाला ॥ ११—द्रव्य व्याख्या ॥

६५—नमो अरि हंताणं ॥ "अलि" नाम वृश्चिक राशि का है, उसमें (हनंक् धातु हिंसा तथा गति अर्थ में है) "हन्ति" अर्थात् गमन करता है (उक्त धातु से क्विप् प्रत्यय करने पर अलिहन् शब्द बनता है), वृश्चिक राशि में स्थित "म" अर्थात् चन्द्र "त्राण" अर्थात् विपत्ति से रक्षक (१) नहीं होता है, क्यों कि वृश्चिक राशि में चन्द्र नीच होता है, इसलिये वह दुर्बल होता है, यह गणितानुयोग (२) है॥

६६—"अलि" नाम सुरा तथा पुष्पलिह (३) का अनेकार्थमें कहा गया है, अतः "अलि" शब्द सुरा का वाचक है, उसको जो छोड़ता है, उसका नाम "अलिह" अर्थात् सुरा वर्जक (४) है, सुरा उपलक्षण रूप (५) है, अतः मांस आदि को भी जान लेना चाहिये, अर्थात् मद्यादि वर्जक (६) "अन्त" अर्थात् स्वरूप जिनका उनको "अलिहान्त" कहते हैं, अर्थात् श्राद्धों [७] के कुल, उनको नमः अर्थात् उद्यम हो, तात्पर्य यह है कि श्राद्ध कुल उदित (८) हैं ॥

६७—किसी शैव (९) का कथन है कि-हम्" अर्थात् मैंने "रे" अर्थात् राम के विषय में "नमः" अर्थात् नमस्कार को "अताणं" अर्थात् किया, "र" शब्द से एकाक्षर माला में राम अर्थ कहा गया है ("अतन्वम्" यह क्रिया ह्यस्तनी विभक्ति (१०) के उत्तम पुरुष के एक वचन में बनती है, अकार पाद पूरण अर्थ में है) ॥

६८—कोई जैन कहता है कि-"अहं रामे नमः नातन्वम्" अर्थात् मैं ने राम को नमस्कार नहीं किया, अकार निषेध अर्थ में है, क्योंकि माला में कहा है कि-अ, मा, नो, और न, ये प्रतिषेध अर्थ में हैं ॥

६९—नमो अर हंताणं ॥ "न" अर्थात् बन्धन को (मीगश् धातु बन्धन तथा हिंसा अर्थ में है) "मीनाति" अर्थात् नष्ट करता है, ड प्रत्यय करने पर "नमः" शब्द बन जाता है, "नम" अर्थात् बन्धच्छोटक (११) अर्थात्

१-रक्षा करनेवाला ॥ २-गणित व्याख्या ॥ ३-भ्रमर (भौंरा ॥ ४-मद्य का त्याग करनेवाला ॥ ५-सूचनामात्र ॥ ६-मद्य आदिका त्याग करने वाला ॥ ७-श्रावकों॥ ८-उदय युक्त, अभ्युदय वाले ॥ ९-शिवमतानुयायी॥ १० अनद्यतन भूत (लङ्लकार) ॥ ११-बन्धनसे छुड़ाने वाला ॥

बन्दी का मोक्ष कर्ता (१) है, वह कैसा है कि "अरहन्ता" है "र" नाम नर का है, जो र नहीं है उसे अर अर्थात् असमर्थ [२] कहते हैं, अथवा अर नाम देवका है, अर अर्थात् देवों को जो भंग (३) करता है उसको अरभन् कहते हैं अरभन् नाम दैत्य का है, उन (दैत्यों) से जो "तायते" अर्थात् रक्षा करता है, (तायृङ् धातु सन्तान और पालन अर्थ में है) ("तायते" इस व्युत्पत्ति के करने पर ताः ऐसा रूप बनता है "क्विपियवोःक्विप्" इस सूत्र से यकार का लोप होनेपर "अरहन्ता" ऐसा पद बन जाता है) इस लिये यह अर्थ है कि वन्दि मोक्ष कर्ता (४) मन्त्र मणि आदि पदार्थ दैत्य भय निवारक (५) होता है, णम् शब्द पूरण अर्थ में है ॥

१०—न शब्द से ज्ञान का ग्रहण होता है तथा वह पांच प्रकार का है, इसलिये "नम्" अर्थात् पांच संख्या से "म" अर्थात् ज्ञान जिसके है उसे नम कहते हैं अर्थात् "नम्" शब्द से पञ्चम ज्ञानवान् (६) केवली का ग्रहण होता है (मानक् धातु मान और शब्द अर्थ में है उससे "मीयते" ऐसी व्युत्पत्ति के करने पर "म" शब्द बनता है और वह ज्ञान का वाचक है बाहुलक से भाव में ड प्रत्यय करने पर म शब्द सिद्ध होता होता है) वह केवली कैसा है कि-अरहन्" है, अर अर्थात् देवों को जो "हन्ति" अर्थात् प्राप्त होता है, इसलिये उसे अरहन् कहते हैं, तात्पर्य यह है कि वह देवसेव्य (७) है, तथा त्राण अर्थात् षट्काय (८) का रक्षक [९] भी है ॥

११—"अ" अर्थात् अकार को जो "रियन्ति" अर्थात् प्राप्त होते है (इस व्युत्पत्ति के करने पर ड प्रत्यय आने पर "अरा" ऐसा पद बनता है, रित् धातु गति अर्थ में है) इसलिये अर अर्थात् जो अकार प्रापक (१०) है, हकार जिनके अन्त में हैं, उन्हें हान्त कहते हैं, तात्पर्य यह है कि अकार से लेकर हकार पर्यन्त वर्ण (११) हैं, "नमोः" न ज्ञान को कहते हैं, तथा मा नाम शब्द का है, (माङक् धातु मान और शब्द अर्थ में है) उन दोनों

१-छुड़ानेवाला ॥ २-देव ॥ ३-नष्ट ॥ ४-बन्दी को छुड़ानेवाला ॥ ५-दैत्य के भय को हटानेवाला ॥ ६- पांचवें (केवल ज्ञान से युक्त ॥ ७-देवों से सेवा करने योग्य ॥ ८-पृथिवी आदि छः काय ॥ ९-रक्षा करनेवाला ॥ १०-पहुंचानेवाला ॥ ११-अक्षर ॥

का "औ" अर्थात् अवगमन (१) होता है, (अव धातु अवगमन अर्थ में भी है, "अवनम्" इस व्युत्पत्ति के करने पर "औ" शब्द बन जाता है इस में भाव अर्थ में क्विप् प्रत्यय होता है) "अरहंताणम्" इस पदमें चतुर्थी विभक्ति जाननी चाहिये, तात्पर्य यह है कि वर्णों से ज्ञान तथा शब्दोंका भी बोध[२] होता है ॥

७२-जैन मुनि भाषा के द्वारा आणा शब्द से बड़ी पूपिका (३) का कथन होता है, जो कि संसार में मण्डक नाम से प्रसिद्ध है, वे साधुओंके आणक हैं, आणों का जो समूह है उसे आण कहते हैं, (समूह अर्थ में अण् प्रत्यय हो जाता है), वह आण कैसा है कि–"नम" अर्थात् नमत् उदर हो जाता है जिस से उसे नमोदरा कहते हैं, अर्थात् बुभुक्षा (४) का नाम नमोदरा है उसको नष्ट करने वाला है, (क्विप् प्रत्यय करने पर रूप सिद्ध होता है, तथा स्वराणां स्वराः" इस सूत्र से अकार आदेश हो जाता है)॥

७३—अनेकार्थ संग्रह में "मूक" शब्द दैन्य तथा वाग्दीन (५) अर्थ में कहा गया है, मूकों का जो समूह है उसे मौक कहते हैं, ("षष्ठ्याः समूहे" इस सूत्र से अण् प्रत्यय हो जाता है, रह धातु त्याग अर्थ में है) मौकको जो त्याग करता है उसे मौकरह कहते हैं, वह नहीं है, कौन कि-"ला" अर्थात् लक्ष्मी को जो लाता है उसको लाम कहते हैं, अर्थात् धन का उपार्जन [६] करने वाला, वह दीन समूह का वर्जक [७] नहीं होता है, तात्पर्य यह है कि वह दीन समूहको प्रसन्न करता है, अतः दीन जन उसकी सेवा करते हैं ॥

७४-एकाक्षर कोष में "ग" अक्षर-प्रकट, निश्चल, प्रस्तुत, ज्ञान और बन्ध अर्थ का वाचक कहा गया है, इस लिये "ग" नाम बन्ध का है, और बन्ध शब्द से यहां कर्म बन्ध का ग्रहण होता है, उस का "रहन" अर्थात् त्याग करनेवाले पुरुष "नमोग" होते हैं, 'नमः" अर्थात् नमस्कार को जाते हैं अर्थात् प्राप्त होते हैं, इसलिये वे "नमोग" हैं, तात्पर्य यह है कि वे नमस्कार करने योग्य होते हैं ॥

१-ज्ञान ॥ २-ज्ञान ॥ ३-पूड़ी ॥ ४-भूख ॥ ५-वाग् अर्थात् वाणी (बोलने की शक्ति) से दीन (दुःखी रहित) ॥ ६-संग्रह॥ ७-त्याग करनेवाला ॥

७५—"ण" नाम ज्ञान का है, उसको "रहण" अर्थात् प्राप्त करते हैं, वे पुरुष "नमोण" होते हैं, ("नमन्ति" इस व्युत्पत्ति के करने पर ड प्रत्यय के करने पर न शब्द बनता है अतः) न अर्थात् प्रणाम (१) कारी जो पुरुष हैं उन को संसार से छुड़ाते हैं, अतः उन्हें "नमोण" कहते हैं (णिगन्त से क्विप् प्रत्यय होता है, रहु धातु गति अर्थ में है, यहां पर अनुस्वार का न होना चित्र के कारण जानना चाहिये)॥

७६—"नमो अरहंताणं" ॥ (णसि धातु कौटिल्य अर्थ में है, "नस नम्" इस व्युत्पत्ति के करने पर "नः" शब्द बनता है) "न" नाम कौटिल्य [२] का है, उस (कौटिल्य) को "अरहन्तः" अर्थात् न प्राप्त होनेवाले पुरुष "णम्" अर्थात् प्रकटतया (३) "अवन्ति" अर्थात् दीप्त होते हैं, (यहां अव धातु से क्विप् प्रत्यय करने पर ऊ शब्द बन जाता है, प्राकृत होनेके कारण "स्यं जस् शसां लुक्" इस सूत्र से जस् का लुक् हो जाता है, तथा अप-भ्रंश में व्यत्यय (४) भी होता है, इसलिये भाषा का व्यत्यय होनेसे प्राकृत में भी हो जाता है) ॥

७७—("मृदं करोति" इस व्युत्पत्ति के करने पर णिच् तथा अच् प्रत्यय के करने पर म शब्द बन जाता है) "म„ अर्थात् कुम्भकार (५) है, वह कैसा है कि "अरि" अर्थात् चक्र, उससे "अंहते" अर्थात् दीप्त होता है, अतः वह अरि हन्ता है, (सि का लुक् हो जाता है), नहीं नहीं होता है, अर्थात् होता ही है, आः शब्द पाद पूरण अर्थ में है ॥

७८—"मोक" अर्थात् कायिकी को "रहन्ताणम्" अर्थात् त्याग करते हुए अर्थात् परिष्ठापना (६) करते हुए साधुओं को "न" होता है, तात्पर्य यह है कि अविधि (७) से त्याग करने वाले साधुओंको "न" अर्थात् कर्मबन्ध होता है तथा विधि से त्याग करनेवाले साधुओंको तो "न" अर्थात् ज्ञान होता है, इस प्रकार विवक्षा के द्वारा दो अर्थ होते हैं ॥

७९—अब चौदह स्वप्नों का वर्णन किया जाता है-नम प्रह्वीभाव अर्थात् सम्यक्त्व को कहते हैं, उससे "अवति" अर्थात् दीप्त होता है, (अव धातु १९ अर्थों में है, उनमें से दीप्ति अर्थ वाला भी है) नमो रूप जो करी

१-प्रणाम करनेवाला ॥ २-कुटिलता, टेढ़ापन ॥ ३-स्पष्ट तथा, अच्छे प्रकार ॥ ४-विपर्यय ॥ ५-कुम्भार ॥ ६-मलोत्सर्ग ॥ ७-विना विधिके, अविधि के साथ ।

अथोत् हस्ती है, अर्थात् जो भीष्म गज है, वह ऋण अर्थात् दुःख को "हन्ति" अर्थात् नष्ट करता है, दुःख का कारण होनेसे ऋण नाम दुःख का है, कारण में कार्य का व्यवहार होता है, ("ऋणाम्" इस पद में "स्वराणां स्वराः" इस सूत्र से आकारादेश हो जाता है,) "हन्ताणाम्" इस पद में "पदयोः सन्धिर्वा" इस सूत्र से सन्धि करने पर "अधोमनयाम्" इस सूत्रसे यकार का लोप करने पर पद सिद्ध हो जाता है] ॥

८०—"रह" अर्थात् रथ को "तानयति" अर्थात् विस्तृत करता है, अर्थात् एक स्थानसे दूसरे स्थान को ले जाता है, ("न चारिव कृदन्तेरात्रेः" इस सूत्र से मान्त (१) हो जानेपर "रथम्" पद बन जाता है) "तान" नाम बैल का है, उस को "व अ" अर्थात् देखो ("नम" यह जो शब्द है उसे "हे नम," इस प्रकार सम्बोधन रूप जानना चाहिये, अर्थात् "नमति" इस व्युत्पत्ति के करने पर नमः शब्द बनता है, उसका सम्बुद्धि (२) में "हे नम" ऐसा पद हो जाता है) ॥

८१–(नहीच् [३] धातु बन्धन अर्थ में है, "नह्यते" इस व्युत्पत्ति के करने पर भाव में ड प्रत्यय के करने पर "न" शब्द बन जाता है), "न" नाम बन्धन का है, वह उपलक्षण [४] रूप है अतः दूसरी पीड़ा का भी ग्रहण होता है, उस (बन्धन) से जो मुक्त करता है उसे "नमोक्" कहते हैं, [णिगन्त से क्विप् प्रत्यय होता है] "करिहन्ता" सिंह का नाम है, नमोक् रूप करि हन्ता है, वह किनका है कि—"आणाम्" [अणी, अमी, धातु गति और आदान (५) अर्थ में है, तथा चकार से अनुकृष्ट [६] शोभा अर्थ में भी है अतः शोभा अर्थ वाले अणी धातु से ड प्रत्यय करने पर अः पद बन जाता है] अः अर्थात् शोभा देता हुआ अर्थात् पुण्यवान् मनुष्य, उन्होंने इस प्रकार के अर्थात् पीड़ा हारी [७] सिंह को देखा ॥

८२—"ता" नाम लक्ष्मी का है, उसका "आन" अर्थात् आसन है, [वर्णव्यत्यक होनेसे आन शब्द से आसन का ग्रहण होता है], वह [आसन] कैसा है कि—"नमोदरह" है, अर्थात् जिसमें "नम" अर्थात् नमत् उदर

१–मकारान्त (मकार है अन्त में जिसमें) ॥ २–सम्बोधन के एक वचन ॥
३–अन्यत्र धातु पाठ में "णह" धातु है ॥ ४–सूचनमात्र ॥ ५–ग्रहण ॥ ६–अनुकर्षणसे आया हुआ ॥ ७–पीड़ा को दूर करने वाला ॥

सया "ह" अर्थात् जल विद्यमान है, "एकार्थंह्वानेकं च" इस सूत्र से समास होता है, आसन पर बैठी हुई लक्ष्मी अपने आप को जल से सींचती है, इस प्रकार से लक्ष्मी के अभिषेक [१] को स्वप्न में देखा, [वर्णच्युति का वर्णन नैषध के आदि काव्य में किया गया है कि—"तथाद्रियन्ते न बुधाः सुधामपि" इस वाक्य में सुधा शब्द से वसुधा की व्याख्या करते हुए महाकवि टीकाकार ने वर्णच्युति को दिखलाया है] ॥

८३—गज, (२) वृषभ, (३) सिंह, पद्मासन, (४) स्रक्, (५) चन्द्र, (६) तपन, (७) पताका, कुम्भ, (८) अम्भोजसर, (९) अम्बुधि (१०) विमान, रत्नोच्चय (११) और अग्नि, ये चौदह स्वप्नों के नाम हैं, अर्थात् ये चौदह स्वप्न हैं, इनमें चार की व्याख्या कर दी है। अब स्रक् की व्याख्या की जाती है-"ह" नाम जल का है, उससे जो "लम्यते" अर्थात् विरहल होता है, उसे "हल्ल" कहते हैं, अर्थात् "हल्ल" नाम कमल का है, (कर्मकर्ता अर्थ में ड प्रत्यय होता है) कमलके उपलक्षण होनेसे अन्य भी पुष्पों को जानना चाहिये, (आसिक् (१२) धातु उपवेशन अर्थ में है, 'आसनम्" इस व्युत्पत्ति के करने पर "आस्" शब्द बनता है, कमलादि पुष्पों का "आस्" अर्थात् स्थान, इस प्रकार का जो वन्ध अर्थात् स्रग्रूप (१३) रचनाविशेष है उसे हल्लान कहते हैं, (प्राकृत में लिङ्ग अतन्त्र (१४) होता है अतः नपुंसक लिंग हो जाता है), वह कैसा है कि "नमोअरि" (रेफ और लकार की एकता होती है) "नम" अर्थात् प्रह्वीभाव, "आरतः" अर्थात् परतः समन्ता, उससे "ऊ" अर्थात् शोभा देते हुए भौंरे जिसमें विद्यमान हैं, (शोभा अर्थवाले अव् धातु से क्विप् प्रत्यय करने पर ऊ शब्द बनता है) ॥

८४—"म" अर्थात् चन्द्रमा है, वह कैसा है कि (नसि धातु कौटिल्य अर्थ में है, उससे "नसते" इस व्युत्पत्ति के करने पर नस् शब्द बनता है, क्विप् प्रत्यय के करने पर "अभ्वादेः" इस सूत्र से दीर्घ नहीं होता है, क्योंकि भ्वादि गणमें इसका पाठ है) जो न अर्थात् कुटिल नहीं है, अर्थात् पूर्ण है,

१—स्नान ॥ २—हाथी ॥ ३—बैल ॥ ४—कमलासन ॥ ५—माला ६—चन्द्रमा ७—सूर्य ॥ ८—घड़ा ॥ ९—कमलसरोवर १०—समुद्र ॥ ११—रत्नराशि १२—अन्यत्र धातु पाठ में आस् धातु है ॥ १३—माला रूप ॥ १४—अस्वतन्त्र, अनियत ॥

इस प्रकार का चन्द्रमा अरिहन्ता हो। (णाम् इस प्रयोग में अनुस्वार का अभाव चित्र होनेके कारण जानना चाहिये) ॥

८५—अब सूर्य का वर्णन किया जाता है-"नमो अरहंताणाम्" अहन् अर्थात् दिनको "तनोति" अर्थात् करता है, अतः अहस्तान नाम दिनकर (१) का है, उसके समान आचरण (२) करता है, (वृत्त (३) होनेके कारण) (आचार अर्थ में क्यन् और क्विप् प्रत्यय करने पर तथा उनके लोप हो जाने पर अर् शब्द बनता है) अर् रूप जो अहस्तान है अर्थात् वृत्त और दीप्यमान (४) जो सूर्य है, उसको "नमः" अर्थात् नमस्कार हो ॥

८६—तानसे उत्पन्न होनेके कारण तान नाम वस्त्र का है, क्योंकि कारणमें कार्य का व्यवहार होता है, वह तान कैसा है कि-"नमोदन्" है, नम अर्थात् नमन अर्थात् सब दिशाओंमें प्रसरण, (५) उससे "अवति" अर्थात् कान्तिवाला होता है, (क्विप् प्रत्यय के करने पर "नमु" शब्द बन जाता है, "दपहं अयति" इस व्युत्पत्ति के करने पर णिज् और क्विप् प्रत्ययके होने पर पदके अकार का लोप होनेपर दन् शब्द बनता है) नमुरूप जो दन् है उसको "नमोदन्" कहते हैं, "नमोदन्" शब्द से ध्वज जाना जाता है, (स्वराणां स्वराः" इस सूत्र से ओकार आदेश हो जाता है) उस ध्वज को तुम "रंह" अर्थात् जानो, (रहुण् धातु गति अर्थ में है, गत्यर्थक (६) धातु ज्ञानार्थक (७) होते हैं, इस कथन से यहां पर ज्ञान अर्थ लिया जाता है, चन्द्र के मत में णिच् अनित्य (८) है, इसलिये णिच् के न होनेपर "रंह" ऐसा पद सिद्ध हो जाता है, चित्र होनेके कारण अनुस्वार का होना और न होना निर्दोष (९) है) ॥

८७—अब कुम्भ का वर्णन किया जाता है-"ओकलः" कलशं अयति" इस व्युत्पत्ति के करने पर णिज् तथा क्विप् प्रत्यय के करने पर सम्बोधन में "ओकलः" ऐसा पद बनता है, इसमें "ओ" यह सम्बोधन पद है) हे कलशाश्रयिन् (१०) पुरुष ! तू (हिंट् धातु गति तथा वृद्धि अर्थमें है, "हयनम्" इस व्युत्पत्ति के करने पर "ह" शब्द बनता है), "ह" नाम वृद्धिका

१-सूर्य ॥ २-व्यवहार ३-गोलाकार ॥ ४-प्रकाशमान ॥ ५-फैलना ॥ ६-गति अर्थ वाले ॥ ७-ज्ञानअर्थवाले ॥ ८-असार्वकालिक ॥ ९-दोष रहित ॥ १०-कलशका आश्रय लेनेवाले ॥

है, उस (वृद्धि) के अन्त अर्थात् विनाश को मत "अख" अर्थात् कहो, कलशाश्रयी पुरुष की वृद्धि का अन्त न होवे, काम कुम्भ (१) अभिलाष पूरक (२) होता है, इसलिये ऐसा कहा जाता है, ("न" और "मा" ये दोनों शब्द निषेध बाचक (३) हैं, एक निषेध के होनेपर कार्य की सिद्धिके होनेपर द्वितीय निषेध दो बार बांधा हुआ सुबद्ध होता है, इस न्याय से जानना चाहिये तथा लोक प्रधानत्व (४) की अपेक्षा भी दो निषेध होते हैं, जैसे म न करि करि इत्यादि) ॥

८८—अब पद्मसरका वर्णन किया जाता है-"र" है, वह कैसा है कि "हन्ताः है हकार है अन्तमें जिसके, इस कथन से सकार का ग्रहण होता है, उससे "अमति" अर्थात् शोभा देता है, (इस प्रकार "हन्तास्" शब्द बन जाता है) इस कथन से "सरः" ऐसा पद बन गया, अब्ज अर्थात् कमलों का आश्रय लेता है, (इस प्रकार णिच् और क्विप् प्रत्यय के करने पर तथा उनका लोप करने पर अन्त्य स्वरादि (५) का लोप करने पर तथा "पदस्य" इस सूत्र से जकार का भी लोप करने पर "अब" ऐसा पद बन गया, "अन्त्यव्यञ्जनस्य" इस सूत्र से प्राकृत में बकार का भी लोप करने पर अम् ऐसा पद रह गया) इस कथन से भावार्थ (६) यह हुआ कि-पद्माश्रित (७) सर (८) है, वह कैसा है कि-"मोदयति" अर्थात् प्रसन्न करता है, इसलिये "मोदू है" इस प्रकार का "न न" अर्थात् नहीं है ऐसा नहीं है, दो निषेध प्रकृत (९) अर्थ के वाचक (१०) हैं, तात्पर्य यह है कि हर्षकारक (११) ही है ॥

८९—अब सागर का वर्णन किया जाता है-"नम" अर्थात् नमन अर्थात् सर्वत्र प्रसरण, उससे "अ" अर्थात् शोभा देता हुआ, इस प्रकार का "जलध्यन्त" अर्थात् समुद्र, अन्त शब्द स्वरूप अर्थ में है, वह कैसा है कि (टुनदु (१२) धातु समृद्धि अर्थ में है, आङ् पूर्वक नद् धातुसे "आनन्दयति" इस व्युत्पत्ति के करने पर आनन्द शब्द बनता है) "आनन्दयति" अर्थात्

१-काम कलश ॥ २-अभिलाषा को पूर्ण करनेवाला ॥ ३-निषेध को बतलाने वाला ॥ ४-लोक (संसार, लोक व्यवहार) की प्रधानता ॥ ५-टि ॥ ६-तात्पर्य ७-पद्मका आश्रय ॥ ८-सरोवर ॥ ९-प्रस्तुत, विद्यमान ॥ १०-कहनेवाला ॥ ११-हर्ष करनेवाला ॥ १२-अन्यत्र "टुनदि" धातु है ॥

रत्नाकर होनेसे सेवकों को समृद्धि प्राप्त करता है, (क्विप् प्रत्यय के परे "आनत्" शब्द बन जाता है)॥

९०—अब विमान का वर्णन किया जाता है—अन्त शब्द से निशान्त का ग्रहण होता है, क्योंकि पदके एकदेश में समुदायका व्यवहार होता है निशान्त नाम गृह का है, एकाक्षरकोष में "र" नाम—काम तीक्ष्ण, वैश्वानर, (१) तथा नर का कहा गया है, इस लिये यहां पर "र" शब्द से नर का ग्रहण होता है, जो "र" नहीं है उसे अर कहते हैं, "अर" नाम देव का है, अर अर्थात् देवों को "हन्ति" अर्थात् गमन करता है, अर्थात् देवाश्रित (२) होनेके कारण प्राप्त होता है, अतः वह "अरह" है, इस प्रकार का जो "अन्त" अर्थात् निशान्त (३) है, उसे "अरहन्त" कहते हैं, तात्पर्य यह है कि—अरहन्त नाम अमर विमान (४) का है, (उसका सम्बुद्धि (५) में हे "अरहन्त" ऐसा पद बनता है) तू "ऋण" अर्थात् दुःख को "नामय" अर्थात् दूर कर (नम इस पद में णिक् प्रत्यय का अर्थ अन्तर्गत जानना चाहिये, ओ शब्द हे शब्द के अर्थ में है) ॥

९१—"म" नम—चन्द्रमा, विधि, तथा शिव का कहा गया है, इसलिये यहां पर "म" नाम चन्द्र का है, उस (म) से जो "ऊत" अर्थात् कान्त है, उसे "मोत" कहते हैं, अर्थात् "मोत" नाम चन्द्रकान्त (६) का है, (कान्ति अर्थ वाले अव धातु से क्त प्रत्यय के करने पर ऊत शब्द बनता है और वह कान्त का वाचक है) "र" नाम अग्नि का है, उसके तुल्य, तथा "अहन्" नाम दिनका है,) अहः करोति" इस व्युत्पत्ति के करने पर णिज् तथा क्विप् प्रत्यय होने पर "अह" शब्द बनता है और वह सूर्य का नाम है) उसके समान जिसका अन्त अर्थात् स्वरूप है, अर्थात् सूर्यकान्त (७), इस कथन से यह सिद्ध हुआ कि—चन्द्रकान्त तथा वह्नि वर्ण (८) सूर्य कान्त आदि रत्न, उपलक्षण (९) होने से अन्य भी रत्नों का ग्रहण कर लेना चाहिये, उनका गण अर्थात् समूह है, (क ग च ज इत्यादि सूत्रसे गकार का लोप हो जाता है, "पदयोः सन्धिर्वा" इस सूत्रसे सन्धि हो जाती है—जैसे चक्काओ चक्रवाकः,"

१—अग्नि ॥ २ देवाधीन ॥ ३—गृह ॥ ४—देवविमान ५—सम्बोधन का एक वचन ॥ ६—एकप्रकार की मणि ॥ ७—एक प्रकार की मणि ॥ ८—अग्नि के समान वर्ण वाली ॥ ९—सूचनमात्र ॥

णिश् धातु समाधि अर्थ में है, इस लिये) "नेशति" अर्थात् समाधि को करता है, अर्थात् चित्तस्वास्थ्य (१) को बनाता है, (नश् धातु से ड प्रत्यय करने पर "न" शब्द बन जाता है) ॥

९२—अब अग्नि का वर्णन किया जाता है—जिसका "अज" अर्थात् छाग "रथ" अर्थात् वाहन है; उसका नाम अजरथ है, अर्थात् अजरथ नाम अग्नि का है वह अग्नि कैसा है कि—"त्र्यक्ष" है, जिसके तीन "अक्ष" अर्थात् शब्द हैं, तीन प्रकार का अग्नि होता है; यह कवि समय (२) है, उस को "नम" अर्थात् प्रणाम करो, ओ शब्द सम्बोधन अर्थ में है ॥

९३—नमो अरहंताणं ॥ "न" अर्थात् ज्ञानको " अरहन्ताणाम् " अर्थात् त्याग न करने वाले पुरुषोंका "उख्" होता है, (उख नख इत्यादि गत्यर्थक (३) दण्डक धातु है, "ओखणाम्" ऐसी व्युत्पत्ति के करने पर क्विप् प्रत्यय के आने पर "ओण्" ऐसा पद बनता है, अन्त्य (४) व्यञ्जन का लोप करने पर "ओ" रह जाता है, अतः) "ओ" अर्थात् गति होती है, गति वही है जो कि सद् गति है जैसे "कुलमें उत्पन्न हुआ पुरुष पाप नहीं करता है" इस वाक्य में कुल वही लिया जाता है जो कि सत्कुल है ॥

९४—("वाहनतया हंसंश्रयति" इस व्युत्पत्ति के करने पर णिङ् तथा क्विप् प्रत्यय होने पर "हन्" ऐसा पद बन जाता है, ओ शब्द सम्बोधन अर्थ में है, इस लिये) हे हन्" अर्थात् हे सरस्वति ! "नः" अर्थात् हमें "न" अर्थात् ज्ञान को तथा "ता" अर्थात् शोभा को 'तर" अर्थात् दे, (तृ धातु दान अर्थ में है, अन्यथा (५) विपूर्वक भी वह (६) दान अर्थ में नहीं रह सकता है, क्योंकि उपसर्ग धातु के अर्थ के ही द्योतक (७) होते हैं, इस लिये तृ धातु (८) दानार्थक है) ॥

९५—"अन्त" शब्द से हेमन्त का ग्रहण होता है, क्योंकि एक अवयव में समुदाय का व्यवहार होता है, "अहन्" अर्थात् दिन नमता है, उसको "नम" कहते हैं, अर्थात् नम नाम कृश (९) का है, हे हेमन्त ऋतु तुम "नम"

१—चित्त की स्वस्थता ॥ २—कवि सिद्धान्त ॥ ३—गति अर्थवाला ॥ ४—अन्त का ॥ ५—नहीं तो (यदि तृ धातु दान अर्थ में न हो तो) ॥ ६—तृ धातु ॥ ७—प्रकाशक ॥ ८—दान अर्थ वाला ॥ ९—दुबला ॥

अर्थात् कृश दिनको "अर" अर्थात् प्राप्त हो, सम् शब्द अलंकार अर्थ में है, हेमन्त में दिनकी (१)लघुता होती है यह प्रसिद्धि है ॥

९६—"र" नाम तीक्ष्ण का कहा गया है, इसलिये "र अर्थात् तीक्ष्ण अर्थात् उष्ण, जो "र" नहीं है उसे "अर" कहते हैं अर्थात् "अर" नाम "अतीक्ष्ण (२) का है, तथा "अर" शब्द से शिशिर ऋतु को जानना चाहिये, उस "अर", अर्थात् शिशिर ऋतु में (अपभ्रंश में इकार होता है, "व्यत्ययोऽप्यासाम्" इस सूत्र से व्यत्यय भी हो जाता है) "ह" नाम जल का है, उससे "तन्यते" अर्थात् विस्तार को प्राप्त होते हैं, उनको "हतान" कहते हैं, अर्थात् "हतान" जलरुह (पद्म) को कहते हैं, उनका "नम" अर्थात् नमन अर्थात् कृशता [३] होती है, यह बात प्रसिद्ध है कि शिशिर ऋतु में कमल हिमसे सूख जाते हैं ॥

९७—हकार जिसके अन्त में है उसे "हान्त" कहते हैं, हान्त शब्द से सकार को जानना चाहिये, उससे जो "असति" शोभा देता है, उसे "हान्तास्" कहते हैं, इस प्रकार का "रभ" अर्थात् शब्द है फिर वह कैसा है कि "उ अ" अर्थात् उकारसे "अवति" शोभा देता है, (उ अष् इस स्थिति में "अन्त्य व्यञ्जनस्य" इस सूत्र से षकार का लोप हो जाता है) "उरह" इस शब्द को सकार [४] युक्त कर दिया जाता है, तब "सुरह" ऐसा शब्द हो जाता है, इसका क्या अर्थ है कि "सुरभि" नाम वसन्त ऋतु का है, उसका जो पुरुष कथन करता है; अथवा उसकी स्तुति वा इच्छा करता है उसे सुरभ कहते हैं, (णिज् प्रत्यय करने पर तथा उसका (५) लोप करने पर रूप सिद्ध हो जाता है, क्विप् का भी लोप हो जाता है, "उ, अ, रह" यहां पर अन्त्य (६) व्यञ्जन का लोप होता है) सुरभ् शब्द से वसन्त की स्तुति करने वाले पुरुष का ग्रहण होता है, वा शब्द प्रकट तथा निष्फल अर्थ का वाचक कहा गया है, इसलिये "सम्" अर्थात् प्रकटता के साथ "नम" होता है, ("नमति" इस व्युत्पत्ति के करने पर "नम्" शब्द बनता है) नम् नम्रीभाव को कहते हैं अर्थात् सब कार्यों में उद्यत ॥

१–छोटाई, छोटापन ॥२–कोमल मृदु ॥३-दुर्बलता, कमी ॥४–सकारके सहित ॥ ५–णिज् प्रत्यय का ॥ ६–आखिरी ॥

९८—"र" नाम तीक्ष्ण का कहा गया है, अतः "र" अर्थात् उष्ण, अर्थात् ग्रीष्म ऋतु है वह कैसा है कि "ह" अर्थात् जल को अन्त को पहुंचाता है, अतः वह "हन्तान" है, तात्पर्य यह है कि ग्रीष्म में जलका शोष (१) हो जाता है, ("मोदयति" इस व्युत्पत्ति के करने पर "मोद" शब्द बनता है) ग्रीष्म ऐसा नहीं है, अर्थात् प्रायः परितापकारी (२) होने से वह मोदकृत् (३) नहीं होता है ॥

९९—"उ अर" ऐसे पद हैं इनका यह अर्थ है कि–ऋत्वर, (रह धातु-त्याग अर्थ में है) "रह्यते" अर्थात् त्याग किया जाता है, (यहां पर भाव अर्थ में उ प्रत्यय करने पर "र" शब्द बन जाता है) र नाम निन्द्य (४) का है, जो "र" नहीं है उसे "अर" कहते हैं, अर्थात् "अर" नाम उत्तम का है, ऋतुओं में जो "अर" अर्थात् उत्तम है उसे ऋत्वर कहते हैं, तात्पर्य यह है कि कि जो सब ऋतुओं में प्रधानहै उसका नाम ऋत्वर है, वह कौन सा है-यह बात विशेषण के द्वारा कही जाती है कि–" हतानः" "ह" अर्थात् जलको जो "तानयति" अर्थात् विस्तृत करता है उसका नाम "हतान", है अतः हतान नाम वर्षा ऋतु का है, वह कैसा है कि–"नम" है, "नमति" अर्थात् प्रह्वी करता है अर्थात् सब जनों को उद्यमी [५] करता है, [णिक् प्रत्यय का अर्थ अन्तर्गत [६] होने से नम् शब्द का अर्थ यह है कि वह सबको व्यापार में प्रवृत्त करने वाला है] ॥

१००—"अरहंत०" "आप" नाम जलका है, [रह धातु त्याग अर्थ में है] उस जलको "रहन्ति" अर्थात् त्याग करते हैं अर्थात् छोड़ते हैं,अतः "अरह" नाम मेघ का है, उस (मेघ) का जिससे "अन्त" अर्थात् विनाश होता है उसे "अरहान्त" कहते हैं, अर्थात् घनात्यय [७] शरद् ऋतुका नाम अरहान्त है, इस लिये हे अरहान्त अर्थात् हे शरद् ऋतु तू [म शब्द निषेध अर्थ में है, "नम" यह क्रिया पद है] "मा नम" अर्थात् कृश मत हो, शरद् ऋतु अति रमणीय [८] होता है; अतः [९] ऐसा कहा गया है ॥

१०१—अब नवग्रहों का वर्णन किया जाता है, उन में से सूर्य और

१–सूखना ॥ २–दुःख को करने वाला ॥ ३–आनन्दको करने वाला ॥ ४–निन्दा के योग्य ॥ ५–उद्यमवाला ॥ ६–अन्तर्भूत, भीतर रहा हुआ ॥ ७–घन का नाशक ॥ ८–सुन्दर ॥ ९–इसलिये ॥

चन्द्र पूर्ण हैं, उनमें भी सिद्धान्त वेदी [१] चन्द्रको प्रथम मानते हैं, "र" नाम तीक्ष्ण का कहा गया है, अतः "र" शब्द तीक्ष्ण का वाचक [२] है, जो 'र" नहीं है उसे "अर" कहते हैं, अर्थात् अर नाम शीतका है, "अरा" अर्थात् शीत "भा" अर्थात् कान्ति [३] जिसकी है उसका नाम "अरभ" है, अर्थात् "अरभ" नाम शीतगु [४] का है, उस को नमस्कार हो, वह चन्द्र ऐसा है कि "त्राण" है, अर्थात् सब नक्षत्र ग्रह और तारों का शरणभूत [५] अर्थात् नायक [६] है ॥

१०२—अब सूर्य का वर्णन किया जाता है–जिस की "रा" अर्थात् तीक्ष्ण "भा" अर्थात् कान्ति है उसे "रभ" कहते हैं, अर्थात् "रभ" नाम सूर्य का है, "रभ" अर्थात् सूर्य को नमस्कार हो, ("व्यत्ययोऽप्यासाम्" इन विभक्तियों का व्यत्यय भी होता है, इस कथन से चतुर्थी के अर्थ में द्वितीया होगई, व शब्द पूर्वोक्त [७] अर्थ के समुच्चय [८] अर्थ में है) वह "रभ" कैसा है कि "तान" है, तकार नाम एकाक्षर कोश में तस्कर [९] और युद्ध का कहा गया है, अतः यहां पर "त" नाम चोरका है, उन (चोरों) का जिस से अच्छे प्रकार "न" अर्थात् बन्धन होता है, उसे "तान" कहते हैं, उस तान (सूर्य) को नमस्कार हो, सूर्य का उदय होने पर चोरों का बन्धन होता ही है ॥

१०३—अब भौम [१०] का वर्णन किया जाता है–हे अर ! अर कैसा है कि–"आन" है, जिस में आकार का "न" अर्थात् बन्ध [११] होता है, इस कथन से "आर" नाम कुज [१२] का है, वह कैसा है कि–"हन्त" है, जिससे "ह" अर्थात् जल का अन्त होता है उसे "हान्त" कहते हैं, वह इस प्रकार का नहीं है अर्थात् जलदाता है, वह कैसा होकर जलदाता है कि–"मौः" "म" नाम चन्द्र; [१३] विधि [१४] और शिव का कहा गया है, अतः [१५] यहां पर "म" नाम चन्द्र का है उस को जो "अवति" अर्थात् प्राप्त होता है, उस को "मौः" कहते हैं (क्विप् प्रत्यय के करने पर "मौ" शब्द बनता है) तात्पर्य यह है कि चन्द्रसे युक्त भौम [१६] वर्षाकाल में वृष्टिदाता [१७] होता है ॥

१–सिद्धान्त के जानने वाले ॥ २–बतलाने वाला ३–प्रकाश ॥ ४–चन्द्रमा ॥ ५–आश्रयदाता ॥ ६–प्रधान मुख्य ॥ ७–पहिले कहे हुए ॥ ८–जोड़, योग ॥ ९–चोर ॥ १०–मङ्गल ॥ ११–जोड़ ॥ १२–मङ्गल ॥ १३–चन्द्रमा ॥ १४–ब्रह्मा ॥ १५–इसलिये ॥ १६–मङ्गल ॥ १७–वृष्टि का देने (करने) वाला ॥

१०४—अब बुध का वर्णन किया जाता है-"भ" नाम ब्रह्मा का है, वह "अवति" अर्थात् देवता होने से स्वामी होता है, (क्विप् प्रत्यय के करने पर "औ" शब्द बन जाता है, अव् धातु स्वामी अर्थ में है) इसलिये "भौ" नाम रोहिणी नक्षत्र का है, उस से उत्पन्न होता है, अतः "भौज" नाम बुधका है, क्योंकि बुध का नाम श्यामाङ्ग और रौहिणीसुत कहा गया है, "रिहभ्" "रै" नाम धन का है, वही "भ" अर्थात् भवन है, अर्थात् धनभवन है, "उस में स्थित" यह वाक्य शेष जानना चाहिये, "तानः" "ता" अर्थात् लक्ष्मी को जो लाता है उसे "तान" कहते हैं, इस प्रकार का नहीं है, किन्तु इस प्रकार का ही है, यह काकूक्ति [१] के द्वारा व्याख्यान करना चाहिये क्योंकि ज्योतिर्विद् (२) कहते हैं कि-धन भवन में स्थित बुध लक्ष्मी प्रद (३) होता है, ("ऐत एत् स्वराणां स्वराः" इस सूत्र से रै शब्द को इकार हो जाता है)॥

१०५—अब गुरु (४) का वर्णन किया जाता है "ल" नाम अमृत का कहा गया है, अतः "ल" शब्द से अमृत का ग्रहण होता है, ("अदनम्" इस व्युत्पत्ति के करने पर "अद्" शब्द बनता है), अद् नाम भोजन का है जिनके "अद्" अर्थात् भोजन में "ल" अर्थात् अमृत है उनको "अदल" कहते हैं, अर्थात् अदल नाम देवों का है, उनको जो "हन्ति" अर्थात् गमन करता है अर्थात् आचार्य रूपसे प्राप्त होता है उसको "अदलहन्ता" कहते हैं, इस प्रकार 'अदलहन्ता" शब्द सुराचार्य (५) अर्थात् जीववाचक (६) है, वह कैसा है कि-"आम" है जिससे "आ" अर्थात् अच्छे प्रकार से "म" अर्थात् ज्ञान होता है, उसे "आम" कहते हैं, अर्थात् वह ज्ञान दाता है, वह किस प्रकार का होकर ज्ञान दाता होता है कि-"नमः" "न" नाम बुद्धि का है, अर्थात् पञ्चम भवन, उसमें (मदुङ् धातु स्तुति मोद मद स्वप्न और गति अर्थ में है) जो 'मन्दते" अर्थात् गमन करता है उसको "नम" कहते हैं, (ड प्रत्यय के करने पर "नम" शब्द सिद्ध हो जाता है) तात्पर्य यह है कि लग्न में पञ्चम भवन में स्थित गुरु ज्ञान दाता होता है॥

१—शोक भय और कामादि से ध्वनि का जो विकार है उसे काकु कहते हैं॥ २—ज्योतिष को जानने वाले, ज्योतिषी॥ ३—लक्ष्मी का देनेवाला॥ ४—बृहस्पति॥ ५—बृहस्पति॥ ६—बृहस्पति॥

१०६—अब शुक्रका वर्णन किया जाता है-"लानः" लकार सोलहवां व्यञ्जन है, अतः "ल" शब्द सोलह का वाचक है, (असी और असी, ये दोनों धातु गति और आदान (१) अर्थ में भी हैं, यहां पर चकार से अनुकृष्ट (२) दीप्ति (३) अर्थ वाले अस् धातु से क्विप् प्रत्यय करने पर "अस्" ऐसा रूप बन जाता है अतः) "अस्" शब्द दीप्तियों का नाम है, अर्थात् किरणों का वाचक है, इसलिये "ल" अर्थात् सोलह जो "अस्" अर्थात् किरणें हैं, उनका "न" अर्थात् बन्ध अर्थात् योजना (४) जिसके है उसे "लान" कहते हैं, अर्थात् "लान" नाम शुक्रका है, (सन्धि करने पर तथा दीर्घ करने पर "अन्त्य व्यञ्जनस्य" इस सूत्र से सकार का लोप करने पर प्राकृत में रूपकी सिद्धि हो जाती है), व्यञ्जनोंके द्वारा संख्या का कथन करना ग्रन्थों में प्रसिद्ध है, जैसा कि-आरम्भसिद्धि में कहा गया है कि "विद्युन्मुख १ शूला २ शनि ३ केतु ४ उल्का ५ वज्र ६ कम्प ७ निर्घात ८ ड ५ ज ८ ढ १४ द १८ घ १९ फ २२ ब २३ भ २४ संख्यावाले धिष्ण्य में उपग्रह सूर्य के आगे रहते हैं" ॥१॥ इत्यादि, "षोडशार्चिर्दैत्यगुरुः" इस कथन से "लान" नाम षोडश (५) किरणवाले अर्थात् शुक्र का है, उस शुक्र का "नम" अर्थात् भजन करो, (धातुओं के अनेक अर्थ होते हैं अतः यहांपर नम् धातु भजन अर्थ में है), वह शुक्र कैसा है कि "ऊ अरहम्" (उन्दैप् धातु क्लेदन (६) अर्थ में है) जो "उनक्ति" अर्थात् रोगों से क्लिन्न (७) होता है उसको "उन्द्" कहते हैं, उस (उन्द्) को, "ल" नाम अमृत का कहा गया है, अतः यहां पर "ल" शब्द अमृत वाचक है, उस (अमृत) को "भवते" अर्थात् प्राप्त कराता है, (णिक् प्रत्यय का अर्थ अन्तर्भूत (८) है, भूङ प्राप्तौ धातु का ड प्रत्यय करने पर "उन्दलभः" ऐसा रूप बनता है, रेफ और लकार की एकता होती है, रोगार्त (९) को शुक्र अमृत का दान करता है, क्योंकि विद्वानों का मत है कि सञ्जीवनी विद्या शुक्र की ही है, अथवा "भ" नाम अलि (१०) और शुक्र का कहा गया है, अतः "भ" शब्द शुक्र का वाचक है, "अर" नाम शीघ्रगामी (११) का है,

---

१-ग्रहण ॥ २-खींचा हुआ ॥ ३-प्रकाश ॥ ४-जोड़ ॥ ५-सोलह ॥ ६-भिगाना, गीला करना ॥ ७-क्लेद युक्त ॥ ८-अन्तर्गत, भीतर रहा हुआ ॥ ९-रोग से पीड़ित ॥ १०-भौंरा ॥ ११-शीघ्र चलनेवाला ॥

"अर" रूप जो "भ" है उसको "अरभ" कहते हैं, उसकी "नम" अर्थात् सेवा करो, (रू यह सम्बोधन पद है) वह "भ" कैसा है कि "तान" है, शुभ कार्यों को जो "तानयति" अर्थात् विस्तृत करता है, उसको "तान" कहते हैं, क्योंकि शीघ्रगामी शुक्र अस्तङ्गत (१) न होकर शुभ होता)है, अर्थात् शुभ कार्य के लिये होता है ॥

१०७—अब शनि का वर्णन किया जाता है-विश्वप्रकाश में "आर" शब्द क्षितिपुत्र (२) तथा अर्कज (३) का वाचक कहा गया है, अतः "आर" शब्द शनिवाचक है, (स्वराणां स्वराः" इस सूत्र से प्राकृत में "अर" ऐसा शब्द हो जाता है) अथवा "अर" कैसा है कि "आन" है, जिसमें आकार का "न" अर्थात् वन्ध (४) है, (इस व्युत्पत्ति के द्वारा "आर" ऐसा शब्द हो गया) "आर" अर्थात् शनिको नमस्कार हो, यह उपहास नमस्कार (५) है, तात्पर्य यह है कि जिस लिये "हन्ता अर्थात् जनों को पीडा दायक (६) है, इसलिये हे "आर" तुझ को नमस्कार हो ॥

१०८—अब राहु का वर्णन किया जाता है-"उ अर ह" उदर (७) में हीन होता है, "उदरह" नाम राहु का है, शिरोमात्र रूप होनेसे राहु उदर हीन (८) है, वह कैसा है कि-"नम" है, (नशौष् (९) धातु अदर्शन (१०) अर्थ में है, "नश्यति" इस व्युत्पत्ति के करने पर ड प्रत्यय आनेपर न शब्द बन जाता है) इस प्रकार का "म" अर्थात् चन्द्रमा जिसके कारण होता है; अतः उसे "नम" कहते हैं, उपलक्षण (११) से सूर्य का भी ग्रहण होता है, राहु चन्द्र और सूर्य को ग्रसता है; अतः राहु से चन्द्र का नाश होता है, फिर वह कैसा है कि "तान" है, "त" नाम युद्ध का है, उसका वन्ध अर्थात् रचना जिससे होती है; अतः उसे "तान" कहते हैं, राहु की साधना के साथ युद्ध किया जाता है, इसलिये यह विशेषण युक्ति युक्त (१२) है ॥

१०९—अब केतुका वर्णन किया जाता है-"उदरह" नाम राहु का है,

१-अस्त को प्राप्त हुआ ॥ २-पृथिवी का पुत्र (शनि) ॥ ३-अर्क (सूर्य) से उत्पन्न (शनि) ॥ ४-जोड़, योग, संयोग ॥ ५-हंसी के साथ नमस्कार ॥ ६-पीड़ा (दुःख) का देनेवाला ॥ ७-पेट ॥ ८-पेट से रहित ॥ ९-अन्यत्र "णश" धातु कहा गया है ॥ १०-न दीखना ॥ ११-सूचनामात्र ॥ १२-युक्ति से सिद्ध ॥

इसकी व्याख्या पूर्व के समान जान लेनी चाहिये, उसकी "त" अर्थात् पुंसः अर्थात् केतु, एकाक्षर कोष में तकार तस्कर युद्ध क्रोड (१) और पुच्छ (२) अर्थ का वाचक कहा गया है, तथा ज्योतिर्विदों के मत में केतु राहु पुच्छ रूप (३) है, यह बात प्रसिद्ध है, क्योंकि कहा गया है कि "तत्पुच्छे जपुहायामापद्दुःखं विपक्षपरितापः" यहांपर "तत्पच्छ" शब्द से राहुपुच्छ अर्थात् केतु का ग्रहण होता है, यह वाक्य ताजिक में है, हे उदरहत ! तू खल अर्थात् खल के समान आचरण कर, "मा" शब्द निषेध अर्थ में है, जिस प्रकार खल दुःखदायक है उसी प्रकार केतु भी उदित (४) होकर जनों को पीड़ा पहुंचाता है; इसलिये ऐसा कहा गया है कि तू खल के समान मत हो, नकार भी निषेध अर्थ में है, दो बार बांधा हुआ सुबद्ध (५) होता है; इस लिये दो निषेध विशेष निषेध के लिये है ॥

११०—अब नवरसों (६) का वर्णन किया जाता है—उनमें से पहिले शृङ्गार रस का वर्णन करते हैं, देखो—कोई कामी पुरुष कुपित (७) हुई कामिनी (८) को प्रसन्न करने के लिये कहता है कि-"हे नमोदरि" अर्थात् हे कृशोदरि (९) ! तू "अण" अर्थात् बोल, "हन्त" यह अव्यय कोमला-मन्त्रण (१०) अर्थ में है, "नम" अर्थात् नमत् अर्थात् कृश है उदर जिसका उस को नमोदरी अर्थात् क्षामोदरी (११) कहते हैं, उसका सम्बोधन "हे नमोदरि" ऐसा बन जाता है (१२) ॥

श्रीपरमगुरु श्रीजिनमाणिक्य सूरि के शिष्य पण्डित विनयसमुद्र गुरु-राज की पादुकाके प्रसाद से ज्ञान को प्राप्त होकर पण्डितगुणरत्न मुनि (१३) ने इसे लिखा ॥ श्रीः, श्रीः, शम्भवतु ॥

यह दूसरा परिच्छेद समाप्त हुआ ॥

१–गोद ॥ २–पूंछ ॥ ३–राहु की पूंछ रूप ॥ ४–उदय युक्त ॥ ५–अच्छे प्रकार से बंधा अथवा बांधा हुआ ॥ ६–नौ ॥ ७–क्रुद्ध ॥ ८–स्त्री ९–दुर्बल उदरवाली ॥ १०–कोमलता (नम्रता) के साथ सम्बोधन करना ॥ ११–कृश दुर्बल उदर वाली ॥ १२–नवरसके वर्णन के अधिकार की प्रतिज्ञा कर प्रथम इसके वर्णन में ही ग्रन्थका समाप्त होना ग्रन्थ के विच्छेद का सूचक है ॥ १३–ये पण्डित गुणरत्नमुनि कब हुए, इसका ठीक निश्चय नहीं होता है ॥

अथ तृतीय परिच्छेदः ।

श्रीहेमचन्द्राचार्य जी महाराज प्रणीत योगशास्त्र नामक सद्ग्रन्थ से उद्धृत मन्त्रराज के विषय में उपयोगी विभिन्न विषयों का सङ्ग्रह * ।

छद्मस्थ योगियोंका मनः स्थिरतारूप (१) ध्यान एक मुहूर्त तक रहता है, वह (ध्यान) दो प्रकार का है-धर्म्यध्यान तथा शुक्लध्यान, अयोगी केवलियों का योग (मन वचन और काय) का निरोध रूप ही ध्यान होता है (२) ॥ ११५ ॥

अथवा मुहूर्त कालके पश्चात् भी चिन्तनरूप ध्यानान्तर (३) हो सकता है तथा बहुत अर्थों का सङ्क्रम (४) होने पर दीर्घ (५) भी ध्यान की परम्परा हो सकती है ॥ ११६ ॥

धर्म्यध्यान के उपकार के लिये मैत्री, प्रमोद, कारुण्य तथा माध्यस्थ्य को भी जोड़ना चाहिये; क्योंकि वे [प्रमोद आदि] उस (ध्यान) के रसायन [पुष्टिकारक] हैं ॥ ११७ ॥

कोई प्राणी पापों को न करे तथा कोई प्राणी दुःखित न हो; यह जगत् भी मुक्ति को प्राप्त हो, इस प्रकार की बुद्धि का नाम मैत्री है ॥ ११८ ॥

सब दोषों का नाश करने वाले तथा, वस्तुतत्त्व (६) को देखने वाले [मुनियों] के गुणों में जो पक्षपात (७) है वह प्रमोद कहा गया है ॥११९॥

---

* यह संग्रह उक्त ग्रन्थ के चतुर्थ प्रकाश के ११५ वें श्लोक से लेकर किया गया है तथा मूल श्लोकों को ग्रन्थ के विस्तार के भयसे न लिख कर केवल श्लोक का अर्थ ही लिखा गया है तथा अर्थ के अन्त में श्लोक संख्या का अङ्क लिख दिया गया है ॥

१-मन का स्थिर होना रूप ॥ २-तात्पर्य यह है कि अयोगी केवली कुछ कम पूर्व कोटि तक मन वचन और काय के व्यापार के साथ विहार करते हैं तथा मोक्ष समयमें उक्त व्यापारका निरोध करते हैं ॥ ३-दूसरा ध्यान ॥ ४-मिश्रण, मिलावट ॥ ५-लम्बी, बड़ी ॥ ६-वस्तुके यथार्थ स्वरूप ॥ ७-तरफदारी, श्रद्धा, विश्वास, प्रवृत्ति ॥

दीन, (१) आर्त, (२) भीत (३) तथा जीवन की याचना करने वाले जीवों के विषय में जो उपाय की बुद्धि (४) है उसे कारुण्य कहते हैं ॥१२०॥

क्रूर (५) कर्म करने वाले देव और गुरु की निन्दा करने वाले तथा अपनी श्लाघा (६) करने वाले जीवों में निःशङ्क होकर जो उपेक्षा (७) करना है उसे माध्यस्थ्य कहते हैं ॥ १२१ ॥

इन भावनाओं के द्वारा अपने को भावित (८) करता हुआ अतिबुद्धिमान् पुरुष टूटी हुई भी विशुद्ध ध्यानकी सन्तति (९) को जोड़ सकता है ॥१२२॥

योगी पुरुष को आसनों का जय (१०) करके ध्यान की सिद्धि के लिये तीर्थ (११) स्थान अथवा स्वस्थता के कारणरूप किसी एकान्त स्थान (१२) का आश्रय लेना चाहिये ॥ १२३ ॥

पर्यङ्कासन, वीरासन, वज्रासन, अब्जासन, भद्रासन, दण्डासन, उत्कटिकासन गोदोहिकासन तथा कार्योत्सर्ग, ये आसन हैं ॥ १२४ ॥

दोनों जङ्घाओं के अधोभाग को पैरों के ऊपर करने पर नाभिपर्यन्त दक्षिण (१३) तथा वाम (१४) हाथको ऊपर रखनेसे पर्यङ्कासन होता है ॥ १२५ ॥

जिस आसन में वाम पैर दक्षिण जङ्घा पर तथा दक्षिण पैर वाम जङ्घा पर रक्खा जाता है उसे वीरासन कहते हैं, यह आसन वीरों के लिये उचित है ॥ १२६ ॥

ऊपर लिखे अनुसार वीरासन कर लेने पर पृष्ठ भाग (१५) में वज्र के समान आकृति (१६) वाले दोनों बाहुओं से जिस आसन में दोनों पैरों के अङ्गुष्ठों (१७) का ग्रहण किया जाता है उसे वज्रासन कहते हैं ॥ १२७ ॥

पृथिवी पर पैर को रखकर तथा सिंहासन पर बैठ कर तथा उस आसन का अपनयन (१८) होने पर जो वैसी ही अवस्थिति (१९) है उस को कोई लोग वीरासन कहते हैं ॥ १२८ ॥

१-धनहीन ॥ २-दुःखित ॥ ३-डरा हुआ ॥ ४-"इन का उक्त दुःखों से निस्तार होनेका यह उपाय है" इस का विचार करना ॥ ५-कठोर ॥ ६-प्रशंसा ॥ ७-मनकी अप्रवृत्ति ॥ ८-संस्कृत, संस्कार युक्त, वासित ॥ ९-परम्परा ॥ १०-अभ्यास ॥ ११-तीर्थङ्करों के जन्म, दीक्षा, ज्ञान तथामोक्ष होने का स्थान ॥ १२-पर्वत गुफा आदि स्थान ॥ १३-दहिने ॥ १४-बायें ॥ १५-पिछले भाग ॥ १६-आकार, स्वरूप, १७-अंगूठों ॥ १८-खिसकना, हटजाना ॥ १९-स्थिति, अवस्था, अवस्थान, बैठक ॥

[किन्तु–पतञ्जलि ऋषि ने तो यह माना है कि–खड़े रहकर एक पैर को पृथिवी पर रक्खे रहना तथा दूसरे पैर को घुटने तक खींचकर ऊंचा रखना, इस का नाम वीरासन है]।

एक जङ्घा के मध्यभाग में दूसरी जङ्घा का जिस में संश्लेष (१) होता है उसे आसन ज्ञाता (२) जनों ने पद्मासन कहा है ॥ १२९ ॥

मुष्क (३) के अग्रभाग में पैरों के दोनों तलभागों को सम्पुट (४) करके उस के ऊपर हाथ की कच्छपिका (५) करने से जो आसन होता है उसे भद्रासन कहते हैं ॥ १३० ॥

जिस में बैठ कर मिली हुई अङ्गुलियों को; मिले हुए गुल्फों (६) को और पृथिवी से संश्लिष्ट (७) दोनों जङ्घाओं को तथा पैरों को पसारना पड़ता है उसे दण्डासन कहते हैं ॥ १३१ ॥

पुत (८) तथा चरणतलों (९) के संयोग करने को उत्कटिकासन कहते हैं तथा चरणतलोंसे पृथिवी का त्याग करने पर गोदोहिकासन होता है ॥१३२॥

दोनों भुजों को लम्बा कर खड़े रह कर अथवा बैठे रहकर शरीर की अपेक्षा से रहित जो स्थिति है उसे कायोत्सर्ग (१०) कहते हैं (११) ॥ १३३ ॥

जिस २ आसन के करने से मन स्थिर रहे; उसी २ आसन को ध्यानकी सिद्धि के लिये करना चाहिये ॥ १३४ ॥

सुखकारी (१२) आसन से बैठ कर दोनों ओष्ठों को अच्छे प्रकार से मिलाकर; दोनों नेत्रों को नासिका के अग्रभाग पर डाल कर; ऊपर के तथा नीचले दाँतों को न मिला कर; प्रसन्न मुख होकर; पूर्व की ओर तथा उत्तर की ओर मुख करके; प्रमादसे रहित होकर; शरीर के सन्निवेश (१३) को ठीक करके, ध्यानकर्त्ता पुरुष ध्यान के लिये उद्यत हो ॥ १३५ ॥ १३६ ॥

१–मेल संयोग ॥ २–आसनों के जानने वाले ॥ ३–अण्डकोष ॥ ४–गड्ढा ॥ ५–कमठी ॥ ६–घुटिकाओं ॥ ७–मिली हुई ॥ ८–कूले ॥ ९–पैरों के तलवों ॥ १०–जिन कल्पिक लोग केवल खड़े २ ही कायोत्सर्ग करते हैं तथा स्थविर कल्पिक जन बैठे २ तथा सोते २ भी कायोत्सर्ग करते हैं ॥ ११–यहां पर केवल आवश्यक आसनों का वर्णन किया गया है ॥ १२–सुखदायक ॥ १३–अवयव विभाग

क—इसलिये किन्हीं लोगों ने (१) ध्यान की सिद्धि के लिये प्राणायाम को माना है; क्योंकि उसके बिना मन और पवनका जय नहीं होसकता है ॥१॥

जहां मन है वहां पवन है तथा जहां पवन है वहां मन है; इस लिये समान (२) क्रिया वाले ये दोनों क्षीर और नीर के समान संयुक्त हैं ॥ २ ॥

एक का नाश होने पर दूसरे का भी नाश हो जाता है तथा एक की स्थिति होने पर दूसरे की भी स्थिति होती है, इन दोनों का नाश होने पर इन्द्रिय तथा बुद्धि का भी नाश हो जाता है तथा उस से मोक्ष होता है ॥३॥

श्वास और प्रश्वास की गति के रोकने को प्राणायाम कहते हैं; वह प्राणायाम तीन प्रकार का है—रेचक, पूरक और कुम्भक ॥ ४ ॥

कोई आचार्य प्रत्याहार, शान्त, उत्तर तथा अधर, इन चार भेदों को उक्त तीनों भेदों में मिलाकर प्राणायाम को सात प्रकार का कहते हैं ॥ ५ ॥

कोष्ठ (४) में से अति यत्न पूर्वक नासिका, ब्रह्मपुर तथा मुख के द्वारा जो वायु का बाहर फेंकना है; उसे रेचक कहते हैं ॥ ६ ॥

वायु का आकर्षण कर (५) अपान द्वार (६) पर्यन्त जो उस को पूर्ण करता है उसे पूरक कहते हैं तथा नाभिकमल में स्थिर करके जो उसे रोकना है उसे कुम्भक कहते हैं ॥ ७ ॥

एक स्थान से खींचकर जो वायु का दूसरे स्थान में ले जाना है उसे प्रत्याहार कहते हैं तथा तालु, नासिका और मुखद्वार से जो उसे रोकना है उस का नाम शान्त है ॥ ८ ॥

बा (७) पवन को पीकर तथा उसे ऊर्ध्व भाग (८) में खींचकर हृदय आदि स्थानों में जो उस का धारण करना है उसे उत्तर (९) कहते हैं तथा

क—अब यहां से उक्त ग्रन्थ के पांचवें प्रकाश का श्लोकार्थ किया जाता है, श्लोकार्थ के अन्त में पूर्वानुसार श्लोकसंख्या का अङ्क लिख दिया गया है ॥

१—पतञ्जलि आदि ने ॥ २—एक ॥ ३—रेचक पूरक तथा कुम्भक में ॥ ४—कोठे ॥ ५—खींचकर ॥ ६—गुद द्वार ॥ ७—बाहरी ॥ ८—ऊपर के भाग में ॥ ९—उत्तर अर्थात् नीचे भाग से ऊपरी भाग में ले जाना ॥

इससे जो विपरीत करना (१) है उसे अधर (२) कहते हैं ॥ ९ ॥

रेचन के करने से उदर की व्याधि तथा कफ का नाश होता है तथा पूरक के करने से पुष्टि और व्याधि का नाश होता है ॥ १० ॥

कुम्भक के करने से हृदयकमल शीघ्र ही विकसित (३) होजाता है, भीतर की ग्रन्थि (४) छिन्न (५) हो जाती है तथा बल और स्थिरता की भली भांति वृद्धि होती है ॥ ११ ॥

प्रत्याहार से बल और कान्ति (६) बढ़ती है तथा शान्ति से दोषों की शान्ति होती है तथा उत्तर और अधर का सेवन करने से कुम्भक की स्थिरता होजाती है ॥ १२ ॥

स्थान, वर्ण, क्रिया, अर्थ और बीज का जानने वाला पुरुष प्राणायाम के द्वारा प्राण (७) अपान, समान, उदान और व्यान वायु को भी जीत सकता है ॥ १३)

प्राण वायु नासिका के अग्रभाग, हृदय, नाभि तथा चरणों के अङ्गुष्ठों (८) के अन्त में रहता है, उसका वर्ण हरा है तथा गमनागमन (९) के व्यवहार से अथवा धारण से उसका विजय होता है ॥ १४ ॥

नासिकादि स्थान के योग से वारम्वार पूरण तथा रेचन करने से गमनागमन का व्यवहार होता है तथा कुम्भन से धारण होता है ॥ १५ ॥

अपान वायु का वर्ण कृष्ण है, वह गले की पिछली नाड़ियों में गुदा में तथा चरणों के पृष्ठ भाग में रहता है, वह अपने स्थान के योग से वारम्वार रेचन और पूरण के करने से जीता जासकता है ॥ १६ ॥

समान वायु शुक्ल है, वह नाभि, हृदय तथा सर्वसन्धि (१०) स्थानों में रहता है वह भी अपने स्थान के योग (११) से वारम्वार रेचन और पूरण करने से जीता जा सकता है ॥ १७ ॥

१-बाह्य पवन को पीकर उसे खींचकर जो नीचे स्थानों में ले जाकर धारण करना ॥ २-अधर अर्थात् ऊपरी भागसे नीचले भाग में लेजाना ॥ ३-खिला हुआ ॥ ४-गांठ ॥ ५-कटी हुई ॥ ६-शोभा, दीप्ति ॥ ७-प्राण आदि वायु का ज्ञान आगे कहा जावेगा ॥ ८-अंगूठों ॥ ९-जाना आना ॥ १०-जोड़ ॥ ११-सम्बन्ध ॥

उदान वायु रक्त (१) है, वह हृदय, कण्ठ, तालु, भ्रूमध्य (२) तथा मस्तक में रहता है, उसको गमन और आगमन के नियोग (३) से वश में करना चाहिये ॥ १८ ॥

नासिका के आकर्षण (४) के योग (५) से उसको हृदय आदिमें स्थापित करना चाहिये तथा बलपूर्वक उसे ऊपर को चढ़ाकर रोक २ कर वश में करना चाहिये ॥ १९ ॥

व्यान वायु सर्वत्र त्वक् (६) में रहता है, उसका वर्ण इन्द्र धनुष् के समान है, उसे सङ्कोच (७) और प्रसरण (८) के क्रम से कुम्भक के अभ्यास से जीतना चाहिये ॥ २० ॥

प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान इन पवनों में क्रम से यैं, पैं, वैं, लौं, इन बीजों का ध्यान करना चाहिये ॥ २१ ॥

प्राण वायुका विजय करने पर जठराग्नि की प्रबलता, दीर्घश्वास, वायु का जय तथा शरीर का लाघव (९) होता है ॥ २२ ॥

समान और अपान वायु का विजय करने पर क्षत (१०) और भङ्ग (११) आदि का रोहण (१२) होता है, जठराग्नि का प्रदीपन होता है, मांस की अल्पता होती है तथा व्याधि का नाश होता है ॥ २३ ॥

उदान वायु का विजय करने पर उत्क्रान्ति (१३) तथा जल और पङ्क (१४) आदि से अबाधा (१५) होती है तथा व्यान वायु का विजय करने पर शीत और उष्ण से अबाधा, कान्ति तथा निरोगता होती है २४ ॥

प्राणी के जिस २ स्थान में पीड़ा दायक (१६) रोग हो, उसकी शान्ति के लिये उसी स्थान पर प्राणादि पवनों को धारण करे ॥ २५ ॥

इस प्रकार बारम्बार प्राण आदि के विजय (१७) में अभ्यास कर मन की स्थिरता के लिये सदा धारण आदि का अभ्यास करना चहिये ॥२६॥

१–लाल ॥ २–भौंहोंका बीच का भाग ॥ ३–निरोध, रुकावट ॥ ४–खींचना ॥ ५–सम्बन्ध ॥ ६–त्वचा, चमड़ी ॥ ७–सिकोड़ना ॥ ८ फैलाना ॥ ९–लघुता, हलकापन १०–घाव, जखम ॥ ११–हड्डी आदिका टूटना ॥ १२–भरजाना, जुड़जाना ॥ १३–उल्लङ्घन उलांघना ॥ १४–कीचड़ ॥ १५–बाधा (पीड़ा) का न होना ॥ १६–पीड़ा को करनेवाले ॥ १७–जीतने ॥

ऊपर कहे हुए आसनपर बैठकर चरणके अङ्गुष्ठ पर्यन्त (१) धीरे २ पवन का रेचन कर उसको वाम मार्ग से पूर्ण करे, पहिले मनके साथ पैर के अङ्गुष्ठ में रोककर पीछे पादतल में रोके, तदनन्तर पार्ष्णि, (२) गुल्फ, (३) जङ्घा, जानु, (४) ऊरु, (५) गुद, (६) लिङ्ग, नाभि, तुन्द, (७) हृदय, कण्ठ जिह्वा, तालु नासिका, का अग्रभाग, नेत्र, भ्रू, (८) मस्तक तथा शिरमें धारण करे, इस प्रकार से रश्मि (९) के क्रम से ही पवन के साथ धारण कर तथा उसे एक स्थान से दूसरे स्थानमें ले जाकर ब्रह्मपुरतक ले जावे, तदनन्तर नाभि कमल के भीतर लेजाकर वायु का विरेचन कर दे ॥२७-३१॥

पैर के अङ्गुष्ठ आदिमें; जंघा में; जानुमें; ऊरुमें; गुद में तथा लिङ्गमें क्रमसे धारण किया हुआ वायु शीघ्रगति तथा बलके लिये होता है, (१०) नाभि में धारण किया हुआ ज्वरादि के नाश के लिये होता है, जठर (११) में धारण किया हुआ शरीर की शुद्धि के लिये होता है, हृदय में धारण किया हुआ ज्ञान के लिये तथा कूर्म नाड़ी में धारण किया हुआ रोग और बुढ़ापेके नाश के लिये होता है, कण्ठ में धारण किया हुआ भूख और प्यास के नाश के लिये तथा जिह्वा के अग्रभागमें धारण किया हुआ रस ज्ञान (१२) के लिये होता है, नासिका के अग्रभागमें धारण किया हुआ हुआ गन्ध के ज्ञानके लिये तथा नेत्रोंमें धारण किया हुआ रूप के ज्ञान के लिये होता है मस्तक में धारण किया हुआ रूप के ज्ञान के लिये होता है, मस्तक में धारण किया हुआ मस्तक सम्बन्धी रोगोंके नाश के लिये तथा क्रोधकी शान्ति के लिये होता है तथा ब्रह्मरन्ध्र (१३) में धारण किया हुआ सिद्धोंके साक्षात् (१४) दर्शन के लिये होता है ॥३२-३५॥

इस प्रकार से धारणा का अभ्यास कर पवन की चेष्टा को निस्सन्देह होकर (१५) सिद्धियों का (१६) प्रधान (१७) कारण जाने ॥३६॥

१-अंगूठेतक ॥ २-एड़ी ॥ ३-घुटिका ॥ ४-घुटना ॥ ५-जंघा ॥ ६-मलद्वार ॥ ७-तोंद, पेट ॥ ८-भौंह ॥ ९-पंक्ति ॥ १०-बलको देता है ॥ ११-पेट ॥ १२-मधुर आदि रसोंका ज्ञान ॥ १३-ब्रह्मछिद्र ॥ १४-प्रत्यक्ष ॥ १५-सन्देह रहित होकर, शङ्काको छोड़कर ॥ १६-अणिमा आदि आठ सिद्धियों का ॥ १७-मुख्य ॥

नाभिसे सञ्चरण (१) को निकालते हुए, हृदय में गति को ले जाते हुए तथा द्वादश (२) के अन्त में ठहरते हुए पवन के स्थान को जाने ॥३७॥

उसके सञ्चरण, गमन तथा स्थान का ज्ञान होनेसे अभ्यास के योगसे शुभ और अशुभ फलोदय से युक्त काल तथा आयु को जाने ॥३८॥

पीछे योगी पुरुष पवन के साथ मन को धीरे २ खींच कर उसे हृदय कमल के भीतर ठहरा कर नियन्त्रित (३) कर दे ॥३९॥

ऐसा करने से अविद्यायें नष्ट हो जाती हैं, विषय की इच्छा का नाश होता है, विकल्पों (४) की निवृत्ति होती है तथा भीतर ज्ञान प्रकट होता है ॥४०॥

वहां चित्त के स्थिर कर लेनेपर वायु की किस मण्डल में गति है, कहां संक्रम (५) है, कहां विश्राम है तथा कौनसी नाड़ी है, इन सब बातों को जान सकता है ॥४१॥

नासिका के विवर (६) में भौम, वारुण, वायव्य तथा आग्नेय नामक क्रम से चार मण्डल माने गये हैं ॥४२॥

उनमें से भौम मण्डल पृथिवी के बीज से सम्पूर्ण, वज्र के चिन्ह से युक्त, चौकोन तथा तप्त (७) सुवर्ण के समान आकृतिवाला, वारुण अक्षर से लांछित (१०) चन्द्र के समान कान्तिवाला तथा अमृत के झरनेके समान सान्द्र(११) है॥४४॥

वायव्य मण्डल स्निग्ध [१२] अञ्जन तथा बादलोंके समान कान्तिवाला अत्यन्त गोल बिन्दु से युक्त, दुर्लक्ष्य, [१३] पवनसे आक्रान्त [१४] तथा चञ्चल है ॥४५॥

आग्नेय मण्डल को ऊर्ध्व ज्वाला से युक्त, भयङ्कर, त्रिकोण, स्वस्तिक [१५] से युक्त, स्फुलिङ्ग [१६] के समान पिङ्ग [१७] तथा तद्बीजरूप जानना चाहिये ॥४६॥

१-गति क्रिया ॥ २-ब्रह्मरन्ध्र ॥ ३-स्थापित बद्ध ४-सन्देहों ॥ ५-गति क्रिया ॥ ६-छिद्र ॥ ७-तपा हुआ ८-आधा चन्द्रमा ॥ ९-वकार १०-चिन्ह युक्त ॥ ११-आर्द्र मिलन ॥ १२-चिकना ॥ १३-कठिनतासे जानने योग्य ॥ १४-दबाया हुआ ॥ १५-साथिया ॥ १६-अग्निकण ॥ १७-पीला ॥

अभ्यास के द्वारा उक्त चारों मण्डल अपने आप ही जान लिये जाते हैं, इन चारों मण्डलों में क्रम से घूमने वाले वायु को भी चार प्रकार का जानना चाहिये ॥ ४७ ॥

पीत (१) वर्णों के द्वारा नासिका के छिद्र को भर कर–धीरे २ चलने वाला, कुछ उष्ण, आठ अंगुल प्रमाण वाला तथा स्वच्छ वायु पुरन्दर (२) कहा जाता है ॥ ४८ ॥

श्वेत, शीतल, नीचे के भाग में शीघ्र २ चलने वाला तथा १२ अङ्गुल परिमाण वाला जो वायु है उसे वरुण कहते हैं ॥ ४९ ॥

उष्ण, शीत, कृष्ण, निरन्तर तिरछा चलने वाला, तथा छः अङ्गुल परिमाण वाला वायु पवन नामक है ॥ ५० ॥

बाल सूर्य (३) के समान ज्योति वाला, अतिउष्ण, चार अङ्गुल प्रमाण वाला, आवर्त्तयुक्त (४) तथा ऊपर को चलने वाला जो वायु है उसे दहन (५) कहते हैं ॥ ५१ ॥

स्तम्भनादि कार्यों में इन्द्रको, उत्तम कार्यों में वरुण को, मलीन तथा चञ्चल कार्यों में वायु को, तथा वश्य आदि कार्यों में वह्नि को उपयोग (६) में लाना चाहिये ॥ ५२ ॥

पुरन्दर वायु–छत्र, (७) चामर, (८) हस्ती, (९) अश्व, (१०) आराम (११) और राज्यादि सम्पत्ति रूप अभीष्ट फल को सूचित करता है, वरुण वायु राज्यादि से सम्पूर्ण पुत्र स्वजन तथा बन्धुओं के साथ तथा सार (१२) वस्तु के साथ शीघ्र ही संयोग कराता है, पवनके होने पर कृषि और सेवा आदि सिद्ध भी सब कार्य नष्ट हो जाता है, मृत्यु का भय, कलह वैर और त्रास (१३) भी होता है, दहन स्वभाव वाला (१४) दहन (१५) वायु भय, शोक, रोग, दुःख, विघ्नसमूह की श्रेणि (१६) तथा विनाशको सूचित करता है ॥५३–५६ ॥

ऊपर कहे हुए ये सब ही वायु चन्द्र और सूर्यके मार्गसे मण्डलोंमें प्रवेश

१–पीले ॥ २–इन्द्र नामक ॥ ३–उदय होते हुए सूर्य ॥ ४–चक्करदार ॥ ५–अग्निनामक ॥ ६–व्यवहार ॥ ७–छाता ॥ ८–चंवर ॥ ९–हाथी ॥ १०–घोड़ा ॥ ११–बाग ॥ १२–उत्तम ॥ १३–भय ॥ १४–जलाने के स्वभाव से युक्त ॥ १५–अग्निनामक ॥ १६–पङ्क्ति, कतार ॥

करते हुए शुभकारी होते हैं तथा निकलते हुए विपरीत (१) होते हैं ॥ ५७ ॥

प्रवेश के समय में जीव वायु होता है तथा निकलते समय मृत्यु वायु होता है, इसलिये ज्ञानी लोग इन दोनों का ऐसा फल कहते हैं ॥ ५८ ॥

चन्द्र के मार्ग में प्रवेश करने वाले इन्द्र और वरुण वायु सर्व सिद्धियों को देते हैं तथा सूर्यमार्गसे निकलने और प्रवेश करने वाले (ये दोनों वायु) मध्यम होते हैं ॥ ५९ ॥

पवन और दहन वायु दक्षिण मार्ग से निकलते हुए विनाश के लिये होते हैं तथा इतर (२) मार्ग से निकलते और प्रवेश करते हुए (ये दोनों वायु) मध्यम होते हैं ॥ ६० ॥

इडा, (३) पिङ्गला (४) और सुषुम्णा, (५) ये तीन नाड़ियां हैं, इन का क्रम से चन्द्र, सूर्य और शिवस्थान है तथा ये वाम, दक्षिण और मध्य में रहती हैं ॥ ६१ ॥

इन में से वाम नाड़ी सर्वदा सब गात्रों (६) में मानों अमृत को बरसाती रहती है, अमृत से भरी रहती है, तथा अभीष्ट सूचक (७) मानी गई है। दक्षिण नाड़ी चलती हुई अनिष्ट (८) का सूचन (९) करती है तथा संहार (१०) करने वाली है तथा सुषुम्णा नाड़ी सिद्धियों तथा मोक्ष फल का कारण है ॥ ६२ ॥ ६३ ॥

अभ्युदय (११) आदि अभीष्ट (१२) और प्रशंसनीय (१३) कार्यों में वाम नाड़ी मानी गई है, सम्भोग आहार और युद्ध आदि दीप्त कार्यों में दक्षिण नाड़ी अच्छी मानी गई है ॥ ६४ ॥

सूर्योदय के समय शुक्ल पक्ष में वाम नाड़ी अच्छी मानी गई है तथा कृष्णपक्ष में दक्षिण नाड़ी अच्छी मानी गई है तथा उक्त पक्षों में तीन तीन दिनों तक सूर्य और चन्द्र का उदय शुभ होता है ॥ ६५ ॥

वायु का चन्द्रसे उदय होने पर सूर्य से अस्त होना शुभकारी (१४) तथा

१-उलटे अर्थात् अशुभकारी ॥ २-दूसरे अर्थात् वायें ॥ ३-बांई ओर की ॥ ४-दाहिनी ओर की ॥ ५-मध्यभाग की ॥ ६ शरीर के अवयवों ॥ ७-मनोवाञ्छित पदार्थको सूचित करने वाली ॥ ८-अप्रिय ॥ ९-सूचना ॥ १०-नाश ॥ ११-वृद्धि ॥ १२-प्रिय ॥ १३-प्रशंसा के योग्य, उत्तम ॥ १४-कल्याणकारी ॥

सूर्य से उदय होने पर चन्द्र से अस्त होना भी कल्याणकारी है ॥ ६६ ॥

शुक्ल पक्ष में दिन के आरम्भ के समय ध्यानपूर्वक पड़िवाके दिन वायु के प्रशस्त (१) और अप्रशस्त (२) सञ्चार (३) को देखना चाहिये, यह वायु पहिले तीन दिन तक चन्द्र में उदित होता है; तदनन्तर तीन दिन तक चन्द्र में ही सङ्क्रमण (४) करता है; फिर तीन दिन तक चन्द्र में ही सङ्क्रमण करता है, इसी क्रम से वह पूर्णमासी तक गमन करता है तथा कृष्ण पक्ष में सूर्योदय के साथ यही क्रम जानना चाहिये ॥ ६७ ॥ ६८ ॥ ६९ ॥

तीन पक्ष तक इस का अन्यथा (५) गमन होने पर छः मास में मृत्यु हो जाती है, दो पक्ष तक विपर्यास (६) होने पर अभीष्ट (७) बन्धुओं को विपत्ति होती है, एक पक्ष तक विपर्यय (८) होने पर दारुण (९) रोग होता है तथा दो तीन दिन तक विपर्यास होने पर कलह आदि उत्पन्न होता है ॥ ७० ॥ ७१ ॥

एक दो वा तीन रात दिन तक यदि वायु सूर्य नाड़ी में ही चलता रहे तो क्रम से तीन दो तथा एक वर्ष में मृत्यु हो जाती है तथा (एक दो वा तीन रात दिन तक यदि वायु) चन्द्र नाड़ी में ही चलता रहे तो रोग उत्पन्न होता है ॥ ७२ ॥

यदि एक मास तक वायु सूर्य नाड़ी में ही चलता रहे तो जान लेना चाहिये कि एक रात्रि दिवसमें मृत्यु होगी तथा (यदि एक मास तक वायु) चन्द्र नाड़ी में ही चलता रहे तो धन का नाश जानना चाहिये ॥ ७३ ॥

तीनों (नाड़ियों) के मार्ग में रहता हुआ वायु मध्याह्न के पश्चात् मृत्यु का सूचक होता है तथा दश दिन तक दो (नाड़ियों) के मार्गमें स्थित रह कर गमन करने पर मृत्यु का सूचक होता है ॥ ७४ ॥

यदि वायु दश दिन तक चन्द्र नाड़ी में ही चलता रहे तो उद्वेग (१०) और रोग को उत्पन्न करता है तथा आधे प्रहर तक इधर उधर चलता रहे तो लाभ और पूजा आदि को करता है ॥ ७५ ॥

१-श्रेष्ठ ॥ २-निकृष्ट ॥ ३-गमन क्रिया ॥ ४-गतिकी क्रिया ॥ ५-उलटा ॥ ६-उलटा ॥ ७-प्रिय, इच्छित ॥ ८-उलटा ॥ ९-कठिन ॥ १०-शोक ॥

विषुवत् समय (१) के आने पर जिस के नेत्र फड़कें उस की मृत्यु निस्सन्देह एक दिन रात में हो जाती है ॥ ७६ ॥

पांच सङ्क्रान्तियों (२) का उल्लङ्घन कर यदि वायु मुख में चले तो मित्र और धन की हानि, निस्तेजस्त्व (३) तथा मृत्यु के विना सब ही अनर्थों का सूचक होता है ॥ ७७ ॥

यदि वायु तेरह सङ्क्रान्तियों का उल्लङ्घन कर वाम नासिका में चले तो रोग और उद्वेग आदि का सूचक होता है ॥ ७८ ॥

मार्गशीर्ष की सङ्क्रान्ति के समय से लेकर यदि वायु पांच दिन तक (एक ही नाड़ी में) चलता रहे तो अठारहवें वर्ष में मृत्यु का सूचक होता है ॥ ७९ ॥

शरद् की सङ्क्रान्ति के समय से लेकर यदि वायु पांच दिन तक (एक ही नाड़ी में) चलता रहे तो पन्द्रह वर्ष के अन्त में मृत्यु का सूचक होता है ॥ ८० ॥

श्रावण के प्रारम्भ (४) से लेकर यदि वायु पांच दिन तक (एक ही नाड़ी में) चलता रहे तो बारह वर्ष के अन्त में मृत्यु का सूचक होता है ज्येष्ठ के आदि दिवस से लेकर यदि वायु दश दिन तक (एक ही नाड़ीमें) चलता रहे तो नवें वर्ष के अन्त में निश्चय पूर्वक मृत्यु का सूचक होता है, चैत्र के आदि दिवससे लेकर यदि वायु पांच दिन तक (एक ही नाड़ी में) चलता रहे तो छः वर्ष के अन्त में अवश्य ही मृत्यु का सूचक (५) होता है तथा माघ मास के आदि दिवस से लेकर यदि वायु पांच दिन तक (एक ही नाड़ी में) चलता रहे तो तीन वर्ष के अन्त में मृत्यु का सूचक होता है ॥ ८१ ॥ ८२ ॥ ८३ ॥ ८४ ॥

यदि वायु सर्वत्र दो तीन तथा चार दिन तक (एक ही नाड़ी में) चलता रहे तो वर्ष के भागों के द्वारा उन को यथाक्रम से जान लेना चाहिये (६) ॥ ८५ ॥

१—जब दिन और रात बराबर होते हैं उस समय का नाम विषुवत्समय है ॥ २—एक से दूसरी में गमन करना ॥ ३—तेज का अभाव ॥ ४—प्रथम दिन ॥ ५—सूचना करने वाला ॥ ६—यहां से आगे ८६ वें श्लोक से लेकर २३५ श्लोक तक के विषय को (कालज्ञानादि को) ग्रन्थ के विस्तार के भय से नहीं लिखा गया है ॥

जब (१) चलता हुआ भी पवन अच्छे प्रकार से न मालूम हो तब पीत (२) श्वेत, (३) अरुण (४) और श्याम (५) विन्दुओं से उस का निश्चय करना चाहिये ॥ २३६ ॥

दोनों अंगूठों से दोनों कानों को, दोनों मध्यमा (६) अंगुलियों से नासिका के दोनों छिद्रों को तथा कनिष्ठिका (७) और अनामिका (८) अंगुलियोंसे मुख कमल को बन्द कर तथा दोनों तर्जनी (९) अंगुलियों से नेत्रों के कोणों को दबा कर तथा श्वास को रोक कर सावधान मन होकर विन्दु के रंग को देखो ॥ २३७ । २३८ ॥

पीत विन्दु से भौम (१०) को, श्वेतविन्दु से वरुण (११) को, कृष्णविन्दु से पवन (१२) को तथा लालविन्दु से हुताशन (१३) को जाने ॥ २३९ ॥

चलती हुई जिस वाम अथवा दक्षिण नाड़ी को रोकना चाहे उस अङ्ग को शीघ्र ही दाब देना चाहिये कि जिस से नाड़ी दूसरी हो जावे ॥ २४० ॥

विचार शील जन वाम विभाग (१४) में अग्रभाग में चन्द्र क्षेत्रको कहते हैं तथा दक्षिणभाग (१५) में पृष्ठ भाग में सूर्य क्षेत्र को कहते हैं ॥ २४१ ॥

लाभ, अलाभ, सुख, दुःख, जीवन और मरण को वायु सञ्चार (१६) के जानने वाले विरले ही पुरुष अच्छे प्रकार से जानते हैं ॥ २४२ ॥

जो बुद्धिमान् पुरुष नाड़ीकी विशुद्धि को अच्छे प्रकार से जानता है उस को वायु से उत्पन्न होने वाला सब ही सामर्थ्य ज्ञात हो जाता है ॥ २४३ ॥

नाभिरूप अष्ट कर्णिका पर चढ़े हुए, कलाविन्दु से पवित्र हुए, रेफ से युक्त तथा स्फुटित कान्ति वाले (१७) हकारका चिन्तन करना चाहिये, तदनन्तर विजली के वेग से तथा अग्निकणों की सैकड़ों शिखाओं के साथ सूर्य मार्ग से उस का रेचन करे तथा उसे आकाशतल में पहुंचा दे, तत्पश्चात् अमृतसे आर्द्र कर (१८) धीरे २ उतार कर चन्द्रके समान कान्ति वाले उस हकार

१-अब यहांसे २३६वें श्लोकसे लेकर श्लोकोंका अर्थ लिखा जाता है ॥ २-पीला ॥ ३-सफेद ॥ ४-लाल ॥ ५-काला ॥ ६-बीच की ॥ ७-सब से छोटी ॥ ८-छोटी अंगुलि के पास की अंगुलि ॥ ९-अंगूठे के पास की अंगुलि १०-भौम नामक वायु को ॥ ११-वरुण नामक वायु को ॥ १२-पवन नामक वायु को ॥ १३-अग्नि नामक वायु को ॥ १४-बाईं ओर ॥ १५-दाहिनी ओर ॥ १६-वायु की गति क्रिया ॥ १७-प्रदीप्त आभा वाले ॥ १८-भिगो कर ॥

को चन्द्रमार्ग से नाभिकमल में स्थापित करदे, इस प्रकार यथार्थ मार्ग से निरन्तर निष्क्रमण (१) और प्रवेश को करने वाला अभ्यासी पुरुष नाड़ी शुद्धि को प्राप्त होता है ॥ २४४ ॥ २४७ ॥

इस प्रकार नाड़ी शुद्धि में अभ्यास के द्वारा कुशल होकर बुद्धिमान् मनुष्य अपनी इच्छा के अनुसार उसी क्षण पुटों (२) में वायु को घटित (३) कर सकता है ॥

वायु एक नाड़ी में ढाई घड़ी तक ही रहता है; तदनन्तर उस नाड़ी को छोड़कर दूसरी नाड़ी में चला जाता है ॥ २४९ ॥

स्वस्थ मनुष्य में एक दिन रात में प्राणवायु का आगम (४) और निर्गम (५) इक्कीस सहस्र छःसौ वार होता है ॥ २५० ॥

जो मुग्ध बुद्धि (६) मनुष्य वायु के सङ्क्रमण (७) को भी नहीं जानता है वह तत्त्वनिर्णय (८) की वार्त्ता को कैसे कर सकता है? ॥ २५१ ॥

पूरक वायु से पूर्ण किया हुआ अधोमुख (९) कमल प्रफुल्लित (१०) हो जाता है तथा वह ऊर्ध्वस्रोत (११) होकर कुम्भक वायु से प्रबोधित (१२) हो जाता है, इस के पश्चात् रेचक से आक्षिप्त (१३) कर वायु को हृदय कमल से खींचना चाहिये तथा उसे ऊर्ध्व स्रोत कर मार्गकी गांठ को तोड़कर ब्रह्मपुर में लेजाना चाहिये, पीछे कुतूहल (१४) करने वाला योगी उसे ब्रह्मरन्ध्र (१५) से निकाल कर समाधियुक्त (१६) होकर धीरे २ आक की रुई में वेधित करे, उस में वारंवार अभ्यास कर मालतीके मुकुल (१७) आदिमें तन्द्रा रहित (१८) होकर स्थिर लक्ष के द्वारा सदा वेध करे, तदनन्तर उस में दृढ अभ्यास वाला होकर वरुण वायु से कर्पूर, (१९) अगुरु (२०) और कुष्ठ (२१) आदि गन्ध द्रव्यों में अच्छे प्रकार वेध करे, तदनन्तर इन में (२२) लक्ष को पाकर तथा वायु के संयोजन (२३) में कुशल (२४) होकर उद्यम पूर्वक सूक्ष्म पक्षिशरीरों में

१–निकलना ॥ २–छिद्रों ॥ ३–रुद्ध रुका हुआ ॥ ४–आना ॥ ५–निकलना ॥ ६–मोह से युक्त बुद्धि वाला, अज्ञानी ॥ ७–गमन की क्रिया ॥ ८–तत्त्व के निश्चय ॥ ९–नीचेकी ओर मुख वाले ॥ १०–फूला हुआ ॥ ११–ऊपरकी ओर पङ्खड़ियों वाला ॥ १२–खिला हुआ॥ १३–फेंका हुआ ॥ १४–कौतुक ॥ १५–ब्रह्मछिद्र ॥ १६–एकाग्र चित्त ॥ १७–कली ॥ १८–ऊंघ से रहित ॥ १९–कपूर ॥ २०–अगर ॥ २१–कूठ ॥ २२–ध्यान की सफलता ॥ २३–जोड़ना ॥ २४–चतुर ॥

वेध करे, पतङ्ग और भृङ्गों के शरीरों में अभ्यास होजाने पर पुष्पों में भी वेध करे तथा वह धीर पुरुष अनन्य मानस (१) और जितेन्द्रिय (२) होकर सञ्चरण करे; तदनन्तर नर अश्व (३) और हस्ती (४) के शरीर में प्रवेश और निर्गम (५) कर क्रम से पुस्त (६) और उपल (७) में भी सङ्क्रमण करे ॥ २५२–२५९ ॥

इसी प्रकार मृत प्राणियों के शरीरों में वाम नासिका के द्वारा प्रवेश करे परन्तु पाप की शङ्का से जीवित प्राणियोंके शरीरों में प्रवेश करना नहीं कहा गया है ॥ २६० ॥

इस प्रकार क्रम से पर शरीर में प्रवेश करने के अभ्यास की शक्ति से विमुक्त के समान निर्लेप (८) होकर बुद्धिमान् पुरुष अपनी इच्छा के अनुसार सञ्चरण (९) करे ॥ २६१ ॥

क–यह जो पर शरीर में प्रवेश करना है यह केवल आश्चर्य कारक है, अथवा यह भी सम्भव है कि–इस की सिद्धि प्रयत्न करने पर भी अधिक काल में भी न हो सके ॥ १ ॥

क्लेश के कारण भूत (१०) अनेक उपायोंसे पवन को जीत कर भी तथा शरीर में स्थित नाड़ी के प्रचारको स्वाधीन (११) करके भी तथा अश्रद्धेय (१२) पर शरीर में सङ्क्रम (१३) को सिद्ध करके भी केवल एक विज्ञान में आसक्त (१४) पुरुष को मोक्षमार्ग की सिद्धि नहीं होती है ॥ २ ॥ ३ ॥

प्राणायाम से कदर्थित (१५) मन स्वस्थताको नहीं प्राप्त होता है, क्योंकि प्राण के आयमन (१६) में पीड़ा होती है तथा पीड़ा के होने पर चित्त का विप्लव (१७) हो जाता है ॥ ४ ॥

पूरण कुम्भन तथा रेचन में परिश्रम करना भी चित्त के क्लेशका कारण होने से मुक्ति के लिये विघ्नकारक है ॥ ५ ॥

१–एकाग्र चित्त ॥ २–इन्द्रियों को जीतने वाला ॥ ३–घोड़ा ॥ ४–हाथी ॥ ५–निकलना ॥ ६–पुतली ॥ ७–पत्थर ॥ ८–दोष रहित ॥ ९–गति, गमन ॥

क–अब यहां से आगे उक्त ग्रन्थ के छठे प्रकाश का विषय लिखा जाता है ॥

१०–कारण स्वरूप ११–अपने आधीन ॥ १२–श्रद्धा (विश्वास) न करने योग्य ॥ १३–गति क्रिया १४–तत्पर, दत्तचित्त ॥ १५–व्याकुल, घबड़ाया हुआ ॥ १६–रुकावट, निरोध ॥ १७–अस्थिरता ॥

इसलिये प्रशान्त (१) बुद्धिमान् पुरुष इन्द्रियों के साथ मन को खींचकर धर्मध्यान के लिये मन को निश्चल करे ॥ ६ ॥

नाभि, हृदय, नासिकाका अग्रभाग, मस्तक, भ्रू,(२)तालु, नेत्र, मुख, कर्ण (३) और शिर, ये ध्यान के स्थान कहे गये हैं ॥ ७ ॥

इन में से किसी एक स्थान में भी मन को स्थिर करने वाले पुरुष को आत्मज्ञान सम्बन्धी अनेक ज्ञान उत्पन्न हो जाते हैं ॥ ८ ॥

क-ध्यान करने की इच्छा रखने वाले पुरुष को ध्याता, (४) ध्येय, (५) और फल को जानना चाहिये, क्योंकि सामग्री के विना कार्यों की सिद्धि कदापि नहीं होती है ॥ १ ॥

जो प्राणोंका नाश होने पर भी संयम में तत्परता (६) को नहीं छोड़ता है, अन्य को भी अपने समान देखता है, अपने स्वरूप से परिच्युत (७) नहीं होता है, शीत वात और आतप (८) आदि से उपताप (९) को नहीं प्राप्त होता है, मोक्षकारी (१०) योगामृत रसायन [११] के पीने की इच्छा रखता है, रागादि से अनाक्रान्त [१२] तथा क्रोधादि से अदूषित [१३] मन को आत्माराम [१४] रूप करता है, सब कार्यों में निर्लेप [१५] रहता है, काम भोगों से विरत [१६) होकर अपने शरीर में भी स्पृहा [१७] नहीं रखता है, सर्वत्र समता [१८] का आश्रय [१९] लेकर संवेग [२०] रूपी ह्रद [२१] में गोता लगाता है, नरेन्द्र [२२] अथवा दरिद्रके लिये समान कल्याणकी इच्छा रखता है, सब का करुणापात्र होकर संसारके सुख से पराङ्मुख [२३] रहता है, सुमेरु के समान निष्कम्प, (२४) चन्द्रमा के समान आनन्द दायक तथा वायु के समान निःसङ्ग रहता है, वही बुद्धिमान् ध्याता प्रशंसनीय गिना जाता है ॥ २-७ ॥

१-शान्ति से युक्त ॥ २-भौंह ॥ ३-कान ॥

क-अब यहां से आगे उक्त ग्रन्थ के सातवें प्रकाश का विषय लिखा जाता है ॥

४-ध्यान करने वाला ॥ ५-ध्यान करनेके योग्य ॥ ६-तत्पर रहना, आसक्ति ॥

७-गिरा हुआ, पृथक् ॥ ८-धूप ॥ ९-दुःख ॥ १०-मोक्षदायक ॥ ११-योगामृतरूपी रसायन ॥ १२-न दबाया हुआ ॥ १३-दोष रहित ॥ १४-आत्मा में आनन्द पाने वाला ॥ १५-सङ्ग रहित ॥ १६-हटा हुआ ॥ १७-इच्छा ॥ १८-समभाव ॥ १९-सहारा ॥ २०-संसार से भय ॥ २१-तालाब ॥ २२-राजा ॥ २३-मुंह फेरे हुए ॥ २४-कम्परहित ॥

बुद्धिमान् जनों ने ध्यान के अवलम्बन [१] ध्येय को चार प्रकार का माना है–पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपवर्जित ॥ ८ ॥

पिण्डस्थ ध्यान में पार्थिवी, आग्नेयी, मारुती, वारुणी और पांचवीं तत्रभू, ये पाँच धारणायें हैं ॥ ९ ॥

तिर्यग्लोक के समान क्षीर समुद्र का ध्यान करे, उस में जम्बूद्वीप के समान, सहस्र पत्र तथा सुवर्ण कान्ति वाले कमल का स्मरण करे, उस के केसर समूह के भीतर सुमेरु पर्वत के समान, प्रदीप्त, पीली कान्ति वाली, कर्णिका का परिचिन्तन करे, तथा उस में श्वेत सिंहासन पर बैठे हुए तथा कर्म के नाश करने में उद्यत आत्मा का चिन्तन करे, इस का नाम पार्थिवी धारणा है ॥ १० ॥ ११ ॥ १२ ॥

नाभि में षोडश पत्रवाले [२] कमल का चिन्तन करे, कर्णिका में महामन्त्र [३] तथा प्रत्येक पत्र में स्वरावली [४] का चिन्तन करे, महामन्त्र में जो अक्षर रेफ बिन्दु और कला से युक्त [५] है उसके रेफ से धीरे २ निकलती हुई धूमशिखा [६] का स्मरण करे, तदनन्तर स्फुलिङ्ग [७] समूह का तथा ज्वाला समूह का ध्यान करे तदनन्तर ज्वाला समूह से हृदय में स्थित कमल को जला दे. ऐसा करने से महामन्त्र के ध्यान से उत्पन्न हुआ प्रबल अग्नि अष्ट कर्म निर्माण रूप [८] अधोमुख [९] आठों पत्रों को जला देता है, तदनन्तर देह के बाहर अग्नि के समीप जलते हुए, अन्त भागमें स्वस्तिक [१०] से लांछित [११] तथा वह्निके बीज से युक्त कमल का ध्यान करे, पीछे मन्त्र की शिखा भीतरी अग्निके समीप देह और कमल को बाहर निकालकर भस्मसात् [१२] करने के पश्चात् शान्त हो जाती है इसका नाम आग्नेयी धारणा है ॥ १३–१८ ॥

तदनन्तर त्रिभुवन मण्डल को पूर्ण करनेवाले, पर्वतों को डिगानेवाले तथा समुद्रोंको क्षोभित करनेवाले वायु का चिन्तन करे तथा उस वायु से उस (पूर्वोक्त) भस्मरज [१३] को शीघ्र ही उड़ाकर दृढ़ अभ्यास वाला तथा

१–आश्रय ॥ २–सोलह पत्रोंसे युक्त ॥ ३–"अर्हं" ४–स्वर पंक्ति ॥ ५–"हँ" ॥ ६–धुएं की लौ ।७–अग्नि कणोंका समूह ॥ ८–आठ कर्मोंकी रचना रूप ॥ ९–नीचे मुख वाला ॥ १०–साथिया ॥ ११–चिन्हवाला ॥ १२–दग्ध ॥ १३–भस्मरूप धूल ॥

प्रशान्त आत्मावाला हो जावे, इसका नाम आग्नेयी धारणा है ॥१९ ॥२० ॥

बरसते हुए अमृत की बौछारों के साथ मेघमाला से युक्त आकाशका स्मरण करे, तदनन्तर अर्धचन्द्र से आक्रान्त [१] तथा वारुण से अङ्कित मण्डल [२] का ध्यान करे, तदनन्तर उस मण्डल के समीप सुधारूप जलसे उस नभस्तल [३] को प्लावित [४] करे तथा एकत्रित हुई उस रजको धो डाले, इसका नाम वारुणी धारणा है ॥ २१ । २२ ॥

तदनन्तर सात धातुओं के बिना उत्पन्न हुए, पूर्ण चन्द्र के समान उज्ज्वल कान्तिवाले तथा सर्वज्ञ के समान आत्मा का शुद्ध बुद्धि पुरुष ध्यान करे, तदनन्तर सिंहासनपर बैठे हुए, सर्व अतिशयों से प्रदीप्त, सर्व कर्मोंके नाशक, कल्याणों के महत्व से युक्त तथा अपने अङ्ग गर्भमें निराकार आत्मस्वरूपका ध्यान करे, इसका नाम तत्रभू धारणा है, इस प्रकार पिण्डस्थ ध्यानमें अभ्यास युक्त होकर योगी मुक्तिसुख को प्राप्त कर सकता है ॥ ॥ २३ ॥ २४ ॥ २५ ॥

इस प्रकार से पिण्डस्थ ध्यान में निरन्तर (अत्यन्त) अभ्यास करने वाले योगी पुरुष का दुर्विद्यायें, मन्त्र और मण्डल की शक्तियां, शाकिनी, क्षुद्र योगिनी, पिशाच तथा मांसाहारी जीव कुछ भी नहीं कर सकते हैं; किन्तु ये सब उसके तेजको न सहकर उसी क्षण भीत हो जाते हैं, एवं दुष्ट हाथी, सिंह शरभ सर्प भी जिघांसु होकर भी स्तम्भित के समान होकर उससे दूर ही रहते हैं ॥ २६ ॥ २७ ॥ २८ ॥

(क) पवित्र पदों का आलम्बन (५) कर जो ध्यान किया जाता है उस ध्यान को सिद्धान्त पार गामी (६) जनोंने पदस्थ ध्यान कहा है ॥ १ ॥

नाभिकन्द (७) पर स्थित सोलह पत्र वाले कमलमें प्रत्येक पत्रपर भ्रमण करती हुई स्वर माला (८) का परिचिन्तन करे तथा हृदय में चौबीस पत्रवाले कर्णिका सहित कमल का परि चिन्तन करे, उस पर क्रम से पच्चीस

१-युक्त २-चिन्हवाले ॥ ३-आकाशतल ॥ ४-आर्द्र, गीला ॥

क-अब यहां से आगे उक्त ग्रन्थ के आठवें प्रकाश का विषय लिखा जाता है ॥

५-आश्रय ॥ ६-सिद्धान्त के पार पहुंचे हुए ॥ ७-नाभिस्थल ॥ ८-स्वरसमूह ॥

वर्णों (१) का चिन्तन करे, पीछे आठ पत्रवाले मुख कमल पर दूसरे आठ वर्णों का (६) स्मरण करे, इस प्रकार मातृका [२] स्मरण करने से श्रुत ज्ञान में पारगामी हो जाता है ॥ २ ॥ ३ ॥ ४ ॥

इन अनादि सिद्ध वर्णों का विधि पूर्वक ध्यान करने से ध्याता पुरुष को नष्ट आदि के विषय में उसी क्षण ज्ञान हो जाता है ॥ ५ ॥

अथवा—नाभि कन्द के नीचे आठ (३) दल वाले पद्म (४) का स्मरण करे, उसमें आठ वर्गों से युक्त दलोंके साथ स्वरोंकी पंक्तिसे विशिष्ट रम्य (५) केसर का स्मरण करे, सब दलसन्धियों में सिद्धों की स्तुति रूपमें शोभित पद (६) का स्मरण करे, सब दलों के अग्रभागों में मायाप्रणव से पवित्र किये हुए पद (७) का स्मरण करे, उसके बीचमें रेफ से युक्त, कलाबिन्दु से रम्य, हिमके समान निर्मल, आद्य (८) वर्ण के सहित अन्तिम वर्ण (९) का स्मरण करे, (१०) अर्हं यह अक्षर प्राण प्रान्त (११)का स्पर्श करनेवाला तथा पवित्र है उसका ह्रस्व, दीर्घ, सूक्ष्म और अति सूक्ष्म रूप उच्चारण होता है, इस प्रकार से उच्चारण करने से नाभि, कण्ठ और हृदय से घण्टिका आदि ग्रन्थियां विदीर्ण (१२) हो जाती हैं, पीछे अत्यन्त सूक्ष्म ध्वनिसे मध्य मार्गमें जाते हुए उसका स्मरण करे, पीछे विन्दु से सन्तप्त (१३) कला में से निकलते हुए, दुग्ध के समान उज्ज्वल, (१४) अमृत की तरङ्गों से अन्तरात्मा को भिगाते हुए, उस का चिन्तन करे, पीछे अमृत के सरोवर से उत्पन्न हुए, सोलह दलवाले कमल के मध्य भाग में आत्मा को स्थापित कर उन पत्रों में सोलह विद्या देवियों का चिन्तन करे, पीछे स्फटिक के समान निर्मल झरनों में से झरते हुए तथा दुग्धके समान श्वेत अमृत से अपने को दीर्घ काल तक सींचते हुए उसका ध्यान करे, पीछे इस मन्त्रराज के अभिधेय (१५) तथा परमेष्ठी (१६) तथा स्फटिक के समान निर्मल अर्हन्त का मस्तक में

१–पच्चीस व्यञ्जनों ॥ २–अन्तःस्थ और ऊष्म वर्णों का ॥ ३–स्वर और व्यञ्जन समूह ॥४–पत्र ॥ ५–कमल॥ ६–सुन्दर ॥ ७–"ह्रीं" इस पदका ॥ ८–"ॐ ह्रीं" इस पद का ॥ ९–पहिले अर्थात् अकार ॥ १०– हकार ॥ –अर्थात् "अर्हं" इस पदका स्मरण करे ॥ ११–प्राण का अन्त भाग ॥ १२–छिन्न ॥ १३–तपी हुई ॥ १४–उजले ॥ १५–वाच्य, कथनीय ॥ १६–परम पदपर स्थित ॥

ध्यान करे, पीछे उस ध्यान के आवेश (१) से "सोऽहम्" "सोऽहम्" इस प्रकार वारंवार कहते हुए शङ्का रहित (२) आत्मा के साथ परमात्मा की एकता को जाने, पीछे रागद्वेष और मोहसे रहित, सर्वदर्शी, (३) देवों से पूजनीय, (४) तथा समवसरणमें देशना (५) देते हुए परमात्मा के अभेदभावसे आत्मा के साथ ध्यान करता हुआ ध्याता योगी पुरुष क्लेशों का नाश कर परमात्म भाव को प्राप्त होता है ॥ ६ ॥ १७ ॥

अथवा बुद्धिमान् पुरुष ऊपर और नीचे रेफसे युक्त, कलाविन्दुके सहित, अनाहत (६) से युक्त, स्वर्ण कमल के गर्भ में स्थित, सान्द्र, (७) चन्द्र किरणों के समान निर्मल, गगन (८) में संचार (९) करते हुए तथा दिशाओंको व्याप्त करते हुए मन्त्रराज (१०) का स्मरण करे, पीछे मुख कमलमें प्रवेश करते हुए, भ्रूलता (११) के मध्य में भ्रमण करते हुए, नेत्र पत्रों में स्फुरण करते हुए, भाल मण्डल (१२) में ठहरते हुए, तालु छिद्र से निकलते हुए, सुधारसको टपकाते हुए, चन्द्रमाके साथ स्पर्धा (१३) करते हुए, भीतर प्रकाश को स्फुरित (१४) करते हुए, नभोभाग में (१५) सञ्चरण करते हुए, शिव लक्ष्मी से जोड़ते हुए तथा सर्व अवयवोंसे सम्पूर्ण (उस मन्त्रराज का) कुम्भक से चिन्तन करे ॥ १८--२२ ॥

अकारादि, हकारान्त, रेफमध्य, विन्दुके सहित, उस ही परम तत्त्वको (१६) जो जानता है वही तत्त्वज्ञानी है ॥ २३ ॥

जब ही योगी स्थिर होकर इस महातत्त्व का ध्यान करता है उसी समय आनन्द सम्पत्ति की भूमि मुक्ति रूप लक्ष्मी प्राप्त हो जाती है ॥२४॥

पीछे रेफ विन्दु और कला से हीन शुभ अक्षर का ध्यान करे, पीछे अनक्षर भाव को प्राप्त हुए तथा अनुच्चार्य का चिन्तन करे ॥२५॥

चन्द्र कलाके समान आकार वाले, सूक्ष्म, सूर्यके समान तेजस्वी तथा चमकते हुए अनाहत नामक देव का चिन्तन करे ॥२६॥

१-वेग ॥ २-शङ्का को छोड़कर ॥ ३-सबको देखनेवाले ॥ ४-पूजाके योग्य ॥ ५-उपदेश ॥ ६-अनाहत नाद ॥ ७-भीगे हुए ॥ ८-आकाश ॥ ९-गमन ॥ १०-नवकार मन्त्र ॥ ११-भौंहें ॥ १२-मस्तक मण्डल ॥ १३-ईर्ष्या ॥ १४-प्रदीप्त ॥ १५-आकाश भाग ॥ १६ "अर्हं" रूप तत्त्व ॥

पीछे बालके अग्रभाग के समान सूक्ष्म उसका ही ध्यान करे, पीछे क्षण-भर ज्यो तर्मय (१) जगत् को अव्यक्त स्वरूप (२) देखे ॥ २७ ॥

लक्ष्यसे मन को हटाकर तथा अलक्ष्य में मनको स्थिर करते हुए योगीके अन्तःकरणमें क्रमसे अप्रत्यक्ष (३) अक्षय ज्योति प्रकट हो जाती है ॥२८॥

इस प्रकार लक्ष्य का आलम्बन (४) कर लक्ष्यभाव को प्रकाशित किया, उसमें निश्चल मन वाले मुनि का अभीष्ट सिद्ध होता है ॥२९॥

तथा हृदयकमलके मध्यभागमें स्थित तथा शब्द ब्रह्म के एक कारण स्वर और व्यञ्जन से युक्त परमेष्ठी के वाचक (५) तथा मस्तक पर स्थित चन्द्रमा की कला के अमृत रस से आर्द्र (६) महामन्त्र रूप प्रणव (७) का कुम्भक के द्वारा परिचिन्तन करे ॥ ३० ॥ ३१ ॥

स्तम्भन में पीत, वश्यमें लाल, क्षोभण में विद्रुम के समान, विद्वेषण में कृष्ण तथा कर्मघातमें चन्द्रके समान उसका ध्यान करे ॥३२॥

तथा योगी पुरुष तीन जगत् को पवित्र करनेवाले तथा अति पवित्र पञ्चपरमेष्ठि नमस्कार रूप मन्त्र (८) का चिन्तन करे ॥ ३३ ॥

आठ पत्रवाले श्वेत कमल में कर्णिका में स्थित प्रथम पवित्र सप्ताक्षर मन्त्र (९) का चिन्तन करे ॥ ३४ ॥

तथा दिशाके पत्रों में क्रम से सिद्ध आदि [१०] चारों का चिन्तन करे तथा विदिशाओं के पत्रों में चूला के चारों पदोंका [११] चिन्तन करे ॥३५॥

मन वचन और शरीर की शुद्धि के द्वारा इसका एकसौ आठ वार चिन्तन करता हुआ मुनि भोजन करने पर भी चतुर्थ तपके फल को पा लेता है ॥ ३६ ॥

इस प्रकार इस संसार में इस ही महामन्त्र का आराधन कर परम लक्ष्मी को प्राप्त होकर योगी लोग त्रिलोकी के भी पूज्य हो जाते हैं ॥३७॥

१-प्रकाश मय; प्रकाश स्वरूप ॥ २-अप्रकट रूप ॥ ३-प्रत्यक्ष से रहित ॥ ४-आश्रय ५-कहनेवाले ॥ ६-भीगे हुए ॥ ७-ओंकार ॥ ८-नवकार मन्त्र ॥ ९-"नमोअरिहंताणं" इस मन्त्र का ॥ १०-आदि पदसे आचार्य उपाध्याय और साधु का ग्रहण होता है ॥ ११-'एसो पंचणमुक्कारो, 'सव्वपावप्पणासणो, ' मंगलाणं च सव्वेसिं, 'पढमं हवइ मंगलं, इन चार पदों का ॥

सहस्त्रों पापों को करके सैकड़ों जन्तुओं को मारकर इस मन्त्र का आराधन कर तिर्यञ्च भी देवलोक को प्राप्त हुए हैं ॥ ३८ ॥

पांच गुरुओं के [१] नामसे उत्पन्न, सोलह अक्षर वाली विद्या है, उसका दो सौ बार जप करनेवाला पुरुष चतुर्थ के फल को [२] प्राप्त होता है ॥ ३९ ॥

छः वर्णवाले मन्त्र को (३) तीन सौ बार, चार अक्षर वाले मन्त्र (४) को चार सौ बार तथा पांच अक्षरवाले वर्ण (५) को पांच सौ बार जपकर योगी पुरुष चतुर्थ के फल (६) को प्राप्त करता है ॥ ४० ॥

इनका यह फल प्रवृत्तिका हेतु कहा है; किन्तु वास्तवमें तो इनका फल स्वर्ग और अपवर्ग (७) है ॥४१॥

श्रुत से निकाली हुई पांच वर्णवाली, पञ्चतत्त्वमयी विद्या का (८) निरन्तर अभ्यास करने से वह संसार के क्लेश को नष्ट करती है ॥४२॥

चार मङ्गल चार लोकोत्तम और चार शरण रूप, पदोंका अव्यग्रमन (९) होकर स्मरण करने से मनुष्य मोक्ष को प्राप्त होता है ॥४३॥

मुक्ति सुख को देनेवाली पन्द्रह अक्षर की विद्याका ध्यान करे तथा सर्वज्ञ के समान सर्वज्ञानों के प्रकाशक मन्त्र का (१०) स्मरण करे ॥१४॥

इस मन्त्र के प्रभाव को अच्छे प्रकार से कहनेमें कोई भी समर्थ नहीं है; कोंकि (मन्त्र) सर्वज्ञ भगवान् के साथ तुल्यता को रखता है ॥४५॥

यदि मनुष्य संसार रूप दावानल (११) के नाश की एक क्षण में इच्छा करता हो तो उसे इस आदि मन्त्र के प्रथम के सात वर्णों का (१२) स्मरण करना चाहिये ॥४६॥

तथा कर्मों के नाश करनेवाले पांच वर्णों से युक्त मन्त्रका स्मरण करना चाहिये तथा सबको अभयदायक (१३) वर्णमाला (१४) से युक्त मन्त्रका ध्यान करना चाहिये ॥४७।

१–पांचों परमेष्ठियों के ॥ २–उपवासके फलको ॥३–"अरहंत सिद्ध" इस मन्त्र को ॥ ४–"अरहंत" इस मन्त्र को ॥ ५–"असि आउसा" इस पदको ॥ ६–उपवासफल ॥ ७–मोक्ष ॥ ८–"ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रौं ह्रः असि आउसा" इस विद्याका ॥ ९–सावधान मन ॥१०–"ओं श्रीं ह्रीं अर्हं नमः" इस मन्त्र का ॥ ११–दावाग्नि ॥१२–"णमो अरिहंताणं" इन सात वर्णों का ॥ १३–अभय को देनेवाले ॥ १४–अक्षर समूह ॥

मुखके भीतर आठ दल (१) वाले कमल का ध्यान करे, उन दलोंमें अक्षरों के आठों वर्गों का (२) ध्यान करे तथा "ओं नमो अर्हंताणं" इस प्रकार से अक्षरों का भी क्रमसे ध्यान करे, पीछे उसमें स्वरमयकेसरों-की पङ्क्तिका ध्यान करे तथा उसमें सुधाविन्दुसे विभूषित कर्णिका का ध्यान करे, तथा उस कर्णिकामें चन्द्रविम्बसे गिरते हुए, मुखके द्वारा सञ्चार करते हुए, प्रभा मण्डल (३) के बीचमें रहे हुए तथा चन्द्रके समान मायाबीज का चिन्तन करे, पीछे पत्रोंमें भ्रमण करते हुए तथा आकाशतलमें सञ्चरण (४) करते हुए, मनके अन्धकार का नाश करते हुए, गोल, सुधारस (५) वाले तालुद्वार से जाकर भ्रुकुटी में उल्लसित (६) होते हुए, तीन लोकमें अचिन्त्य माहात्म्य (७) वाले तथा ज्योतिर्मण्डल (८) के समान अद्भुत पवित्र मन्त्र का एकाग्र चित्त से स्मरण करने पर मन और वचन के मल से मुक्त हुए पुरुष को श्रुत ज्ञान उत्पन्न हो जाता है, इस प्रकार स्थिर मनसे छः मास तक अभ्यास करने से मुख कमल से निकलती हुई धूम की शिखा को देखता है, तदनन्तर एक वर्ष तक अभ्यास करने से ज्वाला को देखता है; इसके बाद संवेग (९) के उत्पन्न हो जानेसे सर्वज्ञ के मुख कमल को देखता है, तदनन्तर प्रदीप्त कल्याण माहात्म्य वाले, अतिशयोंको प्राप्त हुए तथा भामण्डल (१०) में स्थित सर्वज्ञ को साक्षाद्वत् (११) देखताहै, इसके पश्चात् मनको स्थिर कर तथा उसमें निश्चय को उत्पन्न कर संसार वनको छोड़कर सिद्धि मन्दिर (१२) को प्राप्त होता है ॥४८-५७॥

मानों चन्द्र विम्बसे उत्पन्न हुई सदा अमृत को बरसानेवाली तथा कल्याण का कारण मस्तक में स्थित "क्ष्मिम्" इस विद्याका ध्यान करे ॥५८॥

क्षीर समुद्र से निकलती हुई, सुधा जलसे प्लावित (१३) करती हुई तथा सिद्धि की सोपान (१४) पङ्क्ति के समान शशिकला का मस्तक में ध्यान करे ॥५९॥

१-पत्र ॥ २-स्वर वर्ग, कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग, पवर्ग, अन्तःस्थवर्ग, तथा ऊष्मवर्ग, इन आठ वर्गों का ॥३-प्रकाशमण्डल ॥ ४-गमन ॥ ५-अमृतरस ॥६-प्रदीप्त, शोभित ॥ ७-न विचारने योग्य महिमा वाले ॥ ८-प्रकाश मण्डल ॥ ९-संसार से भय ॥ १०-दीप्तिसमूह ॥ ११-साक्षात् के समान ॥ १२-मोक्ष भवन ॥ १३-आर्द्र ॥ १४-सीढ़ी ॥

इसके स्मरण मात्रसे संसार का बन्धन टूट जाता है तथा परमानन्दके कारण अव्यय (१) पदको प्राप्त होता है ॥ ६० ॥

नासिका के अग्रभाग में प्रणव, शून्य और अनाहत, इन तीनोंका ध्यान करने से आठ (२) गुणों को प्राप्त होकर निर्मल ज्ञान को पाता है

शंख; कुन्द और चन्द्रमाके समान इन तीनों का सदा ध्यान करने से मनुष्यों को समग्र विषयोंके ज्ञानमें प्रगल्भता (३) हो जाती है ॥ ६२ ॥

दोनों पार्श्वभागों (४) में दो प्रणवोंसे युक्त, दोनों प्रान्तभागों में माया से युक्त तथा मध्यमें "सोऽहम्" से युक्त अर्हंकार का मूर्धा (५) में चिन्तन करे ॥ ६२ ॥

कामधेनु के समान अचिन्त्य (६) फल के देनेमें समर्थ तथा गणधरोंके मुखसे निकली हुई निर्दोष विद्याका जप करे ॥ ६४ ॥

षट् कोणवाले अप्रतिचक्रमें "फट्" इस प्रत्येक अक्षर का, वाम (७) भाग में "सिद्धि चक्रायस्वाहा" इस पदका तथा दक्षिणभागमें बाहरी भागमें बिन्दुके सहित भूतान्त को उसके बीचमें रखकर चिन्तन करे तथा "नमो जिणाणं" इत्यादि को "णे" को पूर्वमें जोड़कर बाहर से वेष्टित (८) कर दे ॥ ६५ ॥ ६६ ॥

आठ पत्रवाले कमल में दीप्त तेज वाले आत्माका ध्यान करे तथा उस के पत्रों में क्रम से प्रणव आदि मन्त्र के अक्षरोंका ध्यान करे ॥ ६७ ॥

पहिले पूर्वदिशाकी ओर मुख करके आदित्य मण्डल (९) का आश्रय लेकर आठ अक्षर वाले मन्त्र का ग्यारह सौ बार जप करे ॥ ६८ ॥

इस प्रकार पूर्व दिशाके क्रम से अन्य पत्रों की ओर लक्ष्य (१०) देकर योगी पुरुष को सर्व विघ्नों की शान्ति के लिये आठ रात्रितक जप करना चाहिये ॥ ६९ ॥

आठ रात्रिके बीत जानेपर मुखवर्ती (११) कमल के पत्रों में इन वर्णों को क्रमसे देखता है ॥ ७० ॥

ध्यानमें विघ्नकारक (१२) भयङ्कर सिंह हाथी, राक्षस आदि व्यन्तर तथा अन्य प्राणी भी उसी क्षण शान्त हो जाते हैं ॥ ७१ ॥

१–अविनाशी २–आठ सिद्धियों ॥ ३–कुशलता, निपुणता ॥ ४–पसवाड़ों में ॥ ५–मस्तक ॥ ६–न सोचे जाने योग्य ॥ ७–बायें ॥ ८–घेरा हुआ ॥ ९–सूर्य मण्डल ॥ १०–ध्यान ॥ ११–मुखमें स्थित ॥ १२–विघ्न करने वाले ॥

ऐहिक (१) फल की इच्छा रखने वाले पुरुषों को इस मन्त्र का प्रणव पूर्वक (२) ध्यान करना चाहिये तथा निर्वाण (३) पद की इच्छा रखनेवाले पुरुषों को प्रणव से रहित (४) इस मन्त्र का ध्यान करना चाहिये ॥७२॥

कर्मसमूह की शान्ति के लिये भी इस मन्त्र का चिन्तन करना चाहिये तथा प्राणियों के उपकार के लिये उस पाप भक्षिणी विद्या का स्मरण करना चाहिये ॥ ७३ ॥

इस विद्याके प्रभाव की अधिकता से मन शीघ्र ही प्रसन्न होता है, पाप की मलीनता (५) को छोड़ देता है तथा ज्ञान रूप दीपक प्रकाशित हो जाता है ॥ ७४ ॥

ज्ञानवान् वज्र स्वामी आदिने विद्यावाद (६) से निकालकर शिवलक्ष्मी (७) के बीजरूप, जन्मरूप दावानल (८) को शान्त करने के लिये नवीन मेघ के समान सिद्धचक्र को कहा है, गुरु के उपदेश से जानकर उस का चिन्तन करे ॥ ७५ ॥ ७६ ॥

नाभि कमल में स्थित विश्वतो मुख (९) "अकार का ध्यान करे, मस्तक कमलमें स्थित "सि" वर्ण का ध्यान करे, मुख कमल में स्थित "आकार" का ध्यान करे, हृदय कमल में स्थित "उकार" का ध्यान करे तथा कण्ठ-कमलमें स्थित "साकार" का ध्यान करे, तथा सर्व कल्याण के कर्ता अन्य भी जीवों का स्मरण करे॥ ७७ ॥ ७८ ॥

श्रुत रूप समुद्र से उत्पन्न हुए अन्य भी समस्त अक्षर रूप पदोंका ध्यान करना निर्वाण पदकी सिद्धि के लिये होता है ॥ ७९ ॥

योगी को वीतराग (१०) होना चाहिये, चाहें वह किसी का चिन्तन करे, उस ध्यान का वर्णन अन्य ग्रन्थों में विस्तार पूर्वक किया गया है ॥८०॥

इस प्रकार मन्त्र विद्याओंके वर्णों और पदोंमें लक्ष्मी भावकी प्राप्तिके लिये क्रमसे विश्लेष को करे ॥ ८१ ॥

१-इस संसार के ॥ २-ओंकार के सहित ॥ ३-मोक्षपद ॥ ४-ओंकार से रहित ॥ ५-मैलेपन ॥ ६-विद्यावाद चौदह पूर्वोमें से दशवां पूर्व है, इसको विद्यानुप्रवाद भी कहते हैं ॥ ७-मोक्षसम्पत्ति ॥ ८-दावाग्नि ॥ ९-चारों ओर मुखवाले ॥ १०-रागसे रहित ॥

क-मोक्ष लक्ष्मी के सम्मुख (१) रहने वाले, सब कर्मों के नाशक, चतुर्मुख, (२) सर्वलोक को अभय देने वाले, चन्द्रमण्डल के समान तीन छत्रोंको धारण करने वाले, प्रदीप्त प्रभामण्डल (३) से सूर्यमण्डल का तिरस्कार करने वाले, दिव्य दुन्दुभि के निर्घोष (४) से जिन की साम्राज्य सम्पत्ति (५) प्रकट होती है, शब्द करते हुए भ्रमरों (६) के झङ्कार से शब्दायमान (७) अशोक वृक्ष जिन का शोभित हो रहा है, सिंहासन पर विराजमान, चामरों से वीज्यमान, (८) जिन के चरणों के नखों की कान्ति से सुरासुरों के शिरोरत्न (९) प्रदीप्त होते हैं, जिन की सभाभूमि दिव्य (१०) पुष्पसमूह के बिखरने से अच्छे प्रकार व्याप्त हो जाती है, जिन की मधुर ध्वनि का पान कन्धे को उठा कर मृगकुल (११) करते हैं, हाथी और सिंह आदि भी वैर को छोड़कर समीपवर्ती रहते हैं, सर्व अतिशयों से युक्त, केवलज्ञान से भास्वर (१२) तथा समवसरण में स्थित, परमेष्ठी अर्हत् प्रभु के रूप का आलम्बन (१३) करके जो ध्यान किया जाता है उसे रूपस्थ कहते हैं ॥ १–७ ॥

रागद्वेष और महामोह के विकारों से अकलङ्कित, (१४) शान्त, (१५) कान्त, (१६) मनोहारि, सर्व लक्षणों से युक्त, पर (१७) तीर्थिकों से अज्ञात (१८) योगमुद्रा से मनोरम, नेत्रों को अत्यन्त और अविनाशी आनन्द दायक, जिनेन्द्र की प्रतिमारूप ध्यान का भी निर्निमेष (१९) दृष्टि से निर्मल मन होकर ध्यान करने वाला पुरुष रूपस्थध्यानवान् कहलाता है ॥८ ९।१०॥

अभ्यास के योग से तन्मयत्व (२०) को प्राप्त होकर योगी पुरुष स्पष्टतया अपने को सर्वज्ञ स्वरूप में देखता है ॥ ११ ॥

जो यह सर्वज्ञ भगवान् है वही निश्चय करके मैं हूं, इस प्रकार तन्मयता को प्राप्त होकर वह सर्ववेदी (२१) माना जाता है ॥ १२ ॥

क—अब यहां से आगे उक्त ग्रन्थ के नवें प्रकाश का विषय लिखा जाता है ॥

१—सामने ॥ २—चारों ओर मुख वाला ॥ ३—प्रकाशसमूह ॥ ४—शब्द ॥ ५—चक्रवर्ती की सम्पत्ति ॥६–भौंरों ॥ ७–शब्द युक्त ॥ ८—हवा किये जाते हुए ॥९—शिर के रत्न ॥ १०—सुन्दर ॥ ११—मृगगण ॥ १२—प्रकाशयुक्त ॥ १३—आश्रय ॥ १४—कलङ्क से रहित ॥ १५—शान्तियुक्त ॥ १६—कान्तियुक्त ॥ १७—परमतानुयायियों ॥ १८—न जानी हुई ॥ १९—पलक लगाने से रहित, एकटक ॥ २०—तत्स्वरूपत्व ॥ २१—सर्वज्ञ ॥

वीतराग का चिन्तन करने पर योगी वीतराग होकर विमुक्त होजाता है, किन्तु रागी का आलम्बन (१) कर क्षोभणादि (२) का कर्त्ता बनकर रागी हो जाता है ॥ १३ ॥

यन्त्र का जोड़ने वाला जिस २ भाव से युक्त होता है उस के द्वारा वह विश्वरूप मणि के समान तन्मयत्व को प्राप्त हो जाता है ॥ १४ ॥

किन्तु-इस संसार में कौतुक से भी असत् (३) ध्यानों का सेवन नहीं करना चाहिये, क्योंकि असत् ध्यानों का सेवन करना स्वनाश के लिये होता है ॥ १५ ॥

मोक्ष का आश्रय लेने वाले पुरुषों को सब सिद्धियां स्वयं प्राप्त होजाती हैं, अन्य लोगों को सिद्धि का होना सन्दिग्ध (४) है, किन्तु स्वार्थ का नाश तो निश्चित है ॥ १६ ॥

क-अमूर्त्त, चिदानन्दरूप, (५) निरञ्जन, (६) सिद्ध परमात्मा का जो ध्यान है उसे रूपवर्जित ध्यान कहते हैं ॥ १ ॥

इस प्रकार सिद्ध परमात्मा के स्वरूप का अवलम्बन कर निरन्तर स्मरण करने वाला योगी ग्राह्य ग्राहक (७) से वर्जित (८) तन्मयत्वको प्राप्त होता है ॥२॥

अन्य के शरण से रहित होकर वह उस में इस प्रकार से लीन होजाता है कि जिस से ध्याता और ध्यान, इन दोनों का अभाव होने पर ध्येय के साथ एकत्व (९) को प्राप्त हो जाता है ॥ ३ ॥

वह यही समरसीभाव (१०) उस का एकी करण (११) माना गया है कि जिस के अपृथग्भाव (१२) से यह आत्मा परमात्मा में लीन होजाता है ॥४॥

लक्ष्य के सम्बन्ध से अलक्ष्य का, स्थूल से सूक्ष्म का तथा सालम्ब (१३) से निरालम्ब (१४) तत्त्व का तत्त्ववेत्ता (१५) पुरुष शीघ्र चिन्तन करे ॥ ५ ॥

इस प्रकार से चार प्रकार के ध्यानामृत में निमग्न मुनि का मन जगत्तत्त्व का साक्षात्कार (१६) कर आत्मा की शुद्धि को करता है ॥ ६ ॥

क-अब यहां से आगे उक्त ग्रन्थ के दशवें प्रकाश का विषय लिखा जाता है ॥

१-आश्रय ॥ २ चित्त की अस्थिरता आदि ॥ ३-बुरे ॥ ४-सन्देह युक्त ॥ ५-चित् और आनन्दरूप ॥ ६-निराकार ॥ ७-ग्रहण करने योग्य तथा ग्रहण करने वाला ॥ ८-रहित ॥ ९-एकता ॥ १०-समान रस का होना ॥ ११-एक कर देना ॥ १२-एकता ॥ १३-आश्रय सहित ॥ १४-आश्रय रहित ॥ १५-तत्त्वज्ञानी ॥ १६-प्रत्यक्ष ॥

आज्ञा, अपाय, विपाक और संस्थान का चिन्तन करने से अथवा इस प्रकार से ध्येय (१) के भेद से धर्मध्यान चार प्रकार, का कहा गया है ॥ ७ ॥

जिस में सर्वज्ञों की अबाधित (२) आज्ञा को आगे करके तत्त्वपूर्वक पदार्थों का चिन्तन किया जाता है उसे आज्ञाध्यान कहते हैं ॥ ८ ॥

सर्वज्ञ का सूक्ष्म वचन जो कि हेतुओं से प्रतिहत (३) नहीं होता है, उस को तद्रूप (४) में ही ग्रहण करना चाहिये, क्योंकि जिनेश्वर मृषा (५) भाषी नहीं होते हैं ॥ ९ ॥

राग द्वेष और कषाय (६) आदि से उत्पन्न होने वाले अपायों (७) का जिस में विचार किया जाता है वह अपाय ध्यान कहलाता है ॥ १० ॥

इस लोक तथा परलोक सम्बन्धी अपायों के दूर करने में तत्पर होकर उन पाप कर्म से अत्यन्त निवृत्त हो जाना चाहिये ॥ ११ ॥

जिस में प्रत्येक क्षण में उत्पन्न होने वाला, विचित्र रूप कर्मफल के उदय का विचार किया जाता है वह विपाक ध्यान कहा जाता है ॥ १२ ॥

अर्हद् भगवान् पर्यन्त की जो सम्पत्ति है तथा नारक पर्यन्त आत्माकी जो विपत्ति है, उन में पुण्य और अपुण्य कर्म का ही प्राबल्य (८) है ॥ १३॥

स्थिति, उत्पत्ति और व्ययरूप, अनादि अनन्त लोक की आकृति का जिस में विचार किया जाता है उसे संस्थान ध्यान कहते हैं ॥ १४ ॥

नाना द्रव्यों में स्थित अनन्त पर्यायों का परिवर्त्तन होने से उन में आसक्त (९) मन रागादि से आकुलत्व (१०) को नहीं प्राप्त होता है ॥ १५ ॥

धर्मध्यान के होने पर क्षायोपशमिक (११) आदिभाव होते हैं तथा क्रम से विशुद्ध, पीत पद्म और सित लेश्यायें भी होती हैं ॥ १६ ॥

अत्यन्त वैराग्य के संयोग से विलसित (१२) इस धर्मध्यान में प्राणियों को अतीन्द्रिय (१३) तथा स्वसंवेद्य (१४) सुख उत्पन्न होता है ॥ १७ ॥

सङ्ग को छोड़कर योगी लोग धर्मध्यान से शरीर को छोड़ कर ग्रैवेयक आदि स्वर्गों में उत्तम देव होते हैं, वहां वे अत्यन्त महिमा के सौभाग्य

१-ध्यान करने योग्य वस्तु ॥ २-बाधा रहित ॥ ३-बाधित ॥ ४-उसी रूप ॥ ५-मिथ्या बोलने वाले ॥ ६-क्रोधादि ॥ ७-हानियों ॥ ८-प्रबलता ॥ ९-तत्पर ॥ १०-व्याकुलता ॥ ११-क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाला ॥ १२-शोभित ॥ १३-इन्द्रिय से अगम्य ॥ १४-अपने अनुभव से जानने योग्य ॥

वाले, शरच्चन्द्र के समान कान्ति वाले, माला, भूषण तथा वस्त्रों से भूषित शरीर को प्राप्त होते हैं तथा वे वहां विशिष्ट वीर्य और बोधसे युक्त, काम की बाधा और पीड़ा से रहित तथा विघ्न रहित अनुपम सुख का चिरकाल तक सेवन करते हैं, वहां वे इच्छा से सिद्ध होने वाले सब अर्थों से मनोहर सुख रूपी अमृत का निर्विघ्न भोग करते हुए गत जन्म को नहीं जानते हैं ॥ १८। २१ ॥

तदनन्तर दिव्य भोगों की समाप्ति होने पर स्वर्ग से च्युत होकर वे उत्तम शरीर के साथ पृथिवी पर जन्म लेते हैं, वे दिव्य वंश में उत्पन्न होकर नित्य उत्सवों से मनोरम अनेक प्रकार के भोगों को भोगते हैं तथा उन के मनोरथ खण्डित नहीं होते हैं, तदनन्तर विवेक का आश्रय लेकर सब भोगों से विरक्त होकर तथा ध्यान से कर्मों का नाश कर अविनाशी पद को प्राप्त होते हैं ॥ २२ ॥ २३ ॥ २४ ॥

क-स्वर्ग तथा अपवर्ग (१) के हेतु धर्म ध्यान को कह दिया, अब अपवर्ग के अद्वितीय (२) कारण शुक्ल ध्यान का कथन किया जाता है ॥ १ ॥

इस (शुक्ल ध्यान) को आदिम संहनन वाले (३) पूर्ववेदी (४) पुरुष ही कर सकते हैं, क्योंकि स्वल्पसत्व (५) प्राणियोंका चित्त किसी प्रकारसे स्थिरता को नहीं प्राप्त होता है ॥ २ ॥

विषयों से व्याकुल हुआ प्राणियों का मन ठीक रीति से एकाग्रता को धारण नहीं करता है, अतः अल्पसार (६) वाले प्राणियों का शुक्ल ध्यान में अधिकार (७) नहीं है ॥ ३ ॥

यद्यपि आधुनिक (८) प्राणियोंके लिये शुक्ल ध्यान (९) दुष्कर है तथापि प्रस्ताव (१०) के अभंग (११) के कारण हम भी शास्त्रके अनुसार समागत [१२] आम्नाय (१३) का वर्णन करते हैं ॥ ४ ॥

क-अब यहां से आगे उक्त ग्रन्थके ग्यारहवें प्रकाश का विषय लिखा जाता है ॥ १-मोक्ष ॥ २-अनुपम ॥ ३-वज्र, ऋषभ और नाराच संहनन वाले ॥ ४-पूर्व के जानने वाले ॥ ५-थोड़े बलवाले ॥ ६-अल्पबल ॥ ७-योग्यता, पात्रता ॥ ८-इस समयके ॥ ९-कठिन ॥ १०- क्रम ॥ ११-न टूटना ॥ १२-आये हुए ॥ १३-पारम्पर्य ॥

नाना प्रकार के श्रुतों का विचार, श्रुता विचार ऐक्य, सूक्ष्मक्रिय और उत्सन्नक्रिय, इन भेदों से वह (शुक्लध्यान) चार प्रकार का जानना चाहिये ॥ ५ ॥

श्रुत द्रव्य में पर्यायों को एकत्र कर अनेक प्रकारके नयोंका अनुसरण करना तथा अर्थ व्यञ्जन और दूसरे योगोंमें संक्रमण (१) से युक्त करना; पहिला शुक्ल ध्यान है ॥ ६ ॥

इसी प्रकार से श्रुत के अनुसार एक पर्याय में एकत्व का वितर्क करना तथा अर्थव्यञ्जन और दूसरे योगोंमें संक्रमण करना; दूसरा शुक्ल ध्यान है ॥७॥

निर्वाण (२) में जाते समय योगों (३) को रोकने वाले केवली (४) का सूक्ष्मक्रिया वाला तथा अप्रतिपति (५) जो ध्यान है; वह तीसरा शुक्ल ध्यान है ॥ ८ ॥

शैलेशी अवस्था को प्राप्त तथा शैल के समान निष्प्रकम्प (६) केवली का उत्सन्नक्रियायुक्त तथा अप्रतिपाति जो ध्यान है; वह चौथा शुक्ल ध्यान है ॥ ९ ॥

एकत्र योगियों को पहिला, एक योगोंको दूसरा, तनुयोगियोंको तीसरा तथा निर्योगों को चौथा शुक्ल ध्यान होता है ॥ १० ॥

ध्यानके जाननेवाले पुरुषोंने जिस प्रकार छद्मस्थके स्थिर मनको ध्यान कहा है उसी प्रकार केवलियोंके निश्चल अङ्ग (७) को ध्यान कहा है ॥११ ॥

पूर्व के अभ्यास से, जीवके उपयोग से, अथवा कर्म की निर्जरा के हेतु से अथवा शब्दार्थ के बहुत्व से, अथवा जिन वचनसे, अन्य योगीका ध्यान कहा गया है ॥ १२ ॥

श्रुतावलम्बन पूर्वक (८) प्रथम ध्यानमें पूर्व श्रुतार्थके सम्बन्धसे पूर्वधर छद्मस्थ योगियोंके ध्यानमें प्रायः (श्रुतावलम्बन) युक्त रहता है ॥ १३ ॥

क्षीण दोषवाले तथा निर्मल केवल दर्शन और केवल ज्ञानवाले पुरुषों को सकल (९) अवलम्बन (१०) के विरह (११) से प्रसिद्ध अन्तिम (१२) दो ध्यान कहे गये हैं ॥ १४ ॥

१-गति, सञ्चार ॥ २-मोक्ष ॥ ३-मन वचन और शरीरके योगोंको ॥ ४-केवल ज्ञानवान् ॥ ५-प्रतिपतन (नाश) को न प्राप्त होनेवाला ॥ ६-कम्पसे रहित॥ ७-अचल शरीर ॥ ८-श्रुतके आश्रयके साथ ॥ ९-सब ॥ १०-आश्रय ॥ ११-वियोग ॥ १२-पिछले ॥

उसमें श्रुत से एक अर्थ का ग्रहण कर उस अर्थ से शब्द में गति करे तथा शब्द से फिर अर्थ में गमन करे; इसी प्रकार वह बुद्धिमान् पुरुष एक योगसे दूसरे योगमें गमन करे ॥ १५ ॥

जिस प्रकार ध्यानी पुरुष शीघ्र ही अर्थ आदिमें संक्रमण करता है उसी प्रकार वह फिर भी स्वयं ही उससे व्यावृत्त (१) हो जाता है ॥ १६ ॥

इस प्रकार अनेक प्रकारोंमें जब योगी पूर्ण अभ्यास वाला हो जाता है तब उसमें आत्माके गुण प्रकट हो जाते हैं तथा वह एकता के योग्य हो जाता है ॥ १७ ॥

उत्पाद, स्थिति और भङ्ग (२) आदि पर्यायों का एक योग कर जब एक पर्याय का ध्यान करता है; उसका नाम "अविचार से युक्त एकत्व" है ॥ १८ ॥

जिस प्रकार मान्त्रिक (३) पुरुष मन्त्र के बल से सब शरीर में स्थित विष को दंश स्थान (४) में ले आता है, उसी प्रकार क्रमसे तीन जगत् के विषय वाले मनको ध्यानसे अणु (५) में स्थित करके ठहरा देना चाहिये ॥१९॥

काष्ठ समूह के हटा लेनेपर शेष थोड़े ईंधन वाला प्रज्वलित (६) अग्नि अथवा उससे पृथक् किया हुआ जिस प्रकार बुझ जाता है इसी प्रकार मनको भी जानना चाहिये ॥ २० ॥

तदनन्तर ध्यान रूपी अग्निके अत्यन्त प्रज्वलित होनेपर योगीन्द्र के सब घाती कर्म क्षण भरमें विलीन (७) हो जाते हैं ॥ २१ ॥

ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय तथा मोहनीय, ये कर्म अन्तराय (कर्म) के सहित सहसा (८) विनाश को प्राप्त हो जाते हैं ॥ २२ ॥

तदनन्तर योगी पुरुष दुर्लभ केवल ज्ञान और केवल दर्शन को पाकर लोकालोक को यथावस्थित (९) रीति से जानता और देखता है ॥ २३ ॥

उस समय सर्वज्ञ, (१०) सर्वदर्शी (११) तथा अनन्त गुणों से युक्त होकर वह देव भगवान् पृथिवीतल पर विहार करता है तथा सुर, असुर, नर और उरग (१२) उसे प्रणाम करते हैं ॥ २४ ॥

१–निवृत्त, हटा हुआ ॥ २–नाश ॥ ३–मन्त्रविद्या का जाननेवाला ॥ ४–डंकका स्थान ॥ ५–सूक्ष्म ॥ ६–जलता हुआ ॥ ७–नष्ट ॥ ८–एकदम ॥ ९–ठीक यथार्थ ॥ १०–सबको जाननेवाला ॥ ११–सबको देखनेवाला ॥ १२–सर्प ॥

वाणी रूपी चन्द्रिका (१) से वह भव्य जीव रूपी कुमुदों को विकसित (२) कर देता है तथा द्रव्य और भावमें स्थित मिथ्यात्व को क्षण भरमें निर्मूल (३) कर देता है ॥ २५ ॥

उसका केवल नाम लेनेसे भव्य जीवों का अनादि संसार से उत्पन्न सकल दुःख शीघ्र ही नाश को प्राप्त हो जाता है ॥ २६ ॥

उपासना के लिये आये हुए सैकड़ों करोड़ सुर और नर आदि केवल योजनमात्र (४) क्षेत्र में उसके प्रभाव से समा जाते हैं ॥ २७ ॥

देव, मनुष्य, तिर्यञ्च तथा अन्य भी प्राणी प्रभुके धर्मावबोधक (५) वचन को अपनी २ भाषामें समझ लेते हैं ॥ २८ ॥

उसके प्रभाव से सौ योजनों तक उग्र (६) रोग शान्त हो जाते हैं; जैसे कि चन्द्रमा का उदय होनेपर पृथिवी का ताप (७) सब तरफ नष्ट हो जाता है ॥ २९ ॥

इसके विहार करते समय—मारी, (८) ईति, (९) दुर्भिक्ष, अतिवृष्टि अनावृष्टि (१०) भय और वैर, ये सब इस प्रकार नहीं रहते हैं जैसे कि सूर्य का उदय होनेपर अन्धकार नहीं रहता है ॥ ३० ॥

मार्तण्डमण्डल (११) की कान्ति (१२) का तिरस्कार करनेवाला तथा चारों ओर से दिशाओं को प्रकाशित करनेवाला प्रभु के आस पास का भामण्डल [१३] शरीर के समीप में प्रकट हो जाता है ॥ ३१ ॥

उस भगवान्के विहार करते समय उत्तम भक्तिवाले देव पादन्यास (१४) के अनुकूल प्रफुल्ल [१५] कमलों को बनाते हैं ॥ ३२ ॥

वायु अनुकूल चलता है, सब शकुन इसके दक्षिण में गमन करते हैं, वृक्ष झुक जाते हैं तथा कांटे भी अधोमुख [१६] हो जाते हैं ॥ ३३ ॥

कुछ रक्त [१७] पल्लव [१८] वाला, प्रफुल्ल पुष्पों के गन्धसे युक्त तथा भ-

---

१–चांदनी, चन्द्रप्रकाश ॥ २–खिला हुआ ॥ ३–मूल रहित, नष्ट ॥ ४–केवल चार कोस भर ॥ ५–धर्मको बतलाने वाले ॥ ६–कठिन ॥ ७–उष्णता गर्मी ॥ ८–महामारी ॥ ९–सात प्रकारके विप्लव ॥ १०–वृष्टिका अभाव ॥ ११–सूर्यमण्डल ॥ १२–प्रकाश, शोभा ॥ १३–दीप्तिसमूह ॥ १४–पैर का रखना ॥ १५–फूले हुए ॥ १६–नीचे को मुख किये हुए ॥ १७–लाल ॥ १८–पत्र ॥

मरीचि शब्दोंसे मानों स्तुति किया जाता हुआ अशोक वृक्ष उसके ऊपर शोभा देता है ॥ ३४ ॥

उस समय छःओं ऋतु एक ही समय में उपस्थित हो जाते हैं, मानों वे कामदेवकी सहायता करने से प्रायश्चित्त को लेनेके लिये उपस्थित होते हैं ॥ ३५ ॥

प्रभुके आगे शब्द करती हुई मनोहर दुन्दुभी आकाशमें शीघ्र ही प्रकट हो जाती है, मानो कि वह मोक्ष प्रयाण के [१] कल्याण को कर रही हो ॥ ३६ ।

उसके समीपमें पांचों इन्द्रियोंके अर्थ [विषय] क्षण भर में मनोज्ञ [२] हो जाते हैं, भला बड़ों के समीप में गुणोत्कर्ष [३] को कौन नहीं पाता है ॥ ३७ ॥

सैकड़ों भवों [४] के सञ्चित [५] कर्मों के नाश को देखकर मानों डर गये हुए; इस प्रकार बढ़ने के स्वभाव वाले भी प्रभुके नख और रोम नहीं बढ़ते हैं ॥ ३८ ।

उन के समीप में देव सुगन्धित जल की वृष्टि के द्वारा धूल को शान्त कर देते हैं तथा खिले हुए पुष्पों की वृष्टि से सब पृथिवी को सुगन्धित कर देते हैं ॥ ३९ ॥

इन्द्र भक्तिपूर्वक प्रभु के ऊपर गङ्गा नदी के तीन झरनों के समान तीन पवित्र छत्रों को मण्डलाकार (६) कर धारण करते हैं ॥ ४० ॥

"यह एक ही अपना प्रभु है" यह सूचित करने के लिये इन्द्र से उठाये हुए अङ्गुलि दण्ड (७) के समान प्रभु का रत्नध्वज (८) शोभा देता है ॥४१॥

मुख कमल पर गिरते हुए, राजहंस के भ्रमको धारण करते हुए तथा शरदृऋतु के चन्द्र की किरणों के समान सुन्दर चमर (९) वीजित (१०) होते हैं ॥ ४२ ॥

समवसरण में स्थित प्रभु के तीन ऊंचे प्राकार इस प्रकार शोभा देते हैं

१-मोक्ष में गमन ॥ २-सुन्दर, मन को अच्छे लगाने वाले ॥ ३-गुणोंके महत्त्व ॥ ४-जन्मों ॥ ५-इकट्ठे किये हुए ॥ ६-मण्डलाकृति, गोलाकार ॥ ७-अङ्गुलिरूप दण्ड ॥ ८-रत्नपताका ॥ ९-चंवर ॥ १०-हिलते हुए ॥

मानों शरीर को धारण कर सम्यक् चरित्र, सम्यग् ज्ञान और सम्यग् दर्शन ही शोभा देते हों ॥ ४३ ॥

धर्म का उपदेश देते समय प्रभु के चार मुख और अङ्ग हो जाते हैं—मानों कि चारों दिशाओं में स्थित जनों का एक ही समय में अनुग्रह करने की उन की इच्छा हो ॥ ४४ ॥

उस समय भगवान्—सुर, (१) असुर, नर और उरगों (२) से वन्दित चरण (३) होकर इस प्रकार सिंहासन पर विराजते हैं जैसे कि सूर्य पूर्वगिरिके शिखर पर ॥ ४५ ॥

तेजः समूह (४)के विस्तारसे सब दिशाओंको प्रकाशित करने वाला चक्र प्रभुके पास उस समय त्रिलोकीके चक्रवर्ती होनेका चिह्न स्वरूप होजाता है ॥४६॥

कम से कम एक करोड़ भुवनपति, विमानपति, ज्योतिःपति और वानव्यन्तर (देव) समवसरण में प्रभु के समीप में रहते हैं ॥ ४७ ॥

जिस का तीर्थङ्कर नाम कर्म नहीं होता है वह भी योग के बल से केवली होकर आयु के होते हुए पृथिवी को बोध (५) देता है ॥ ४८ ॥

केवल ज्ञान और केवल दर्शन को प्राप्त होकर अन्तर्मुहूर्त्त (६) की आयु वाला योगी पुरुष शीघ्र ही तीसरे ध्यान को भी कर सकता है ॥ ४९ ॥

आयुःकर्म के योग से यदि कदाचित् अन्य भी अधिक कर्म हों तो उन की शान्ति के लिये योगी को समुद्घात करना चाहिये ॥ ५० ॥

योगी को उचित है कि तीन समय में दण्ड, कपाट और मन्थानक को करके चौथे समय में सम्पूर्ण लोक को पूर्ण करदे ॥ ५१ ॥

तदनन्तर चार समयों में इस लोक पूरण से निवृत्त होकर आयुः सम कर्म को करके प्रतिलोम मार्ग से ध्यानी हो ॥ ५२ ॥

श्रीमान् तथा अचिन्त्य (७) पराक्रम युक्त होकर शरीर योग अथवा बादरमें स्थित होकर बादर वाग्योग तथा मनोयोगको शीघ्रही रोक देता है ॥५३

सूक्ष्मकाय योग से बादर काययोग को रोक दे; उस के निरुद्ध (८) न होने पर सूक्ष्म तनुयोग (९) नहीं रोका जा सकता है ॥ ५४ ॥

१—देव ॥ २—सर्प ॥ ३—वन्दना ॥ (नमस्कार) किये गये हैं चरण जिनके ॥ ४—प्रकाश का समूह ५—ज्ञान ६—मुहूर्त के भीतर, मुहूर्त से कुछ कम ॥ ७—न सोचे जाने योग्य ॥ ८—रुका हुआ ॥ ९—सूक्ष्म शरीर योग ॥

सूक्ष्म तनुयोग से सूक्ष्म वचन योग तथा मनोयोग को रोक देता है, तदनन्तर सूक्ष्मक्रियायुक्त तथा असूक्ष्म तनुयोग वाले ध्यानको करता है ॥५५॥

तदनन्तर योगरहित उस पुरुष के "समुत्पन्न क्रिय" ध्यान प्रकट हो जाता है तथा इस के अन्त में चार अघातिकर्म क्षीण हो जाते हैं ॥ ५६ ॥

जितने समयमें पांच लघु वर्णों का उच्चारण होता है उतने ही समय में शैलेशी को प्राप्त होकर सब प्रकारसे वेद्य, आयु, नाम और गोत्र कर्मों को एक ही समय में उपशान्त कर देता है ॥ ५७ ॥

संसार के मूल कारण—औदारिक, तैजस और कार्मणों को यहीं छोड़कर ऋजुश्रेणि से एक समय में लोकान्त को चला जाता है ॥ ५८ ॥

उपग्रह के न होने से उस की ऊर्ध्वगति नहीं होती है, गौरव के न होने से उस की अधोगति नहीं होती है तथा योग के प्रयोग का नाश हो जाने से उस की तिर्यग् गति भी नहीं होती है ॥ ५९ ॥

किन्तु लाघवके योगसे धूमकेसमान, सङ्गके विरहसे अलाबुके फल के समान तथा बन्धन के विरह से एरण्ड के समान सिद्धकी ऊर्ध्वगति होती है ॥६०।

पश्चात् केवल ज्ञान और दर्शन को प्राप्त होकर तथा मुक्त होकर वह सादि अनन्त, अनुपम, बाधा रहित तथा स्वाभाविक सुख को पाकर मुदित होता है ॥ ६१ ॥

क—श्रुतरूप समुद्र में से तथा गुरु के मुखसे जो मैंने प्राप्त किया था उसे मैंने अच्छे प्रकार दिखला दिया, अब मैं इस अनुभव सिद्ध निर्मल तत्त्व को प्रकाशित करता हूं ॥ १ ॥

इस योगाभ्यास में-विक्षिप्त, यातायात, श्लिष्ट और सुलीन, यह चार प्रकार का चित्त है तथा वह तत्त्वज्ञों (१) के लिये चमत्कारकारी (२) है ॥२॥

विक्षिप्त चल माना गया है (३) तथा यातायात कुछ सानन्द है, ये दोनों ही (चित्त) प्रथम अभ्यास में विकल्प विषय का ग्रहण करते हैं ॥ ३ ॥

श्लिष्ट चित्त स्थिर तथा सानन्द होता है, तथा सुलीन चित्त अति निश्चल (४) तथा परानन्द (५) होता है, इन दोनों चित्तों को बुद्धिमानों ने तन्मात्र विषय (६) का ग्राहक माना है ॥ ४ ॥

क—अब यहां से आगे उक्त ग्रन्थके बारहवें प्रकाश का विषय लिखा जाता है ॥

१-तत्त्वके जानने वालों ॥ २-चमत्कारका करने वाला ॥ ३-चल चित्तको विक्षिप्त कहते हैं ॥ ४-बहुत ही अचल ॥ ५-उत्कृष्ट आनन्द युक्त ॥ ६—केवल उतने ही विषय ॥

इस प्रकार क्रम से अभ्यास के आवेश (१) से निरालम्ब (२) ध्यान का सेवन करे, तदनन्तर (३) समान रसभाव को प्राप्त होकर परमानन्द का अनुभव करे ॥ ५ ॥

बाह्य स्वरूप को दूर कर प्रसक्तियुक्त (४) अन्तरात्मा से योगी पुरुष तन्मयत्व (५) के लिये निरन्तर परमात्मा का चिन्तन करे ॥ ६ ॥

आत्मबुद्धिसे ग्रहण किये हुए कायादि को बहिरात्मा कहते हैं तथा कायादि का जो समधिष्ठायक (६) है वह अन्तरात्मा कहलाता है ॥ ७ ॥

बुद्धिमान् जनों ने परमात्मा को चिद्रूप, (७) आनन्दमय, (८) सब उपाधियों से रहित, शुद्ध, इन्द्रियों से अगम्य, (९) तथा अनन्त गुणयुक्त कहा है ॥ ८ ॥

योगी पुरुष आत्मा को काय से पृथक् जाने तथा सद्रूप आत्मासे काय को पृथक् जाने, क्योंकि दोनों को अभेद रूप से जानने वाला योगी आत्मनिश्चय में (१०) अटक जाता है ॥ ९ ॥

जिस के भीतर ज्योतिः आच्छादित (११) हो रही है; वह मूढ़ आत्मासे परभव में सन्तुष्ट होता है; परन्तु योगी पुरुष तो बाह्य पदार्थों से मन को हटाकर आत्मा में ही सन्तुष्ट हो जाता है ॥ १० ॥

यदि ये (योगी जन) आत्मा में ही आत्मज्ञान की इच्छा करें तो ज्ञानवान् पुरुषों को बिना यत्न के ही अवश्य अविनाशी पद प्राप्त हो सकता है ॥ ११ ॥

जिस प्रकार सिद्धरस के स्पर्श से लोहा सुवर्णभाव (१२) को प्राप्त होता है उसी प्रकार आत्मध्यान से आत्मा परमात्मभाव को प्राप्त होता है ॥१२॥

जन्मान्तर के संस्कार से स्वयं ही तत्त्व प्रकाशित हो जाता है, जैसे कि सोकर उठे हुए मनुष्य को उपदेश के बिना ही पूर्व पदार्थों का ज्ञान हो जाता है ॥ १३ ॥

१–वेग, वृद्धि ॥ २–आश्रय रहित ॥ ३–उस के पीछे ॥ ४–तत्परताके सहित ॥ ५–तत्स्वरूपत्व ॥ ६–नेता, आश्रय दाता ॥ ७–चेतनस्वरूप, ज्ञानरूप ॥ ८–आनन्दस्वरूप ॥ ९–न जानने योग्य ॥ १०–आत्मा का निश्चय करनेमें ॥ ११–ढकी हुई ॥ १२–सुवर्णत्व, सुवर्णपन ॥

अथवा गुरु के चरणों की उपासना (१) करनेवाले, शान्ति युक्त तथा शुद्ध चित्त वाले पुरुष को इस संसारमें ही गुरु की कृपा से तत्त्व का ज्ञान प्रकट हो जाता है ॥ १४ ॥

उसमें भी—प्रथमतत्त्वज्ञानमें तो गुरु ही संवादक (२) है तथा वही अपर ज्ञानमें दर्शक (३) है; इसलिये सदा गुरु का ही सेवन करे ॥ १५ ॥

जिस प्रकार गाढ़ (४) अन्धकारमें निमग्न (५) पुरुषके लिये पदार्थों का प्रकाशक (६) सूर्य है उसी प्रकार इस संसारमें अज्ञानान्धकार (७) में पड़े हुए पुरुष के लिये (पदार्थप्रदर्शक) गुरु है ॥ १६ ॥

इसलिये योगीपुरुष को उचित है कि—प्राणायाम आदि क्लेशों का परित्यागकर गुरु का उपदेश पाकर आत्माके अभ्यास में रति (८) करे ॥ १७ ॥

शान्त होकर वचन मन और शरीरके क्षोभ (९) को यत्न के साथ छोड़ दे तथा रस के भाण्ड (१०) के समान अपने को नित्य निश्चल रक्खे ॥ १८ ॥

वृत्ति (११) को औदासीन्य (१२) में तत्पर कर किसी का चिन्तन न करे, क्योंकि संकल्पयुक्त (१३) चित्त स्थिरता (१४) को प्राप्त नहीं होता है ॥ १९ ॥

जहांतक थोड़ासा भी प्रयत्न रहता है जहांतक कोई भी संकल्प (१५) की कल्पना (१६) रहती है तबतक लय (१७) की भी प्राप्ति नहीं होती है तो फिर तत्त्वकी प्राप्तिका तो क्या कहना है ॥ २० ॥

"यह इसी प्रकारसे है" इस तत्त्व को गुरु भी साक्षात् नहीं कह सकता है वही तत्त्व औदासीन्यमें तत्पर पुरुष को स्वयं ही प्रकाशित हो जाता है ॥ २१ ॥

एकान्त, पवित्र, रम्य (१८) देश (१९) में सदा सुख पूर्वक बैठकर चरणसे लेकर शिखा (२०)के अग्रभागतक सब अवयवोंको शिथिलकर मनोहर रूपको देखकर भी; सुन्दर तथा मनोज्ञ (२१) वाणीको सुनकर भी,सुगन्धित पदार्थों

१–सेवा ॥ २–प्रमाणरूप, सत्यताका निश्चय करानेवाला ॥ ३–दिखलानेवाला ॥ ४–घोर ॥ ५–डूबा हुआ ॥ ६–करनेवाला ॥ ७–अज्ञानरूप अन्धकार ॥ ८–प्रीति ॥ ९–चाञ्चल्य ॥ १०–वर्त्तन ॥ ११–मनकी प्रवृत्ति ॥ १२–उदासीनभाव ॥ १३ संकल्पवाला ॥ १४–स्थिर भाव ॥ १५–मनोवासना ॥ १६–विचार ॥ १७–एकाग्रता ॥ १८–रमणीक सुन्दर ॥ १९–स्थान ॥ २०–चोटी ॥ २१–मनको अच्छी लगनेवाली ॥

को सूंघकर भी, स्वादुरसों (१) का भोजनकर भी मृदुभावों (२) को देखकर भी, तथा चित्त की वृत्तिका निवारण न करके भी औदासीन (३) को धारणकर नित्य विषयों के भ्रम को दूर कर बाहर तथा भीतर सब ओर चिन्ताकी चेष्टा को छोड़कर योगी पुरुष तन्मयभाव को प्राप्त होकर निरन्तर उदासीन भाव को प्राप्त कर लेता है ॥ २२–२५ ॥

अपने २ ग्राह्य (४) (विषयों) का ग्रहण करती हुई इन्द्रियों को चाहें न भी रोक सके तथापि उन्हें उनमें प्रवृत्त न करे तो भी उसे शीघ्र ही तत्त्व प्रकाशित हो जाता है ॥ २६ ॥

चित्त भी जहां २ प्रवृत्त होता है उस २ में से उसे हटाया नहीं जा सकता है, क्योंकि हटानेसे उसकी उनमें अधिक प्रवृत्ति होती है तथा न हटानेसे शान्त हो जाता है ॥ २७ ॥

जिस प्रकार मदसे उन्मत्त हाथी हटानेसे भी अधिक मत्त (५) होता है तथा निवारण न करनेसे अभिलाषा को प्राप्त कर शान्त हो जाता है, उसी प्रकार मनको भी जानना चाहिये ॥ २८ ॥

जब, जिस प्रकार, जहां और जिससे, योगीका चल (६) चित्त स्थिर होता हो, तब, उस प्रकार, वहां और उससे, उसे किसी प्रकार भी हटाना नहीं चाहिये ॥ २९ ॥

इस युक्तिसे अभ्यास करनेवाले पुरुषका अति चञ्चल भी चित्त अङ्गुलिके अग्रभाग पर स्थापित दण्डके समान स्थिर हो जाता है ॥ ३० ॥

पहिले निकल कर दृष्टि जिस किसी स्थानमें संलीन (७) होती है वहां पर वह स्थिरता को पाकर शनैः शनैः (८) विलीन (९) हो जाती है ॥ ३१ ॥

सर्वत्र प्रसृत (१०) होनेपर भी शनैः शनैः प्रत्यक्त हुई दृष्टि उत्तम तत्त्व रूप निर्मल दर्पण में स्वयं ही आत्मा को देख लेती है ॥ ३२ ॥

उदासीनता (११) में निमग्न, प्रयत्न से रहित तथा निरन्तर परमानन्द की भावनासे युक्त आत्मा कहीं भी मनको नियुक्त नहीं करता है ॥ ३३ ॥

आत्मासे उपेक्षित (१२) चित्तपर इन्द्रियां भी कदाचित् अपना प्रभाव नहीं डाल सकती हैं, इसीलिये इन्द्रियां भी अपने २ ग्राह्य (१३) (विषयों) में प्रवृत्त नहीं होती हैं ॥ ३४ ॥

१–स्वाद युक्त ॥ २–कोमल पदार्थों ॥ ३–उदासीनभाव ॥ ४–ग्रहण करनेयोग्य ॥ ५–मद युक्त ॥ ६–चञ्चल ॥ ७–आसक्त, बद्ध, तत्पर, स्थित ॥ ८–धीरे धीरे ॥ ९–निमग्न ॥ १०–फैली हुई ॥ ११–उदासीन भाव ॥ १२–उपेक्षासे युक्त ॥ १३–ग्रहणकरने योग्य ॥

जब आत्मा मनको प्रेरणा नहीं करता है तथा मन इन्द्रियोंको प्रेरणा नहीं करता है तब दोनोंसे भ्रष्ट होकर मन स्वयं ही विनाश को प्राप्त होता है ॥ ३५ ॥

सब ओरसे मनके नष्ट हो जानेपर तथा सकल तत्त्व के सर्व प्रकार से विलीन हो जानेपर वायुरहित स्थानमें स्थित दीपक के समान निष्कल (१) तत्त्व प्रकट हो जाता है ॥ ३६ ॥

यह प्रकाशमान (२) तत्त्व स्वेदन (३) और मर्दन (४) के विना भी अङ्ग की मृदुता (५) का कारण है तथा विना तेल के चिकना करने वाला है ॥ ३७ ॥

उत्पन्न होती हुई अमनस्कता (६) के द्वारा मन रूपी शल्य (७) का नाश होनेपर शरीर छत्र के समान स्तब्धता (८) को छोड़कर शिथिल हो जाता है ॥ ३८ ॥

निरन्तर क्लेश देनेवाले शल्यरूपी अन्तः करण को शल्य रहित करनेके लिये अमनस्कता के अतिरिक्त और कोई औषध नहीं है ॥ ३९ ॥

अविद्या (अज्ञान) केलेके वृक्षके समान है, चञ्चल इन्द्रियां ही उसके पत्र हैं तथा मन उसका मूल है, वह (अविद्यारूप कदली) अमनस्करूप (९) फल के दीखनेपर सर्वथा नष्ट हो जाती है ॥ ४० ॥

अति चञ्चल, अति सूक्ष्म तथा वेगवत्ता (१०) के कारण अत्यन्त दुर्लभ चित्त का निरन्तर प्रमाद को छोड़कर अमनस्करूपी शलाका (११) से भेदन करना चाहिये ॥ ४१ ॥

अमनस्क के उदय के समय योगी शरीर को विश्लिष्ट (१२) के समान, प्लुष्ट (१३) के समान, उड्डीन (१४ के समान तथा प्रलीन (१५) के समान असद्रूप (१६) जानता है ॥ ४२ ॥

मदोन्मत्त (१७) इन्द्रियरूप सर्पों से रहित, विमनस्क रूप नवीन अमृत

१–कला रहित, निर्विभाग ॥ २–प्रकाश युक्त ॥ ३–पसीना उत्पन्न करना ॥ ४–मलना ॥ ५–कोमलता ॥ ६–अनीहा, मनकी अनासक्ति ॥ ७–कांटा चुभनेवाला पदार्थ॥ ८–चञ्चलता, अमृदुता ॥ ९–अनीह रूप ॥ १०–वेगशालीपन ॥ ११–सलाई ॥ १२–वियुक्त ॥ १३–दग्ध ॥ १४–उड़े हुए ॥ १५–निमग्न ॥ १६–अविद्यमान रूप ॥ १७–मद से उन्मत्त ॥

कुवहमें मग्न हुआ योगी अनुपम, (१) उत्कृष्ट (२) अमृत स्वाद का अनुभव करता है ॥ ४३ ॥

विमनस्क (३) के होनेपर रेचक, पूरक तथा कुम्भक के करने के अभ्यास के क्रमके विना भी विना प्रयत्नके ही वायु स्वयमेव नष्ट हो जाता है ॥४४॥

चिरकाल तक प्रयत्न करने पर भी जिसका धारण नहीं किया जा सकता है वही पवन अमनस्क के होने पर उसी क्षण स्थिर हो जाता है ॥ ४५ ॥

अभ्यास के स्थिर हो जानेपर तथा निर्मल निष्कल तत्त्वके उदित (४) हो जानेपर योगी पुरुष श्वास का समूल उन्मूलन (५) कर मुक्त के समान मालूम होता है ॥ ४६ ॥

जो जाग्रदवस्था (६) में भी ध्यानस्थ (७) होकर सोते हुए पुरुष के समान स्वस्थ रहता है तथा श्वास और उच्छ्वास (८) से रहित हो जाता है, वह मुक्ति सेवनसे हीन नहीं रहने पाता है ॥ ४७ ॥

जगतीतल वर्ती (९) लोग-सदा जाग्रदवस्था(१०) वाले तथा स्वप्नावस्था (११) वाले होते हैं, परन्तु लय (ध्यान) में मग्न तत्त्वज्ञानी न तो जागते हैं और न सोते हैं ॥ ४८ ॥

स्वप्न में शून्यभाव(१२)होता है तथा जागरण (१३) में विषयों का ग्रहण होता है, इन दोनों का अतिक्रमण (१४) कर आनन्दमय तत्त्व अवस्थित है ॥ ४९ ॥

कर्म भी दुःख के लिये हैं तथा निष्कर्मत्व (१५) तो सुख के लिये प्रसिद्ध ही है, इस मोक्ष को सुगमतया (१६) देनेवाले निष्कर्मत्व में प्रयत्न क्यों नहीं करना चाहिये ॥ ५० ॥

मोक्ष हो, अथवा न हो, किन्तु परमानन्द का भोग तो होता ही है कि जिसके होनेपर सब सुख अकिञ्चित् रूप (१७) में मालूम होते हैं ॥५१॥

उक्त सुख के आगे मधु भी मधुर नहीं है, चन्द्रमा की कान्ति भी शीतल नहीं है, अमृत नाम मात्रका है, सुधा निष्फल और व्यर्थ रूपहै,अतः (१८) हे

१-उपमा रहित ॥ २-ऊंचे ॥ ३-मनोऽप्रवृत्ति ॥ ४-उदय युक्त ॥ ५-नाश ॥ ६-जागते हुए की दशा ॥ ७-ध्यानमें स्थित ॥ ८-ऊर्ध्वश्वास ॥ ९-संसारमें स्थित ॥ १०-जाग्रद्दशा ॥ ११-स्वप्नदशा ॥ १२-शून्यता ॥ १३-जागना ॥ १४-उल्लंघन ॥ १५-ठहरा हुआ ॥ १६-कर्मसे रहित होना ॥ १७-सहज में ॥ १८-तुच्छरूप ॥

मित्र ! दूसरे प्रयत्न से क्या प्रयोजन है; किन्तु परमानन्द को प्राप्त होनेपर तुझ में ही अविकल (१) फल स्थित है, इसीलिये तू उसी में मनको प्रसन्न रख ॥ ५२ ॥

उस तत्त्व मनके होनेपर अरति (२) और रति (३) की देनेवाली वस्तु दूर से ही ग्रहण की जाती है, किन्तु मनके समीप न होनेपर कुछ भी नहीं प्राप्त होता है, इस तत्त्व को जानने वाले पुरुषों की इच्छा भला उस सद्गुरूपासना (४) में क्यों नहीं होगी जो कि उन्मनीभाव (५) का कारण है ॥ ५३ ॥

उन २ उपायोंमें मूढ (६) हे भगवन् आत्मन् ! तू परमेश्वर तक से भी पर (७) उन २ भावों की अपेक्षा (८) कर उन २ भावोंके द्वारा तू मनको प्रसन्न करने के लिये क्यों परिश्रम करता है, अरे ! तू थोड़ा भी आत्माको प्रसन्न कर कि जिससे सम्पत्तियां हों तथा परम तेज में भी तेरा प्रकृष्ट (९) साम्राज्य (१०) उत्पन्न हो ॥ ५४ ॥

यह तीसरा परिच्छेद समाप्त हुआ ॥

१-इसलिये ॥ २-पर्याप्त, परिपूर्ण ॥ ३-अप्रीति, द्वेष ॥ ४-प्रीति राग ५-श्रेष्ठ गुरु की सेवा ६-उदासीन भाव ॥ ७-मूर्ख, अज्ञान ॥ ८-भिन्न ॥ ९-इच्छा ॥ १०-उत्तम ॥ ११-चक्रवर्तित्व ॥

अथ चतुर्थः परिच्छेदः ।

अथ श्रीनमस्कारकल्पा(१)दुपयोगिविषयो लिख्यते (२) ॥

ओं नमः पञ्चपरमेष्ठिने ।

अथ कतिपये पञ्चपरमेष्ठिनां (३) सम्प्रदायात् स्वसंवेदनत आम्नाया लिख्यन्ते ।

१–पञ्चानामादिपदानां पञ्चपरमेष्ठिमुद्रया जापे कृते समस्तक्षुद्रोपद्रवनाशः कर्मक्षयश्च ॥

२–तत्र कर्णिकायामाद्यम्पदम्, (४) शेषाणि चत्वारि सृष्ट्या (५) शङ्खावर्त (६) विधिना, सकलस्य १०८ स्मरणे शाकिन्यादयो न प्रभवन्ति ॥

१–ग्रन्थस्यादाववसाने च निर्मातुराख्याया असत्त्वादेष कदा केन च दृब्ध इति नो निर्णीयते, लिखितमस्ति ग्रन्थावसाने केवलमेतदेव यद् "इति नमस्कारकल्पः समाप्तः संवत् १८६६ मिते माघवदि ६ श्रीबीकानेरे लि० पं०महिमाभक्तिमुनिना" इति, पुरातनत्वे तु ग्रन्थस्यास्य न काचिदारेकेत्यवगन्तव्यम्, सर्वेऽस्याम्नाया अपिकिलयाथार्थ्यभाजएवेति विद्वज्जनप्रवादो भक्तिमातनोत्येवात्रेति नास्य शङ्कास्पदं कोऽपि विषयः ॥ २–यद्यप्यहमदाबादस्थ "नानालाल" महोदयेन लिखिते, मुम्बई नगरस्थ "मेघजी हीरजी" महोदयेन प्रकाशमानीते, अहमदाबादस्थ "श्रीसत्यविजयप्रिण्टिंगप्रेस" नामके च यन्त्रालये मुद्रणमुपगते "श्रीनवकारमन्त्रसङ्ग्रह" नामके पुस्तके वशीकरणादिप्रयोगमन्त्रा अपि सविधि विविधाः प्रकाशमानीता विद्यन्ते तथापि संसारिणां केषाञ्चिद्वक्रक्लिष्टान्तःकरणानामपात्रस्वसमन्वितानामसुमतां विधिविशेषसमवाप्तौ मा भूद्धानिस्तैर्वाऽन्येषामित्यालोच्य मया सर्वसाधारणोपयोगिनो विषया एव सन्दर्भादेतस्मादुद्धृत्यात्र लिख्यन्ते, अनुमोदिष्यन्त एव सहृदयाः पाठका मदीयमेतं विचारमित्याशासेऽहम्, मन्त्राराधने वस्त्रासनाद्युपयोगविधिः, मन्त्रान्तःस्थपदविशेषार्थश्च संक्षेपेण भाषाटीकायामग्रे लेखिष्यते ॥ ३–बहुवचनं चिन्त्यम् ॥ ४–ध्यातव्यमिति शेषः ॥ ५–स्वभावेन रचनया वा ॥ ६–शङ्खस्य यदावर्त्तनं तद्रूपविधिना ॥

३–ओं (१) णमो अरिहन्ताणं शिखायाम्, णमो सिद्धाणं शि (मु) खाव-रणे (२) णमो आयरियाणं अङ्गरक्षा, णमो उवज्झायाणं आयुधम्, ओं णमो लोए सव्वसाहूणं मोचा, (३) एसो पञ्च णमोक्कारो पादतले वज्रशिला, सव्व-पावप्पणासणो वज्रमयः प्राकार(४)श्चतुर्दिक्षु, मङ्गलाणं च सव्वेसिं खादिराङ्गा-रखातिका, (५) पढमं हवइ मङ्गलं प्राकारोपरि वज्रमयं ढङ्कणम्, (६) इति महारक्षा सर्वोपद्रवविद्रावणी (७) ॥

४–ओं णमो अरिहन्ताणं ह्रां हृदयं रक्ष रक्ष हुं फुट् (८) स्वाहा, ओं णमो सिद्धाणं ह्रीं शिरो रक्ष रक्ष हुं फुट् स्वाहा, ओं णमो आयरियाणं (९) हू

१–पूर्वोक्ते "नवकार मन्त्रसङ्ग्रहे" नामके पुस्तके "ओम्,, इति पदं नास्ति, एवम् "ओं णमो लोए सव्वसाहूणं मोचा" इत्यत्रापि तत्पदं नास्ति, किन्तु योगप्रका-शनामके स्वनिर्मितग्रन्थेऽष्टमप्रकाशे द्वासप्ततितमे श्लोके श्री हेमचन्द्राचार्यैः प्रतिपादितं यत्–ऐहिकफलमभीप्सुभिर्जनैः प्रणवसहितस्यास्य मन्त्रस्य निर्वाणपदमभीप्सुभिश्च जनैः प्रणवरहितस्यास्य मन्त्रस्य ध्यानं विधेयमिति, नियमेनैतेन ओमिति पदेन भा-व्यमेव, किञ्चाश्रित्यैम नियमं सर्वेष्वपि पदेषु प्रणवस्योपन्यासो विधेय आसीत् सच नोपलभ्यत इति चिन्त्यम् ॥ २–"मुखावरणे" इत्येव पाठः सम्यक् प्रतीयते, किन्तु पू-र्वोक्ते नवकारमन्त्रसङ्ग्रहे "मुखाभ्यर्णे" इति पाठोऽस्ति, सच सम्यमोऽवगम्यते, अस्माभिस्तु यथोपलब्ध पुस्तकानुसृत्य तल्लिखितएव पाठस्तस्मादुद्धृत्यात्र सङ्गृ-हीतः सर्वत्रेत्यवयातव्यम् ॥ ३–मोचा शब्दः शाल्मलि वाचकः, तद्वाचकः "स्थिरायुः" शब्दोऽपि, स्थिरमायुर्यस्याः स्थिरायुः, षष्टिवर्षसहस्राणि वने जीवति शाल्मलिरिति वचनात्, ततोऽत्र मोचाशब्देन स्थिरायुष्ट्वमुपलक्ष्यते, नवकारमन्त्रसङ्ग्रहे च "मोचा" शब्दस्थाने "मौर्वी" इति पाठः, सचासन्दिग्धएव ॥ ४–पूर्वोक्ते नवकारमन्त्रसङ्ग्रहे "वज्रमयप्राकाराः" इति पाठः ॥ ५–पूर्वोक्ते नवकारमन्त्रसङ्ग्रहे "खादिराङ्गारखा-तिका" इत्यस्य स्थाने "शिखादिमयप्रा खातिका" इति पाठोऽस्ति ॥ ६–पूर्वोक्ते पु-स्तके "प्राकारोपरिवज्रमयं ढङ्कणम्" इत्यस्य स्थाने "प्राकारोपरिवज्रटङ्कणिकः" इति पाठो विद्यते ॥ ७–अयं सर्वोपद्रवनिवारको रक्षामन्त्रोऽस्तीत्यर्थः ॥ ८–पूर्वोक्ते नव-कारमन्त्रसङ्ग्रहेऽस्मिन् मन्त्रे "फुट्" इति पदस्य स्थाने सर्वत्र "फट्" इति पाठोऽ-स्ति, सएवच साधुरवगम्यते, यतः "फट्" शब्दस्यैवास्त्रबीजत्वं कोशादिषु सुप्र-सिद्धं नतु "फुट्" शब्दस्य, किञ्च "फुट्" शब्दस्तु कोशेषु समुपलभ्यतएव नेत्यवग-न्तव्यम् ॥ ९–पूर्वोक्त नवकारमन्त्रसङ्ग्रहे ""हू" इत्यस्य स्थाने "ह्रौं" इति पाठोऽ-स्ति, सच "ह्रौं" शब्दस्य पूर्वमुपन्यस्तत्वान्न सम्यगाभाति ॥

शिखां रक्ष रक्ष हुं फुट् स्वाहा, ओं णमो उवज्झायाणं हूँ (१) एहि एहि भगवति वज्र कवचं (२) वज्रिणि वज्रिणि (३) रक्ष रक्ष हुं फुट् स्वाहा, ओं णमो लोए सव्वसाहूणं हुःक्षिप्रं क्षिप्रं (४) साधय साधय वज्रहस्ते शूलिनि दुष्टान् रक्ष रक्ष (५) हुंफुट् स्वाहा, एसो (६) पञ्चणमोक्कारो वज्रशिला प्राकारः, सव्वपावप्पणासणो अप्पमयी (अमृतमयी (७)) परिखा, मङ्गलाणं च सव्वेसिं महावज्राग्निप्रकारः, पढमं हवइ मंगलं उपरि वज्रशिला, इन्द्रकवचमिदम्, आत्मरक्षायै उपाध्यायादिभिः स्मरणीयम् ॥

५—ओं णमो अरिहन्ताणं ओं णमो सिद्धाणं ओं णमो आयरियाणं ओं णमो उवज्झायाणं ओं णमो सिद्धाणं लोए सव्वसाहूणं ओं णमो नाणाय ओं णमो दंसणाय ओं णमो चारित्ताय (८) ओं णमो तवाय (१०) ओंह्रीं त्रैलोक्य वशं (११) (श्री) करी (१२) ह्रीं स्वाहा ॥ सर्वकर्मकर (कृत्) (१३) मन्त्रः, कलपानीयेन (१४) छणटनम् (१५) यातञ्च (१६) लावणचक्षुः (१७) शिरोऽर्द्धशिरोऽत्योदि (१८) कार्येषु योज्यः (१९) ॥

६—ओं (२०) णमो लोए सव्वसाहूणं इत्यादि प्रति लोमतः (२१) पञ्चपदैः

१-पूर्वोक्त पुस्तके "हूँ" इत्यस्य स्थाने "हूं" इति पाठोऽस्ति, सत्र चिन्त्यः ॥ २-पूर्वोक्त पुस्तके "कवचा" इति पाठः ॥ ३-पूर्वोक्त पुस्तके "वज्रिणि" इत्येवं सकृदेव पाठः ॥४-पूर्वोक्त पुस्तके"क्षिप्रम्"इति सकृदेव पाठः ॥ ५-रक्षणमत्रनिग्रहपूर्वकं धारणमवसेयम्, ततोऽयमर्थः-दुष्टान् निग्रहपूर्वकं धारय धारय" इति ॥ ६-पूर्वोक्तपुस्तके "एसो" इत्यारभ्य पाठएव नास्ति ॥ ७- 'अमृतमयी" इति पाठः सम्यगाभाति ॥ ८-पूर्वोक्तपुस्तके "अरुहन्ताणं" इति पाठः ॥ ९-पूर्वोक्तपुस्तके "चरित्ताय" इति पाठः, अर्थस्त्वभिन्नएव ॥ १०-पूर्वोक्तपुस्तके"ओं णमो तवाय"इति नास्ति पाठः, ॥११-पाठद्वयेऽप्यर्थाभेदः ॥१२-पूर्वोक्त पुस्तके"त्रलोक्यवश्यं कुरु"इति पाठोऽस्ति ॥ १३-पाठद्वयेऽप्यर्थाभेदः ॥ १४-स्वच्छजलेन ॥ १५-बिन्दुप्रक्षेपः ॥ १६-जलस्यैति शेषः ॥ १७-पतितलवणरसविशिष्ट चक्षुः ॥ १८-अर्त्तिः पीड़ा ॥ १९-पूर्वोक्ते "नवकारमन्त्रसङ्ग्रह" नामके पुस्तके " सर्वकर्म " इत्यारभ्य मन्त्रोपयोगविधिर्न विद्यते ॥ २०-पूर्वोक्त नवकार मन्त्रसङ्ग्रहे " ओं णमो लोए सव्वसाहूणं, ओं णमो उवज्झायाणं, ओं णमो आयरियाणं. ओं णमो सिद्धाणं, ओं णमो अरुहन्ताणं, ऐं ह्रीं" इत्येवं मन्त्रोऽस्ति ॥ २१-पश्चानुपूर्व्यमित्यर्थः ॥

(१) ह्रीं पूर्वैः (२) पट्टादि (३) ग्रन्थिं दत्वा वार १०८ परिजप्य आच्छाद्यते, ज्वर उत्तरति, यावज्जपनं धूपमुद्ग्राह्यम् (४) (धूपोद्ग्राहनम् (५)), परं नवीन (नूतन) ज्वरे न कार्यम् (६), पूर्वोक्तदोषसत् ॥ (७)

७–ओं ह्रीं णमो अरिहंताणं, ओं ह्रीं णमो सिद्धाणं, ओं ह्रीं णमो आयरियाणं, ओं ह्रीं णमो उवज्झायाणं, ओं ह्रीं णमो लोए सव्वसाहूणं ॥ एषा पञ्चचत्वारिंशदक्षरा विद्या यथा स्वयमपि न श्रूयते तथा स्मर्तव्या (८), दुष्टचौरादि सङ्कटे महापत्स्थाने च शान्त्यै, जलवृष्ट्यै चोपाश्रये गुणयते ॥

८–ओं ह्रीं णमो भगवओ अरिहंत सिद्ध आयरिय उवज्झाय सव्वसाहूय सव्वधम्मतित्थयराणं, ओं णमो भगवई ए सुयदेवयाए, ओं णमो भगवई ए सन्ति देवयाए, सव्वप्पवयण देवयाणं दसराहं दिसापालाणं, पंचराहं लोगपालाणं, ओं ह्रीं अरिहंत देवं नमः ॥ एषा विद्या १०८ जप्या (९), पठित. सिद्धा (१०), वादे व्याख्यानेऽन्येषु कार्येषु सर्वसिद्धिं जयं ददाति, अनेन सप्तवाराभिमन्त्रिते वस्त्रे ग्रन्थिर्बन्धनीया (११) (ग्रन्थिर्बद्धो)ऽध्वनि तस्करभयं (भी) न स्यात् (हत्) (१२) अन्येऽपि व्यालादयो [१३] दूरतो यान्ति ॥

९–ओं णमो अरिहंताणं, ओं णमो सिद्धाणं, ओं णमो आयरियाणं, ओं णमो उवज्झायाणं; ओं णमो लोए सव्वसाहूणं, ओं ह्रां ह्रीं ह्रूं (१४) ह्रौं ह्रः स्वाहा ॥ सर्व कर्म करः (कृत् (१५)) कलोददाति (१६) (कलोदकादि)

१–बहुवचनं सन्दिग्धम् ॥ २–पूर्वोक्त पुस्तके विधिर्भाषायाम् वर्णितः ॥ ३-"पट्टादौ" "पटार्द्रा" वा इति पाठः स्यात्तर्हि सम्यक् ॥ ४–सन्दिग्धपदं तत्वर्थः ॥ ५-यावन्मन्त्रजपनं स्यात्तावद्धूपप्रदानं विधेयमित्याशयः ॥ ६–मन्त्रजपनमिति शेषः ॥ ७–ज्वरहृदयमन्त्र इत्यर्थः ॥ ८–मनसि जापो विधेय इत्यर्थः ॥ ९–अष्टोत्तरशतं वारान् जपनीयेत्यर्थः ॥ १०–पठितैव सिद्धेत्यर्थः ॥ ११–ग्रन्थिशब्दस्य पुंस्त्वात् "बन्धनीयः" इति भवितव्यम् ॥ १२–"तस्कर भयं न स्यात्" "तस्करभीहत्" इति पाठद्वयस्यापि प्रायस्तुल्यार्थत्वमेव ॥ १३–सर्पादयः सिंहादयो वा ॥ १४–पूर्वोक्ते नवकारमन्त्रसङ्ग्रहे " ह्रूं ह्रौं " इति पदद्वयस्थाने "ह्रौं" इत्येकमेवपदम् ॥ १५–पाठद्वयेऽप्यर्थाभेदः ॥ १६–"कलो ददाति" यद्वा "कलोदकादि" इति पाठद्वयमपि सन्दिग्धम्, कलोदकमभिमन्त्र्य तत्प्रक्षेपणं तत्पानञ्च विधेयमित्यर्थोऽवगम्यते, किञ्च–पूर्वोक्ते नवकारमन्त्रसङ्ग्रहे तु मन्त्रजपनमात्रमेव विधिरूपेण प्रतिपादितमिति ॥

१०–आद्यम्पदं (१) ब्रह्मरन्ध्रे, द्वितीय(२) कभाले, तृतीयं (३) दक्षिणश्रवणे (४), तुर्यम (५) वटौ (६), पञ्चमं (७) वामकर्णे, चूलापदानि (८) दक्षिणसंख्यादि विदिक्षु (९), इति पद्मावर्त्तजापः (१०), कर्मक्षयातिरेकाय (११), मनः स्थैर्य हेतुत्वात् ॥

११–पढमं हवइ मंगलं वज्रमयी शिला मस्तकोपरि, णमो अरिहंताणं अङ्गुष्ठयोः, णमो सिद्धाणं तर्जन्योः, णमो आयरियाणं मध्यमयोः, णमो उवज्झायाणं अनामिकयोः, णमो लोए सव्वसाहूणं कनिष्ठिकयोः, एसो पंच णमोक्कारो वज्रमयः प्राकारः, सव्वपावप्पणासणो जलभृतां खातिकाम्, मंगलाणं च सव्वेसिं खादिराङ्गार पूर्णां खातिकाम्, आत्मन (१२) श्चिन्तयेत्, महासकलीकरणम् (१३) ॥

१२–ओं ह्रां ह्रीं ह्रौं(हं)(१४) हः असि आ उसा स्वाहा (१५) ॥ ओं ह्रीं (ह्रां) (१६) श्रीं अर्हं असि आ उसा नमः (१७) ॥ द्वावपि एतौ मन्त्रौ सर्वकामदौ ॥

१३–अरिहंतसिद्ध (१८) आयरिय उवज्झाय साधु ॥ षोडशाक्षर्या अस्या विद्याया जापः (१९) २००, चतुर्थफलम् (२०) ॥

१–प्रथमम् ॥ २–पदमिति, शेषः ॥ ३–पदमिति शेषः ॥ ४–दक्षिणकर्णे ॥ ५–चतुर्थम् ॥ ६–अवटु शब्दात् सप्तम्येकवचने रूपम्, सच ग्रीवाशिरः सन्धिपश्चाद् भागस्य वाचकः ॥ ७–पदमिति शेषः ॥ ८–" एसो पञ्च णमोक्कारो " इत्यारभ्य चत्वारि पदानि ॥ ९–दक्षिणसंख्यामादौ कृत्वा सर्वासु विदिक्षु इत्यर्थः ॥ १०–पद्मावर्त्तनजपनम् ॥ ११–अतिशयेन कर्मक्षयाय ॥ १२–षष्ठयन्तम्पदम् ॥ १३–सन्दिग्धोऽयम्पाठः महासकलीकरणमिति स्यात्तर्हि साध्वेव ॥ १४–"ह्रौं" इत्यस्मात् "ह्रूं" इत्येवमेव पाठः सम्यगाभाति ॥ १५–पूर्वोक्ते नवकारमन्त्रसङ्ग्रहे "ओं ह्रां ह्रीं ह्रूँ ह्रौं ह्रः अ–सि–आ–उ–सा स्वाहा" इत्येवम्मन्त्रोऽस्ति ॥ १६–"ह्रीं" इत्यस्मात् "ह्रां" इत्येवमेव पाठः सम्यगवगम्यते ॥ १७–पूर्वोक्ते नवकारमन्त्रसङ्ग्रहे "ओं अर्हं सः ओंअर्हं ऐँ श्रीं अ–सि–आ-उ-सा नमः" इत्येवम्मन्त्रोऽस्ति, एवम्मन्त्रेऽपि मते "अर्हँ" स्थाने "अर्हं" "ऐँ" स्थाने "ऐं" इत्येवम्पाठेन भवितव्यम् ॥ १८–पूर्वोक्ते नवकारमन्त्रसङ्ग्रहे–"अरहन्त सिद्ध आयरिय उवज्झाय सव्वसाहूणं" इत्येवम्मन्त्रोऽस्ति, तत्फलञ्च द्रव्याधासिरूपम्प्रतिपादितं तत्र ॥ १९–शतद्वयवारं जापः कर्त्तव्य इत्यर्थः ॥ २०–भवतीति शेषः ॥

१४– नाभि पद्मे अ, मस्तकाम्भोजे सि, मुखाब्जे आ (१) (या) हृत्पद्मे उ, कण्ठे सा, सर्वकल्याणकारी (२), जापः (३) ॥

१५–ओं (४) णमो अरहंताणं नाभौ, ओं णमो सिद्धाणं हृदि, ओं णमो आयरियाणं कण्ठे, ओं णमो उवज्झायाणं मुखे, ओं णमो लोए सव्वसाहूणं मस्तके, सर्वाङ्गेषु मां रक्ष रक्ष हिलि हिलि मातङ्गिनी स्वाहा ॥ रक्षामन्त्रः ॥

१६–ओं ह्रीं णमो अरिहंताणं पादौ रक्ष रक्ष, ओं ह्रीं णमो सिद्धाणं कटीं रक्ष रक्ष, ओं ह्रीं णमो आयरियाणं नाभिं रक्ष रक्ष, ओं ह्रीं णमो उवज्झायाणं हृदयं रक्ष रक्ष, ओं ह्रीं णमो लोए सव्वसाहूणं ब्रह्माण्डं रक्ष रक्ष ह्रीं एसो पंचणमोक्कारो शिखां रक्ष रक्ष, ओं ह्रीं सव्व पावप्पणासणो आसनं रक्ष रक्ष, ओं ह्रीं मंगलाणं च सव्वेसिं पढमं हवइ मंगलं आत्मचक्षुः परचक्षुः रक्ष रक्ष ॥ रक्षामन्त्रः (५) ॥

१७–ओं णमो अरिहंताणं आभिणिमोहिणि मोहय मोहय स्वाहा ॥ मार्गे गच्छद्भिरियं विद्या स्मर्तव्या, तस्करदर्शनं न स्यात् ॥

१८–ओं ह्रीं (६) श्रीं ह्रूं क्लीं असि आ उसा चुलु चुलु हुलु हुलु कुलु कुलु मुलु मुलु इच्छियं मे कुरु कुरु स्वाहा ॥ त्रिभुवन स्वामिनी विद्या, अस्या उपचारो (७) ऽयम्–जातीपुष्पैः (८) २४००० जापात् सर्वसम्पत्तिकारिणीयम् ॥

१९–ओं ह्रीं अरहंत उत्पत उत्पत स्वाहा ॥ इयमपि त्रिभुवनस्वामिनी, (९) स्मरणाद्वाञ्छितार्थदायिनी ॥

२०–ओं चम्भेउ जलं जलणं चिन्तय इत्यादि घोर वसग्गं मम (१०) अमु-

१–"आ" अयमेव पाठः साधुः ॥ २–इयं विद्येति शेषः ॥ ३–"कर्त्तव्यः" इति शेषः ॥ ४–पूर्वोक्ते नवकारमन्त्रसङ्ग्रहे "ओं णमो अरुहन्ताणं, ओं णमो सिद्धाणं, ओं णमो आयरियाणं, ओं णमो उवज्झायाणं, ओं णमो लोए सव्वसाहूणं, सर्वाङ्गे अस्मद् रक्ष हिल हिल मातङ्गिनि स्वाहा ॥ इत्येवम्मन्त्रोऽस्ति ॥ ५–रक्षाकृद्यम्मन्त्र इत्यर्थः ॥ ६–पूर्वोक्ते नवकारमन्त्रसङ्ग्रहे "ओं ह्रीं श्रीं ह्रीं क्लीं अ–सि–आ–उ–सा चुलु चुलु हुलु हुलु भुलु भुलु इच्छियं मे कुरु कुरु स्वाहा, त्रिभुवन स्वामिनी विद्या" इत्येवम्मन्त्रपाठोऽस्ति ॥ ७–व्यवहारः, प्रयोगः, विधिरिति यावत् ॥ ८–जाती–मालती "चमेली" इति भाषायाम्प्रसिद्धा ॥ ९–"विद्या" इति शेषः ॥ १०–अत्र षष्ठ्यन्तमात्मनाम ग्रहीतव्यम् ॥

कस्य (१) वा पणासेउ स्वाहा ॥ इयंगाथा चन्दनादिद्रव्यैः पट्टे (२) लिखिता नवकारभणनपूर्वं वार १०८ स्मर्त्तव्या पूज्या च सुगन्धपुष्पैरक्षतैर्वा, सर्वभय प्रणाशिनी, रक्षा कार्या (३) ॥

२१–एवं (४) हृत्पुण्डरीके [५] १०८ जपेत्, चतुर्थफलमास्वादयति ॥

२२–ओं णमो अरिहंताणं, ओं णमो सिद्धाणं, ओं णमो आयरियाणं, ओं णमो उवज्झायाणं, ओं णमो लोए सव्वसाहूणं, एसो पंचणमोक्कारो, सव्वपावप्पणासणो, मंगलाणं च सव्वेसिं, पढमं हवइ मंगलं, ओं ह्रीं हूं फट् स्वाहा ॥ अयं रक्षामन्त्रः, नित्यं स्मरणीयः, सर्वरक्षा (६) ॥

२३–ओं (७) ह्रीं णमो अरहंताणं सिद्धाणं सूरीणं आयरियाणं उवज्झायाणं साहूणं मम ऋद्धिं वृद्धिं समीहितं कुरु कुरु स्वाहा ॥ अयम्मन्त्रः शुचिना प्रातः सन्ध्यायाञ्च वार ३२ स्मरणीयः, सर्वसिद्धिः स्यात् ॥

२४–ओं अर्हं असि आ उसा नमो अरिहंताणं नमः ॥ एतं (८) हृत्पुण्डरीके (९) १०८ जपेत्, चतुर्थफलमासादयति ॥

२५–ओं (१०) ह्रीं णमो अरिहंताणं अरे (आरि (११)) अरिणि मोहिणि मोहय मोहय स्वाहा ॥ नित्यं १०८ स्मर्यते, (१२) लाभो भवति ॥

२६–ओं घण्टाकर्णो महावीरः सर्वव्याधिविनाशकः ॥ विस्फोटकभयं प्राप्तेः (१३) रक्ष रक्ष महाबलः(१४)॥१॥ भूर्ये (१५) कुंकुमगोरोचनया जाति (१६) लेखन्या कूपस्य नद्यास्तटेवा उपविश्य लिखेत्, ततोऽनेन (१७) द्वितीयमन्त्रेण ओं णमो अरिहंताणं हां (१८) (ह्रीं) स्वाहा, ओं णमो सिद्धाणं ह्रीं स्वाहा, ओं

१–अत्र षष्ठ्यन्तम्परनाम ग्रहीतव्यम् ॥ २–काष्ठफलके ॥ ३–"रक्षाकारिणी च" इत्येवम्पाठेन भवितव्यम् ॥ ४–पूर्वोक्त प्रकारेण ॥ ५–हृदयकमले ॥ ६–सर्वेभ्यो रक्षा भवतीत्यर्थः ॥ ७–पूर्वोक्ते नवकारमन्त्रसङ्ग्रहे–"ओं अरिहन्ताणं सिद्धाणं आयरियाणं उवज्झायाणं साहूणं मम रिद्धि वृद्धि समाहितं कुरु कुरु स्वाहा" इत्येवम्मन्त्रोऽस्ति ॥ ८–"मन्त्रम्" इति शेषः ॥ ९–हृदयकमले ॥ १०–पूर्वोक्ते नवकारमन्त्रसङ्ग्रहे–"ओं णमो अरुहन्ताणं अरे अरणि मोहिणि अमुकं मोहय मोहय स्वाहा" इत्येवं मन्त्रोऽस्ति, सच स्त्रीवशीकरणफलकः प्रतिपादितः ॥११–पाठद्वयमपिसन्दिग्धम् ॥ १२–"अयम्मन्त्रः" इति शेषः ॥ १३–"भयप्राप्तेः" इत्येवम्पाठेन भाव्यम् ॥ १४–सम्बोधनपदं स्यात्तर्हि सम्यक् ॥ १५–"भूर्जे"इति भवितव्यम् ॥ १६–"जातिः""जाती" इति द्वावपि शब्दौ मालत्याम् ॥ १७–वक्ष्यमाणेन ॥ १८–"ह्रां" इत्येवमेव पाठः सम्यगवगम्यते "ह्रीं"शब्दस्याग्रे प्रयोगात् ॥

णमो आयरियाणं हूं स्वाहा, ओं णमो उवज्झायाणं ह्रौं स्वाहा, ओं णमो सव्वसाहूणं ह्रः स्वाहाः ॥ सुगन्धपुष्पैः १०८ जापं (१) कृत्वा कषाय वस्त्रेण (२) रक्षां (३) वेष्टयित्वा विस्फोटाङ्कितपात्रस्य (विस्फोटकस्थान पत्रस्य (४) गलेवा बाहौ वा धार्या (५), विस्फोटका विरूपा (६) न भवन्ति ॥

२७-ओं ह्रीं वरे सुवरे असि आउसा नमः ॥ इयं विद्या त्रिकालं १०८ स्मृता (७) विभवकरी (८) ॥

२८-ओं ह्रीं ह्रं णमो अरिहंताणं ह्रीं नमः ॥ त्रिसन्ध्यंनिरन्तरं१०८ सितपुष्पै(९)रेकान्ते जापे (१०) क्रियमाणे सर्वसम्पत् लक्ष्मीर्भवति ॥

२९-ओं ह्रीं श्रीं क्लुं क्लुं अर्हं ह्रैं ऐं क्लीं क्लुं क्लुं नमः ॥ सर्वाभ्युदय हेतुः परमेष्ठिमन्त्रोऽयम् ॥

३०-ओं ऐं ह्रीं श्रीं क्लीं क्लौं ब्लूं अर्हं नमः ॥ इमं मन्त्रं त्रिसन्ध्यं जपतः (११) सर्वकार्याणि सिध्यन्ति ॥

३१-णमो जिणाणं जायमाणाणं (जावयाणं (१२)) नय पूहे न सोणियं एएणं सव्ववाई (ए (१३)) णं वणं मा पच्चउ मा दुक्खउ मा फुट्टउ (ओं (१४)) ठः ठः स्वाहा ॥ रक्षामभिमन्त्र्य व्रणादिषुलगाड़ी (१५) जै, खड्गादिघाते तु घृतं रक्षां वाभिमन्त्र्य देया (१६), व्रण (१७) घातपीड़ा निवृत्तिः, दुष्ट व्रणं (१८) सज्जं (१९) भवति ॥

१-अष्टोत्तरशतवारं जपनम् ॥ २-कषायवर्णविशिष्टेन वस्त्रेण ॥ ३-भस्म " ४-सन्दिग्धोऽयम्पाठः, अस्मात्पूर्वएव पाठः सम्यगालक्ष्यते ॥ ५-रक्षेति शेषः॥ ६-विकृतरूपाः॥ ७-अष्टोत्तरशतवारं कृतस्मरणा ॥ ८-ऐश्वर्यकारिणी ॥ ९-श्वेतपुष्पैः ;१०-"अस्यमन्त्रस्य" इति शेषः॥ ११-षष्ठयन्तम्पदम्, "पुरुषस्य" इति शेषः ॥१२-"जाववाणं" अयमेव पाठः सम्यगाभाति ॥ १३-"वा एणं" इत्यैवएव पाठः सम्यगवगम्यते ॥ १४-"ओं" इति पदस्यास्तित्वे सन्देहः ॥ १५-"लगाड़ीजै" इति मारवाड़ी भाषा प्रयुक्ता ग्रन्थकर्त्रा "नियोक्तव्या" इत्यर्थः १६-घृतमभिमन्त्र्य तत्र प्रयोक्तव्यं रक्षामभिमन्त्र्य वा तत्र प्रयोक्तव्येत्यर्थः ॥ १७-"एवं कृते सति" इति शेषः ॥ १८-"व्रणोऽस्त्रियाम्" इति वचनाद्व्रणशब्दः क्लीवेऽपि ॥ १९-परिपूर्णम्, विकृतिरहितमिति भावः ॥

श्री नमस्कार कल्प (१) में से बहुल उपयोगी (२) विषयका भाषानुवाद ॥

ओं नमः श्री पञ्चपरमेष्ठिने ॥

अब सम्प्रदायसे तथा अपने अनुभवसे पञ्च परमेष्ठियोंके कुछ आम्नाय लिखे जाते (३) हैं:—

१—इस ग्रन्थ को किसने और कब बनाया, इस बात का निश्चय नहीं होता है; क्योंकि ग्रन्थकी आदि तथा अन्तमें ग्रन्थकर्त्ताका नाम नहीं है, ग्रन्थके अन्त में केवल यही लिखा है कि–"*इति नमस्कारकल्पः, समाप्तः संवत् १८९९ मिते माघवदि ६ श्री बीकानेरे लि० पं० महिमाभक्तिमुनिना*" अर्थात् "यह नमस्कार कल्प समाप्त हुआ, संवत् १८९९ में माघवदि ६ को श्रीबीकानेर में पण्डित महिमाभक्ति मुनि ने लिखा" किन्तु यह जानना चाहिये कि इस ग्रन्थ के प्राचीन होने में कोई शङ्का नहीं है, किञ्च "इस के सब ही आम्नाय सत्य हैं" यह विद्वान् जनों का कथन इस ग्रन्थ में भक्ति को उत्पन्न करता ही है, अतः इस का कोई भी विषय शङ्कास्पद नहीं है ॥ २–यद्यपि अहमदाबाद के "नानालाल मगनलाल" महोदय के लिखित, मुम्बई नगरके "मेघजी हीरजी" महोदयके द्वारा प्रकाशित तथा अहमदाबादस्थ–"श्रीसत्यविजय प्रिंटिङ्ग प्रेस" नामक यन्त्रालय में मुद्रित "श्री नवकार मन्त्रसङ्ग्रह नामक पुस्तक में वशीकरणादि प्रयोगों के भी विविध मन्त्र विधिपूर्वक प्रकाशित किये गये हैं तथापि विधि विशेष की प्राप्ति होने पर राग द्वेष युक्त मन वाले, संसार वर्त्ती किन्हीं अनधिकारी प्राणियोंकी अथवा उन के द्वारा दूसरों की हानि न हो, यह विचार, कर सर्व साधारण के उपयोगी विषय ही इस (नमस्कार कल्प) ग्रन्थ में से उद्धृत कर यहां पर लिखे जाते हैं, आशा है कि–सहृदय पाठक मेरे इस विचार का अवश्य अनुमोदन करेंगे ॥ ३–यहां पर पाठक जनोंके परिज्ञानार्थ पूर्वोक्त "श्री नवकारमन्त्रसङ्ग्रह" में से उद्धृत कर मन्त्र साधने की विधि लिखी जाती है–मन्त्र साधने की इच्छा रखने वाले पुरुष को प्रथम निम्नलिखित नियमोंका सावधानी के साथ पालन करना चाहिये; क्योंकि ऐसा करने से ही मन्त्र के फल की प्राप्ति हो सकती है, जिस मन्त्र के प्रयोगमें जिस सामान की आवश्यकता हो उसे सावधानी से तैयार करके पास में लेकर ही बैठना चाहिये क्योंकि जप करते समय उठना वर्जित है, बैठने का आसन उत्तम प्रकार का ऊन का अथवा लाल, पीला, सफेद, मन्त्रकी विधिके अनुसार होना चाहिये, इसी प्रकार जिस मन्त्र के प्रयोग में जिस प्रकार के ओढ़ने के वस्त्र की आज्ञा दी गई है

१—आदि के पांच पदों का पञ्च परमेष्ठि मुद्रा के द्वारा जाप करने पर सब क्षुद्र उपद्रवों का नाश तथा कर्मों का क्षय होता है ॥

उसी प्रकार के उत्तम वस्त्र को ओढ़ना चाहिये, शरीर को स्वच्छ कर अर्थात् नहा धो कर शुद्ध वस्त्र पहन कर समता तथा श्रद्धा के साथ शुद्ध उच्चारण कर मन्त्र का जप करना चाहिये, आसन जिन प्रतिमा के समान पद्मासन होना चाहिये, अथवा जिस जिस मन्त्रविधि में जैसा २ आसन कहा गया है तदनुसार ही आसन कर बैठना चाहिये तथा जप करते समय बायें हाथ को दाहिनी बगल में रखना चाहिये, जिस प्रकार की नवकार मालिका जपने के लिये कही गयी हो उसी को लेकर नासिका के अग्रभाग में अथवा प्रतिमाछवि के सामने दृष्टि को रख कर स्थिर चित्त से जप करना चाहिये, जहां २ धूप का विधान हो वहां २ धूप देना चाहिये तथा जहां २ दीपक का विधान हो वहां २ स्वच्छ उत्तम घृत का दीपक जलाकर आगे रखना चाहिये, वशीकरण विद्या में मुख को उत्तर की ओर करके बैठना चाहिये, लाल मणका की माला को बीच की अंगुलि पर रखकर अंगूठे से फेरना चाहिये, आसन डाभ का लेना चाहिये, सफेद धोती को पहरना चाहिये तथा श्वेत अन्तरवासिये को रखकर बायें हाथ से जप करना चाहिये, लक्ष्मी प्राप्ति तथा व्यापार में लाभ प्राप्ति आदि कार्यों में पूर्व अथवा दक्षिण दिशा की ओर मुख रखना चाहिये, पद्मासन से बैठना चाहिये, लाल रंग की माला, लाल अन्तरवासिया तथा लाल रंग के ऊनी अथवा मलमल के आसन को लेकर दक्षिण हाथ से जप करना चाहिये, स्तम्भन कार्य में मुख को पूर्व की ओर रखना चाहिये, माला सोने की अथवा पोखराज की लेनी चाहिये, आसन पीले रंग का लेना चाहिये, तथा माला को दहिने हाथ से बीचली अंगुलि पर रख कर अंगूठे से फेरना चाहिये, उच्चाटन कार्य में मुख को वायव्यकोण में रखना चाहिये, हरेरंग की माला लेनी चाहिये, आसन डाभ का होना चाहिये, मन्त्र को बोलकर दहिने हाथ की तर्जनी अंगुलि पर रखकर अंगूठे से मालाको फेरना चाहिये, शान्ति कार्य में मुख को वारुणी (पश्चिम) दिशा की ओर रखना चाहिये, मोती की अथवा सफेद रंग की माला लेनी चाहिये तथा उसे अनामिका अंगुलि पर रख कर अंगूठे से फेरना चाहिये, आसन डाभका अथवा श्वेत रंगका होना चाहिये तथा श्वेत वस्त्र पहनने तथा ओढ़ने चाहिये, पौष्टिक कार्य में मुख को नैर्ऋत्य कोण में रखना चाहिये, डाभके आसनपर बैठना चाहिये, मोती की अथवा श्वेत रंगकी माला को लेकर उसे अनामिका अंगुलि पर रख कर अंगूठे से फेरना (जपना) चाहिये तथा श्वेत वस्त्रों को काम में लाना चाहिये, मन्त्र का साधन करने में

२–इन में से प्रथम पद का कर्णिका में तथा शेष चार पदों का सृष्टि (१) से शङ्खावर्त विधि [२] के द्वारा, इस प्रकार से सर्व [मन्त्र] का १०८ बार स्मरण करने पर शाकिनी आदि कुछ नहीं कर सकती हैं ॥

३–ओं (३) णमो अरिहंताणं इस को शिखा स्थानमें जाने [४], णमो

जितने दिनोंमें अपने से सवालाख जप पूर्ण हो सके उतने दिनोंतक प्रतिदिन नियमित समयपर शुद्धता पूर्वक पूर्ण जप करने से मन्त्र सिद्ध हो जाता है, तदनन्तर आवश्यकता पड़ने पर १०८ वार अथवा २१ वार (जहां जितना लिखा हो) जपने से कार्य सिद्ध होता है, खाने पीने में शुद्धता रखनी चाहिये, स्त्री संग नहीं करना चाहिये, जमीनपर कुश अथवा पतले वस्त्र का विछौना कर सोना चाहिये, आचार विचार को शुद्ध रखना चाहिये, एकान्त स्थानमें शुद्ध भूमि पर बैठकर मन्त्र को जपना चाहिये, प्रत्येक प्रकारके मन्त्र का जप करने से पहिले रक्षा मन्त्र का जपकर अपनी रक्षा करनी चाहिये कि जिससे कोई देव देवी तथा भूत प्रेत बाघ सांप और वृश्चिक आदि का भयङ्कर रूप धारण कर भय न दिखला सके तथा इन रूपों के दृष्टि गत होने पर भी डरना नहीं चाहिये, क्योंकि डरने से हानि होती है, इस लिये बहुत सावधान रहना चाहिये, जप करते समय रेशम, ऊन अथवा सूत, इन में से चाहें जिस के वस्त्र हों परन्तु शुद्ध होने चाहियें, जिन वस्त्रों को पहिने हुए भोजन किया हो अथवा लघुशङ्का की हो उन वस्त्रों को पहन कर जप नहीं करना चाहिये तथा मन्त्र का जप करते २ उठना, बैठना, वा किसी के साथ बातचीत करना, इत्यादि किसी प्रकारका कोई काम नहीं करना चाहिये, इन पूर्वोक्त सूचनाओं को अच्छे प्रकार ध्यानमें रखना चाहिये ॥ १–स्वभाव रचना ॥ २–शंखका जो आवर्त्तन होता है तद्रूप विधि ॥ ३–पूर्वोक्त "नवकार मन्त्र संग्रह" नामक पुस्तकमें "ओं" यह पद नहीं है, इसी प्रकार "ओं णमो लोए सव्वसाहूणं मोचा" यहां पर भी वह पद नहीं है, किन्तु योग प्रकाश नामक स्वनिर्मित ग्रन्थके आठवें प्रकाश में ७२ वें श्लोकमें श्रीहेमचन्द्राचार्य जी महाराजने कहा है कि इस लोकके फलकी इच्छा रखने वाले जनोंको इस मन्त्रका प्रणव (ओम्) के सहित ध्यान करना चाहिये तथा निर्वाण पदकी इच्छा रखने वाले जनों को प्रणव से रहित इस मन्त्रका ध्यान करना चाहिये ॥ इस नियमके अनुसार "ओम्" यह पद होना चाहिये, किञ्च इस नियम को मानकर सब ही पदोंमें "ओम्" पदको रखना चाहिये था; परन्तु वह नहीं रक्खा गया; यह विषय विचारणीय है ॥४–अर्थात् इस मन्त्रको बोलकर दहिने हाथको शिखा पर फेरे ॥

सिद्धाणं इस को शि [मु [१] खावरण में जाने [२], णमो आयरियाणं इस को अङ्गरक्षा जाने-[३], णमो उवज्झायाणं इसको आयुध जाने (४), ओं णमो लोए सव्वसाहूणं इसको मोचा [५] जाने, एसो पंच णमोक्कारो इसको पाद तलमें वज्र शिला जाने [६], सव्व पावप्पणासणो इसको चारों दिशाओं में वज्रमय प्राकार जाने [७], मंगलाणं च सव्वेसिं इसको खादिर सम्बन्धी अङ्गारों की खातिका जाने [८], तथा पढमं हवइ मंगलं इसको प्राकार के ऊपर

१-"शिखा वरणे" की अपेक्षा "मुखावरणे" पाठ ही ठीक प्रतीत होता है, किन्तु पूर्वोक्त "नवकार मन्त्रसंग्रह" में "मुखाभ्यर्णे" ऐसा पाठ है वह सब से अच्छा है, हम ने तो उपलब्ध पुस्तक के अनुसार तल्लिखित पाठ को उसमें से उद्धृत कर लिखा है, यही व्यवस्था सर्वत्र जाननी चाहिये ॥ २-अर्थात् इस मन्त्र को बोल कर मुखपर हाथ फेरना चाहिये ॥ ३-अर्थात् इस मन्त्रको बोल कर शरीर पर हाथ फेरना चाहिये ॥ ४-अर्थात् उक्त मन्त्रको बोल कर ऐसा मानना चाहिये कि मानों धनुषबाण को देखते हों॥ ५-"मोचा" शब्द शाल्मलिका वाचक है तथा शाल्मलि का नाम "स्थिरायु" भी है जिसकी आयु स्थिर हो उसे स्थिरायु कहते हैं, इस विषय में कहा गया है कि "षष्टिवर्ष सहस्राणि वने जीवति शाल्मलिः" अर्थात् शाल्मलिका वृक्ष वन में साठ सहस्र वर्ष तक जीता है, इस लिये यहांपर "मोचा" शब्द से स्थिरायुर्भाव जाना जाता है, तात्पर्य यह है कि-इस मन्त्र को बोलकर अपनी आयु को स्थिर जाने, किन्तु पूर्वोक्त "नवकारमन्त्रसङ्ग्रह" पुस्तक में "मोचा" के स्थान में "मौर्वी" पाठ है, वह तो असन्दिग्ध ही है, वहां यह आशय जानना चाहिये कि-पूर्वोक्त मन्त्र को बोल कर ऐसा विचार करना चाहिये कि-मानों हम शत्रु को धनुष का चिल्ला दिखा रहे हों ॥ ६-अर्थात् इस मन्त्र को बोल कर जिस आसन पर बैठा हो उस आसन पर, चारों तरफ हाथ फेरकर मन में ऐसा विचार करे कि-"मैं वज्रशिला पर बैठा हूं; इसलिये ज़मीन में से अथवा पाताल में से मेरे लिये कोई विघ्न नहीं हो सकता है ॥ ७-तात्पर्य यह है कि-इस मन्त्र को बोल कर मन में ऐसा विचार करे कि-"मेरे चारों तरफ लोहमय कोट है," इस समय अपने आसन के आस पास चारों तरफ गोल लकीर कर लेनी चाहिये ॥ ८-तात्पर्य यह है कि-इस मन्त्र को बोलकर मन में ऐसा विचार करे कि-"लोहमय कोट के पीछे चारों ओर खाई खुदी हुई है ॥

वज्रमय ढक्कन जाने [१], यह महारक्षा (विद्या) सब उपद्रवों का नाश करती है [२] ॥

४-ओं णमो अरिहंताणं ह्रां हृदयं रक्ष रक्ष हुं फुट् [३] स्वाहा, ओं णमो सिद्धाणं ह्रीं शिरो रक्ष रक्ष हुं फुट् स्वाहा, ओं णमो आयरियाणं ह्रूं [४] शिखां रक्ष रक्ष हुं फुट् स्वाहा ओं णमो उवज्झायाणं ह्रैं [५] एहि एहि भगवति वज्रकवचं [६] वज्रिणि वज्रिणि [७] रक्ष रक्ष हुं फुट् स्वाहा, ओं णमो लोए सव्वसाहूणं ह्रः क्षिप्रं क्षिप्रं (८) साधय साधय वज्रहस्ते शूलिनि दुष्टान् रक्ष रक्ष (९) हुं फुट् स्वाहा, एसो (१०) पंच णमोक्कारो वज्रशिला प्राकारः, सव्वपावप्पणासणो अप्पमयी (अमृतमयी (११)) परिखा, मंगलाणं च सव्वेसिं महावज्राग्निप्राकारः, पढमं हवइ

१-तात्पर्य यह है कि इस मन्त्रको बोलकर मनमें ऐसा विचार करे कि-"लोहमय कोट के ऊपर वज्रमय ढक्कन होरहा है," किञ्च-पूर्वोक्त "नवकारमन्त्रसङ्ग्रह" में "वज्रटङ्किणिकः" ऐसा पाठ है, वहां यह अर्थ जानना चाहिये कि-सङ्कल्प से जो अपने आस पास वज्रमय कोट माना है, उस के मानो टकोर मारते हों," भावार्थ यह है कि-"उपद्रव करने वालो ! चले जाओ, क्योंकि मैं वज्रमय कोट में वज्रशिला पर अपनी रक्षा कर निर्भय होकर बैठा हूं" ॥ २-तात्पर्य यह है कि-यह सर्वोपद्रवनिवारक रक्षा मन्त्र है ॥ ३-पूर्वोक्त "नवकारमन्त्रसङ्ग्रह" नामक पुस्तक में इस मन्त्र में "फुट्" इस पद के स्थान में सर्वत्र "फट्" ऐसा पाठ है और यही (फट्) पाठ ठीक भी प्रतीत होता है क्योंकि कोशादि ग्रन्थों में "फट्" शब्द ही अस्त्रबीज प्रसिद्ध है किञ्च "फुट्" शब्द तो कोशों में मिलता भी नहीं है ॥ ४-पूर्वोक्त "नवकारमन्त्रसङ्ग्रह" पुस्तक में "ह्रूं" इस पद के स्थान में "ह्रों" ऐसा पाठ है, वह ठीक प्रतीत नहीं होता है; क्योंकि "ह्रां" पद पहिले आचुका है ॥ ५-पूर्वोक्त पुस्तक में "ह्रैं" के स्थान में 'ह्रैं' पाठ है, वह विचारणीय है ॥ ६-पूर्वोक्त पुस्तक में "वज्रकवचा" पाठ है ॥ ७-पूर्वोक्त पुस्तक में "वज्रिणि" यह एकवार ही पाठ है ॥ ८-पूर्वोक्त पुस्तक में "क्षिप्रं" ऐसा एक ही बार पाठ है ॥ ९-रक्षण शब्द से यहां पर निग्रह पूर्वक धारण को जानना चाहिये, इस लिये यह अर्थ जानना चाहिये कि-"दुष्टों का निग्रह पूर्वक धारण करो, धारण करो" ॥ १०-पूर्वोक्त पुस्तक में "एसो" यहां से लेकर आगे का पाठ ही नहीं है ॥ ११-"अमृतमयी" यही पाठ ठीक प्रतीत होता है ॥

वज्रमयं उपरि वज्रशिला, यह इन्द्रकवच है, उपाध्याय आदि को अपनी रक्षा के लिये इसका स्मरण करना चाहिये (१)

५-ओं णमो अरिहंताणं (२), ओं णमो सिद्धाणं, ओं णमो आयरियाणं, ओं णमो उवज्झायाणं, ओं णमो लोए सव्वसाहूणं, ओं णमो नाणाय, ओं णमो दंसणाय, ओं णमो चारित्ताय (३), ओं णमो तवाय (४), ओं ह्रीं त्रैलोक्यवशं (श्री (५)) करी ह्रीं स्वाहा ॥ यह मन्त्र सर्व कार्यों को सिद्ध करता है, स्वच्छ जलसे छींटे देना तथा उसका पान करना चाहिये, चक्षु में लवण रस के पड़ने से पीड़ा होनेपर अथवा शिरोव्यथा तथा अर्ध शिरोव्यथा आदि कार्यों में (इसका) उपयोग करना चाहिये (६) ॥

६-"ओं णमो (७) लोए सव्वसाहूणं" इत्यादि प्रति लोमके (८) द्वारा ह्रीं पूर्वक पांच पदोंसे पट (९) आदि में ग्रन्थि बांधकर तथा १०८ बार जप करके

१-पूर्वोक्त "नवकारमन्त्रसङ्ग्रह" पुस्तक में इस मन्त्र के विषय में लिखा है कि-"जब कभी कोई अकस्मात् उपद्रव आजावे अर्थात् खाते, पीते, यात्रा में जाते आते, अथवा सोते उठते, कोई आपत्ति आजावे; तब शीघ्र ही इस मन्त्र का मन में वार वार स्मरण करने से उपद्रव शान्त हो जाता है तथा अपनी रक्षा होती है ॥ २-पूर्वोक्त पुस्तक में "अरुहन्ताणं" ऐसा पाठ है ॥ ३-पूर्वोक्त पुस्तक में "चरित्ताय" ऐसा पाठ है, ऐसा पाठ होने पर भी अर्थ में कोई भेद नहीं होता है ॥ ४-पूर्वोक्त पुस्तक में "ओं णमो तवाय" यह पाठ नहीं है ॥ ५-दोनों ही प्रकार के पाठों में अर्थ में कोई भेद नहीं आता है, किन्तु-पूर्वोक्त "नवकारमन्त्रसङ्ग्रह" पुस्तक में "त्रैलोक्यवश्यंकुरु" ऐसा पाठ है ॥ ६-मन्त्र के उपयोग, फल और विधि का जो यहां पर वर्णन किया गया है यह सब विषय पूर्वोक्त "नवकारमन्त्रसङ्ग्रह" पुस्तकमें नहीं है, किन्तु उक्त पुस्तकमें इस प्रकार विधि का वर्णन किया गया है कि-"एक वाटकी, प्याली, अथवा लोटीमें स्वच्छ जलको भरकर तथा २१ वार इस मन्त्र को पढ़कर फूंक देकर उस जलको मन्त्रित कर लेवे तथा जिस मनुष्य के आधाशीसी हो, अथवा मस्तक में दर्द हो उस को पिलाने से पीड़ा शान्त हो जाती है ॥ ७-पूर्वोक्त "नवकारमन्त्रसङ्ग्रह" में-"ओं णमो लोए सव्व साहूणं, ओं णमो उवज्झायाणं, ओं णमो आयरियाणं, ओं णमो सिद्धाणं अरुहन्ताणं, पें ह्रीं" ऐसा मन्त्र लिखा है ॥ ८-पश्चानुपूर्वी ॥ ९-वस्त्र ॥

(उस वस्त्र को) उढ़ा देवे तो (ज्वरार्त्त का) ज्वर उतर जाता है, जबतक जप करे तब तक धूप देता रहे (१), परन्तु नवीन ज्वर में इस कार्य को नहीं करना चाहिये, (यह मन्त्र) पूर्वोक्त दोष (ज्वर दोष) का नाशक है (२) ॥

७–ओं ह्रीं णमो अरिहंताणं, ओं ह्रीं णमो सिद्धाणं, ओं ह्रीं णमो आयरियाणं, ओं ह्रीं णमो उवज्झायाणं, ओं ह्रीं णमो लोए सव्वसाहूणं, इन पैंतालीस अक्षर की विद्या का स्मरण इस प्रकार करना चाहिये कि (स्मरण करते समय) अपने को भी सुनाई न दे (३), दुष्ट और चोर आदि के संकट में तथा महापत्ति के स्थान में इसका स्मरण करना चाहिये) तथा शान्ति और जल वृष्टि के लिये इसको उपाश्रय में गुणना [४] चाहिये ॥

८–ओं ह्रीं णमो भगवओ अरिहंत सिद्ध आयरिय उवज्झाय सव्वसाहूय सव्वधम्म तित्थयराणं, ओं णमो भगवईए सुय देवयाए, ओं णमो भगवईए संतिदेवयाए, सव्वप्पवयण देवयाणं, दसण्हं दिसापालाणं पंचण्हं लोग पालाणं, ओं ह्रीं अरिहंत देवं नमः ॥ इस विद्याका १०८ वार जप करना चाहिये, यह पठित सिद्धा [५] है, तथा वाद; व्याख्यान और अन्य कार्यों में सिद्धि तथा जय को देती है, इस मन्त्र से सात वार अभिमन्त्रित वस्त्र में गांठ बांधनी चाहिये, ऐसा करने से मार्ग में चोर भय नहीं होता है तथा दूसरे व्याल [६] आदि भी दूर भाग जाते हैं ॥

९–ओं णमो अरिहंताणं, ओं णमो सिद्धाणं, ओं णमो आयरियाणं, ओं णमो उवज्झायाणं, ओं णमो लोए सव्वसाहूणं, ओं ह्रां ह्रीं ह्रूं [७] ह्रौं ह्रः

१–धूप देता रहे ॥ २–पूर्वोक्त "नवकारमन्त्रसङ्ग्रह" में यह विधि लिखी है कि–"इस मन्त्र का १०८ वार जप करके एक कोरी चादर के कोण को मसलता जावे, पीछे उसमें गांठ बांध देवे, पीछे उस चादर का गांठ का भाग ज्वरार्त्त के मस्तक की तरफ रख उस को ओढ़ा देवे, ऐसा करने से सब प्रकार के ज्वर नष्ट हो जाते हैं ॥ ३–तात्पर्य यह है कि मन ही मन में जपना चाहिये ॥ ४–जपना ॥ ५–पठनमात्र से सिद्ध ॥ ६–सर्प अथवा सिंह ॥ ७-पूर्वोक्त "नवकारमन्त्रसङ्ग्रह" पुस्तक में "ह्रूं ह्रौं" इन दोनों पदों के स्थान में "ह्रौं" यही एक पद है ॥

स्वाहा ॥ यह मन्त्र सर्व कार्य साधक है, स्वच्छ जल आदि का उपयोग करना चाहिये (१) ॥

१०–प्रथम पदका (२) ब्रह्मरन्ध्र में, दूसरे पदका (३) मस्तक में, तीसरे पदका (४) दक्षिण कर्ण में, चौथे पदका (५) अवटु (६) में, पांचवें पदका (७) वाम कर्ण में तथा चूला पदोंका (८) दक्षिण संख्यासे लेकर विदिशाओं में (९) इस प्रकार से पद्मावर्त्त जाप (१०) करना चाहिये, यह मन्त्र की स्थिरता का कारण होनेसे अत्यन्त ही कर्मों का नाशक है (११) ॥

११–"पढमं हवइ मंगलं" इसको अपने मस्तक के ऊपर वज्रमयी शिला जाने, "णमो अरिहंताणं" इसको अपने अंगुष्ठों में जाने, "णमो सिद्धाणं" इसको अपनी तर्जनियोंमें (१२) जाने, "णमो आयरियाणं" इसको अपनी मध्यमाओं (१३) में जाने, "णमो उवज्झायाणं" इसको अपनी अनामिकाओं (१४) में जाने "णमो लोए सव्वसाहूणं" इसको अपनी कनिष्ठिकाओं (१५) में जाने, "एसोपंचणमोक्कारो" इसको वज्रमय प्राकार जाने "सव्वपावप्पणासणो" इसको जलपूर्ण खातिका (१६) जाने, यह मन्त्र अत्यन्त सफलता कारक (१७) है॥

१२–ओं ह्रां ह्रीं ह्रौं ह्रूं) (१८) ह्रः असि आ उसा स्वाहा (१९)॥ ओं ह्रीं

१–मूल में संस्कृत पाठ सन्दिग्ध है, तात्पर्य तो यही है कि–स्वच्छ जल को अभिमन्त्रित कर उस का प्रक्षेपण (सिञ्चन) और पान करना चाहिये, किन्तु पूर्वोक्त "नवकारमन्त्र सङ्ग्रह" नामक पुस्तक में तो केवल मन्त्र जपन का ही विधान है ॥ २–"णमो अरिहन्ताणं" इस पद का ॥ ३–"णमो सिद्धाणं" इस पद का ॥ ४–"णमो आयरियाणं" इस पदका ॥ ५–"णमो उवज्झायाणं"इस पदका ॥ ६–गर्दन और शिर की सन्धि के पिछले भाग का नाम अवटु है ॥ ७–"णमो लोए सव्वसाहूणं" इस पद का ॥ ८–"एसो पञ्च णमोक्कारो" यहां से लेकर समाप्ति पर्यन्त चारों पदों का ॥ ९–दक्षिणसंख्या की आदि में करके सब विदिशाओं में ॥ १०–पद्मावर्त्तन के समान जप ॥ ११–तात्पर्य यह है कि इस मन्त्र का जप करने से अत्यन्त ही मनकी स्थिरता होती है तथा मन की स्थिरता होने के कारण कर्मों का नाश हो जाता है ॥ १२–अंगूठे के पास की अंगुलि को तर्जनी कहते हैं ॥ १३–बीच की अंगुलियों ॥ १४–छोटी अंगुलिके पास की अंगुलियों ॥ १५–सबसे छोटी अंगुलियों ॥ १६–खाई ॥ १७–मूल में पाठ सन्दिग्ध है ॥ १८–"ह्रौं" की अपेक्षा "ह्रूं" पाठ ही ठीक प्रतीत होता है ॥ १९–पूर्वोक्त "नवकार मन्त्रसङ्ग्रह" पुस्तक में "ओं ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रौं ह्रः अ–सि–आ–उ–सा स्वाहा" ऐसा मन्त्र है ॥

(ह्रां (१)) श्रीं अर्हं असि आ उसा नमः (२) ॥ ये दोनों ही मन्त्र सर्व कामनाओं को देनेवाले हैं ॥

१३–अरिहंतसिद्ध (३) आयरिय उवज्झाय साधु ॥ इस सोलह अक्षर वाली विद्या का २०० बार जप करनेसे चतुर्थ फल प्राप्त होता है ॥

१४–नाभि कमल में (अ) का मस्तक कमल में (सि) का, मुखकमल में (आ) का, हृदय कमल में (उ) का तथा कण्ठ में (सा) का जप करना चाहिये, इसका जप सर्व कल्याण कारक है ॥

१५–ओं (४) णमो अरहंताणं नाभौ, ओं णमो सिद्धाणं हृदि, ओं णमो आयरियाणं कण्ठे, ओं णमो उवज्झायाणं मुखे, ओं णमो लोए सव्वसाहूणं मस्तके, सर्वाङ्गेषु मां रक्ष रक्ष हिलि हिलि मातङ्गिनी स्वाहा ॥ यह रक्षा का मन्त्र है ॥

१६–ओं ह्रीं णमो अरिहंताणं पादौ रक्ष रक्ष, ओं ह्रीं णमो सिद्धाणं कटीं रक्ष रक्ष, ओं ह्रीं णमो आयरियाणं नाभिं रक्ष रक्ष, ओं ह्रीं णमो उवज्झायाणं हृदयं रक्ष रक्ष, ओं ह्रीं णमो लोए सव्वसाहूणं ब्रह्माण्डं रक्ष रक्ष ओं ह्रीं एसो पंच णमोक्कारो शिखां रक्ष रक्ष, ओं ह्रीं सव्वपावप्पणासणो आसनं रक्ष रक्ष, ओं ह्रीं मंगलाणं च सव्वेसिं पढमं हवइ मंगलं आत्मचक्षुः परचक्षुः रक्ष रक्ष ॥ यह रक्षा का मन्त्र है ॥

१७–ओं णमो अरिहंताणं अभिणिमोहिणि मोहय मोहय स्वाहा ॥ मार्ग में जाते समय इस विद्या का स्मरण करने से चोर का दर्शन नहीं होता है ॥

१८–ओं (५) ह्रीं श्रीं ह्रं क्लीं असि आ उसा चुलु चुलु हुलु हुलु कुलु कुलु

१—"ह्रीं" की अपेक्षा "ह्रां" यही पाठ ठीक प्रतीत होता है ॥ २—पूर्वोक्त "नवकार मन्त्रसङ्ग्रह" पुस्तक में "ओं अर्हं सः ओं अर्हं ऐं श्रीं अ–सि–आ—उ—सा नमः" ऐसा मन्त्र है, ऐसा मन्त्र मानने पर भी "अर्हं" के स्थान में "अर्हं" तथा "ऐं" के स्थानमें "ऐं" ऐसा पाठ होना चाहिये ॥ ३—पूर्वोक्त "नवकार मन्त्रसङ्ग्रह" में "अरुहन्तसिद्धआयरिय उवज्झाय सव्वसाहूणं" ऐसा मन्त्र है तथा वहां इस मन्त्र का फल द्रव्य प्राप्तिरूप कहा गया है ॥ ४—पूर्वोक्त "नवकार मन्त्रसङ्ग्रह" पुस्तक में "ओं णमो अरुहन्ताणं, ओं णमो उवज्झायाणं, ओं णमो लोए सव्वसाहूणं, सर्वाङ्गे अर्हं रक्ष हिलि हिलि मातङ्गनी स्वाहा ऐसा मन्त्र है॥ ५–पूर्वोक्त "नवकार मन्त्र संग्रह" पुस्तक में "ओं ह्रीं श्रीं ह्रीं क्लीं अ–सि–आ–उ–सा चुलु चुलु हुलु हुलु भुलु भुलु इच्छियं मे कुरु कुरु स्वाहा ॥ त्रिभुवन स्वामिनी विद्या" ऐसा मन्त्र पाठ है ॥

मुलु मुलु इच्छियं मे कुरु कुरु स्वाहा ॥ यह त्रिभुवन स्वामिनी विद्या है, इसका उपचार (१) यह है कि-जाती (२) के पुष्पों से २४००० जाप करने से यह सर्व सम्पत्ति को करती है ॥

१९-ओं ह्रीं अर्हंत उत्पत उत्पत स्वाहा ॥ यह भी त्रिभुवन स्वामिनी विद्या है, स्मरण करने से वाञ्छित (३) अर्थ को देती है ॥

२०-ओं थम्भेउ जलं जलणं चिन्तय इत्यादि घोर वसग्गं मम (४) अमुकस्य (५) वा पणासेंउ स्वाहा ॥ इस गाथा को चन्दन आदि द्रव्य (६) से पट्ट (७) पर लिखना चाहिये तथा नवकार के कथन के साथ इसका १०८ बार स्मरण करना चाहिये तथा सुगन्धित पुष्पों अथवा अक्षतों से पूजन भी करना चाहिये,तो यह(विद्या)सब भयोंको नष्ट करती है तथा रक्षाकरती है ॥

२१-इसी प्रकार हृदय कमलमें इसका एक सौ आठ वार जप करे तो चतुर्थ फल को प्राप्त होता है ॥

२२-ओं णमो अरिहंताणं, ओं णमो सिद्धाणं, ओं णमो आयरियाणं ओं णमो उवज्झायाणं, ओं णमो लोए सव्वसाहूणं, एसो पंच णमोक्कारो, सव्वपावप्पणासणो, मंगलाणं च सव्वेसिं, पढमं हवइ मंगलं, ओं ह्रीं हुं फट् स्वाहा ॥ यह रक्षा का मन्त्र है इसका नित्य स्मरण करना चाहिये, (ऐसा करने से) सर्वरक्षा [८] होती है ॥

२३-ओं (९) ह्रीं णमो अरहंताणं सिद्धाणं सूरीणं आयरियाणं उवज्झायाणं साहूणं मम ऋद्धिं वृद्धिं समीहितं कुरु कुरु स्वाहा ॥ इस मन्त्रका पवित्र होकर प्रातः काल तथा सायङ्काल ३२ वार स्मरण करना चाहिये, ऐसा करने से सर्व सिद्धि होती है ॥

२४-ओं अर्हं अ सि आ उसा नमो अरिहंताणं नमः ॥ इस मन्त्र का हृदयकमल में १०८ वार जप करने से चतुर्थ फल को प्राप्त होता है ॥

१-प्रयोग व्यवहार, विधि ॥ २-मालती (चमेली)॥ ३-अभीष्ट॥४-"मम" इस पद के स्थानमें षष्ठीविभक्त्यन्त अपने नाम का उच्चारण करना चाहिये ॥ ५-"अमुकस्य" इस पद के स्थानमें षष्ठीविभक्त्यन्त पर नाम का उच्चारण करना चाहिये ॥ ६-पदार्थ ७-काष्ठका पट्टा ॥ ८-सबसे रक्षा ॥ ९-पूर्वोक्त "नवकार मन्त्रसंग्रह" पुस्तकमें "ओं अरिहंताणं सिद्धाणं आयरियाणं उवज्झायाणं साहूणं मम रिद्धि वृद्धि समीहितं कुरु कुरु स्वाहा" ऐसा मन्त्र है ॥

२५-ओं (१) ह्रीं णमो अरिहंताणं अरे (अरि(२)) अरिणि मोहिणि मोहय मोहय स्वाहा ॥ इस मन्त्र का नित्य १०८ वार स्मरण करने से लाभ होता है ॥

२६-ओं घण्टाकर्णो महावीरः सर्वव्याधि विनाशकः ॥ विस्फोटकभयं प्राप्ते: (३) रक्ष रक्ष महाबलः (४) ॥ १ ॥ इस मन्त्र को भोज पत्र पर कुंकुम और गोरोचन से जाती (५) की कलम से कुए अथवा नदी के तटपर बैठकर लिखे, फिर "ओं णमो अरिहंताणं ह्रां (६) (ह्रीं) स्वाहा, ओं णमो सिद्धाणं ह्रीं स्वाहा, ओं णमो आयरियाणं ह्रूं स्वाहा, ओं णमो उवज्झायाणं ह्रौं स्वाहा, ओं णमो सव्वसाहूणं ह्रः स्वाहा ॥ इस दूसरे मन्त्र का सुगन्धित पुष्पों के द्वारा १०८ वार जाप करके कषाय वस्त्र (७) से रक्षा (८) को लपेट कर विस्फोटक (९) रोगवाले मनुष्य के गलेमें अथवा बाहुमें बांध दे तो विस्फोटक विरूप (१०) नहीं होते हैं ॥

२७-ओं ह्रीं वरे सुवरे असि आ उसा नमः ॥ इस विद्या का तीनों समय (११) १०८ वार स्मरण करने से यह विभव (१२) को करती है ॥

२८-ओं ह्रीं हं णमो अरिहंताणं ह्रीं नमः ॥ इस मन्त्र का तीनों समयों में श्वेत (१३) पुष्पों के द्वारा एकान्तमें निरन्तर १०८ वार जाप करनेसे सर्व सम्पत्ति और लक्ष्मी होती है ॥

२९-ओं ह्रीं श्रीं प्लुं प्लुं अर्हं ह्रें ऐं क्लीं प्लुं प्लुं नमः ॥ यह परमेष्ठि मन्त्र सर्व अभ्युदयों का कारण है (१४) ॥

३०-ओं ऐं ह्रीं श्रीं क्लीं ठ्लूं अर्हं नमः ॥ इस मन्त्र का तीनों समयोंमें जप करनेवाले पुरुष के सर्व कार्य सिद्ध होते हैं

१-पूर्वोक्त "नवकार मन्त्र संग्रह" पुस्तकमें 'ओं णमो अरहंताणं अरे अरणि मोहिणि अमुकं मोहय मोहय स्वाहा" ऐसा मन्त्र है और इसका फल वहां स्त्रीवशीकरण कहागया है॥ २-दोनों ही पाठ सन्दिग्ध हैं॥ ३-"भयप्राप्ते:" ऐसा पाठ होना चाहिये ॥ ४-यदि यह सम्बोधन पद होता तो ठीक था ॥ ५-मालती (चमेली) ॥ ६-"ह्रां" यही पाठ ठीक प्रतीत होता है, क्योंकि "ह्रीं" शब्द का आगे प्रयोग किया गया है ॥ ७-कषाय वर्ण वाले वस्त्र ॥ ८-राख भस्म ॥ ९-फोड़ा ॥ १०-विकृतरूप वाले ॥ ११-प्रातःकाल, मध्यान्ह तथा सन्ध्या समय ॥ १२-ऐश्वर्य्य॥ १३-सफेद ॥ १४-तात्पर्य यह है कि-इस परमेष्ठि मन्त्र का जप करने से सर्व अभ्युदय होते हैं ॥

३१—णमो जिणाणं आयमाणं (जावयाणं) (१) न य पूई न सोणियं पु ए वं सठग्रवाई (२) एणं वणं मा पच्चउ मा दुक्खउ मा फुट्टउ (ओं (३) ठः ठः स्वाहा ॥ इस मन्त्र से रक्षा (४) को अभिमन्त्रित कर व्रण (५) आदिमें लगाना चाहिये, खड्ग आदि की चोट लगनेपर तो घृत अथवा रक्षा को अभिमन्त्रित कर लगाना चाहिये, ऐसा करने से व्रण और चोट की पीड़ा निवृत्त हो जाती है तथा दुष्ट व्रण भी भर जाता है (६) ॥

यह चौथा परिच्छेद समाप्त हुआ ॥

१—"जावयाणं" यही पाठ ठीक प्रतीत होता है ॥ २—"वाएणं" यही पाठ ठीक प्रतीत होता है ॥ ३—"ओं" पद के होने वा न होने में सन्देह है ॥ ४—राख, भस्म ॥ ५—घाव ॥ ६—अच्छा हो जाता है ॥

अथ पञ्चमः परिच्छेदः ।

श्री पञ्चपरमेष्ठि नमस्कार अर्थात् श्रीनवकार मन्त्र के विषय में आवश्यक विचार ।

(प्रश्न)–"पञ्चपरमेष्ठि नमस्कार" इस पद का क्या अर्थ है ?

(उत्तर)–उक्त पद का अर्थ यह है कि–"पांच जो परमेष्ठी हैं उन को नमस्कार करना ।

(प्रश्न)–पांच परमेष्ठी कौन से हैं ?

(उत्तर)–अर्हत्, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु, ये पांच परमेष्ठी हैं ।

(प्रश्न)–इन को परमेष्ठी क्यों कहते हैं ?

(उत्तर)–परम अर्थात् उत्कृष्ट स्थान में स्थित होने के कारण इन को परमेष्ठी कहते हैं (१) ।

(प्रश्न)–परमेष्ठि नमस्कार के नौ पद कहे गये हैं, वे नौ पद कौन कौन से हैं ?

(उत्तर)–परमेष्ठि नमस्कार के नौ पद ये हैं ।

१–णमो अरिहन्ताणं । २–णमो सिद्धाणं । ३–णमो आयरियाणं । ४–णमो उवज्झायाणं । ५–णमो लोए सव्व साहूणं । ६–एसो पञ्च णमोक्कारो । ७–सव्वपावप्पणासणो । ८–मङ्गलाणं च सव्वेसिं । ९–पढमं हवइ मङ्गलम् ॥

प्रश्न—इस पूरे मन्त्र का (नौओं पदों का) क्या अर्थ है ?

उत्तर–इस पूरे मन्त्र का अर्थात् नौओं पदों का अर्थ यह है—

१–अर्हतों (२) को नमस्कार हो । २–सिद्धों को नमस्कार हो । ३–आ-

१–"परमे उत्कृष्टे स्थाने तिष्ठन्तीति परमेष्ठिनः" अर्थात् जो परम (उत्कृष्ट) स्थान में स्थित हैं, उन को परमेष्ठी कहते हैं ॥

२–अर्हत्, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु, इन शब्दोंकी व्युत्पत्ति, अर्थ, लक्षण तथा गुण आदि विषयों का वर्णन आगे किया जावेगा ॥

चार्यों को नमस्कार हो। ४-उपाध्यायों को नमस्कार हो। ५-लोक में सर्व साधुओं को नमस्कार हो। ६-यह पञ्च नमस्कार। ७-सब पापों का नाश करने वाला है। ८-तथा सब मङ्गलों में। ९-प्रथम मङ्गल है॥ (१)

(प्रश्न)-किन्हीं पुस्तकों में "णमो" पद के स्थानमें "नमो" पद देखा जाता है, क्या वह शुद्ध नहीं है ?

(उत्तर)-वररुचि आचार्य के मत के अनुसार "नमो" पद शुद्ध नहीं है, क्योंकि जो नमस् शब्द अर्थात् अव्यय है उस का उक्त आचार्य के मत के अनुसार प्राकृत में "णमो" शब्द ही बनता है, कारण यह है कि-"नो णः सर्वत्र" (२) यह उन का सूत्र है, इस का अर्थ यह है कि-प्राकृत में सर्वत्र (आदि में तथा अन्त में) नकार के स्थान में णकार आदेश होता है, परन्तु हेमचन्द्राचार्य के मत के अनुसार "नमो" और "णमो" ये दोनों पद बन सकते हैं अर्थात् दोनों शुद्ध हैं, क्योंकि उक्त आचार्य का सूत्र है कि "वा दौ" (३) इस सूत्र का अर्थ यह है कि-आदि में वर्त्तमान असंयुक्त (४) नकार के स्थानमें णकार आदेश विकल्प करके होता है, अतः हेमचन्द्राचार्य के मतके अनुसार उक्त दोनों पद शुद्ध हैं, परन्तु इस नवकार मन्त्रमें "णमो" पद का ही उच्चारण करना चाहिये किन्तु "नमो" पद का नहीं, क्योंकि आदि (५) वर्ती "णमो" पद में अणिमा सिद्धि सन्निविष्ट है (जिस का वर्णन आगे किया जावेगा); उस का सन्निवेश "नमो" पद में नहीं हो सकता है, दूसरा कारण यह भी है कि-"णमो" पद के उच्चारण में दग्धाक्षर (६) होने पर भी णकार अक्षर ज्ञान का वाचक है तथा ज्ञान को मङ्गल स्वरूप कहा है, अतः आदि मङ्गल (७) के हेतु "णमो" पद का ही उच्चारण करना चाहिये।

(प्रश्न)-"नमः" इस पद का संक्षेप में क्या अर्थ है ?

(उत्तर) "नमः" यह पद नैपातिक है तथा यह नैपातिक पद द्रव्य

१-यहां पर श्री नवकार मन्त्र का उक्त अर्थ केवल शब्दार्थमात्र लिखा गया है॥

२-सर्वत्र (आद्यावन्तेच) नकारस्य स्थाने णकारो भवतीति सूत्रार्थः॥ ३-आदौवर्त्तमानस्यासंयुक्तस्य नकारस्य णकारो वा भवतीति सूत्रार्थः॥ ४-संयोगरहित॥ ५॥ आदि में स्थित॥ ६-दग्ध अक्षर (जिस का छन्द अथवा वाक्य के आदि में प्रयोग करना निषिद्ध है॥ ७-आदि में मङ्गल॥

और भाव के सङ्कोचन का (१) द्योतक (२) है, कहा भी है कि–"नेवाइयं पयं दव्वभाव सङ्कोयण पयत्थो" अर्थात् नैपातिक पद द्रव्य और भाव के सङ्कोचन को प्रकट करता है, इस लिये "नमः" इस नैपातिक पद से कर, (३) शिर और चरण आदि की ग्रहण, कम्पन (४) और चलन (५) आदि रूप चेष्टा के निग्रह (६) के द्वारा द्रव्य सङ्कोचपूर्वक प्रणिधानरूप (७) नमस्कार जाना जाता है तथा विशुद्ध मन के नियोगरूप भाव सङ्कोच के द्वारा प्रणिधानरूप अर्थ जाना जाता है, तात्पर्य यह है कि—"नमः" इस पद से द्रव्य और भाव के सहित नमस्कार करना द्योतित (८) होता है।

(प्रश्न) "णमो अरिहन्ताणं" इस पद के स्थान में विभिन्न ग्रन्थों में तीन प्रकार के पाठ देखे जाते हैं, प्रथम–"णमो अरहन्ताणं" ऐसा पाठ मिलता है; दूसरा—"णमो अरिहन्ताणं" ऐसा पाठ दीखता है तथा तीसरा "णमो अरुहन्ताणं" ऐसा पाठ दीखता है, तो इन तीनों प्रकार के पाठों का एक ही अर्थ है अथवा पाठभेद से इनका अर्थ भी भिन्न २ होता है ? ॥

(उत्तर)—नमस्कार्य (९) के एक होने पर भी तत्सम्बन्धी गुणों की अपेक्षा उक्त तीन प्रकार के पाठ मिलते हैं तथा गुणवर्णनापेक्षा (१०) से ही उक्त तीनों पाठों का अर्थ भी भिन्न २ होता है।

(प्रश्न) गुणवर्णनापेक्षासे उक्त तीनों पदों का क्या अर्थ है ?

(उत्तर)–गुणवर्णनकी अपेक्षा उक्त तीनों पदों का अर्थ बहुत ही विस्तृत तथा गूढ़ है, अतः संक्षेप में उक्त पदों का अर्थ दिखलाया जाता है:–

प्रथम पाठ "णमो अरहंताणं" है; उसका संक्षिप्त अर्थ यह है कि—

(क) सुरवर निर्मित अशोकादि आठ महा प्रातिहार्य रूप (११) पूजा के

१–संक्षेप ॥ २–प्रकाशक ॥ ३–हाथ ॥ ४–कांपना ॥ ५–चलना ॥ ६–रोकना ॥ ७–नमन ॥ ८–प्रकट, विदित ॥ ९–नमस्कार करने के योग्य ॥ १०–गुणों के वर्णन की अपेक्षा ॥ ११–अशोकादि आठ महाप्रातिहार्य ये हैं–अशोक वृक्ष, सुर पुष्प वृष्टि, दिव्यध्वनि चामर, आसन, भामण्डल, दुन्दुभि और छत्र। कहा भी है कि–"अशोक वृक्षः सुर पुष्पवृष्टिर्दिव्यध्वनिश्चामरमासनञ्च ॥ भामण्डलं दुन्दुभिरातपत्रं सत्प्रातिहार्याणि जिनेश्वरस्य ॥ १ ॥

जो योग्य हैं; उन अर्हतों को (१) द्रव्य और भाव पूर्वक नमस्कार हो।

(ख) अथवा–"रह" अर्थात् एकान्त देश तथा "अन्त" अर्थात् गिरि गुफा आदि का मध्य भाग; जिनकी दृष्टि में गुप्त रूप नहीं है अर्थात् जो अति गुप्तरूप भी वस्तु समूह के ज्ञाता हैं; उनको अरहंत कहते हैं, उन अरहन्तों को द्रव्य और भाव पूर्वक नमस्कार हो।

(ग) अथवा–"रह" अर्थात् रथ (आदि रूप परिग्रह) तथा "अन्त" अर्थात् विनाश का कारण (जरा आदि अवस्था) जिनके नहीं हैं उनको अरहन्त कहते हैं; उन अरहन्तों को द्रव्य और भावपूर्वक नमस्कार हो।

(घ) अथवा "अरहंताणं" इस प्राकृत पदका संस्कृत में "अरहयद्भ्यः" भी हो सकता है, उसका अर्थ यह होगा कि–प्रकृष्ट रागादि के कारण भूत मनोज्ञ विषयोंका सम्पर्क होनेपर भी जो अपने वीतरागत्व स्वभाव का परित्याग नहीं करते हैं; उनको द्रव्य और भाव पूर्वक नमस्कार हो (२)।

दूसरा पाठ जो "णमो अरिहंताणं" दीखता है; उसका संक्षिप्त अर्थ यह है कि:—

(क)–संसार रूप गहन वन में अनेक दुःखोंके देनेवाले मोहादि रूप शत्रुओं का हनन करने वाले जो जिन देव हैं उनको द्रव्य और भाव पूर्वक नमस्कार हो।

(ख) सूर्य मण्डल का आच्छादन करने वाले मेघके समान ज्ञानादि गुणोंका आच्छादन करनेवाले जो घाति कर्म रूप रज हैं; तद्रूप शत्रु का नाश करनेवाले जिन देवको द्रव्य और भाव पूर्वक नमस्कार हो।

(ग) आठ कर्मरूप शत्रुओं के नाश करनेवाले जिन भगवान्‌को द्रव्य

१–कहा भी है कि-"अरहंति वंदण नमंसणाइ, अरहंति पूअसक्कारं ॥ सिद्धिगमणं च अरहा, अरहंता तेण वुच्चंति ॥ १ ॥ अर्थात् वन्दना और नमस्कारादि के योग्य होनेसे; पूजा और सत्कार के योग्य होनेसे तथा सिद्धिगमनके योग्य होनेसे (जिन भगवान्) अर्हत् कहे जाते हैं ॥ १ ॥

२–कहा भी है कि–"थुइवंदणमरहंता, अमरिंद नरिंद पूयमरहंता ॥ सासयसुहमरहंता, अरहंता हुंतुमे सरणं ॥ १ ॥ अर्थात् स्तुति और वन्दनके योग्य, अमरेन्द्र और नरेन्द्रोंसे पूजाके योग्य, एवं शाश्वत सुखके योग्य जो अरहंत हैं; वे मुझे शरण प्रदान करें ॥

और भाव पूर्वक नमस्कार हो (१) ।

(घ) पांचों इन्द्रियों के विषय, कषाय, परीषह, वेदना तथा उपसर्ग, ये सब जीवोंके लिये शत्रुभूत हैं, इन सब शत्रुओं के नाशक जिन देवको द्रव्य और भाव पूर्वक नमस्कार हो ।

तीसरा पाठ जो "णमो अरुहंताणं" दीखता है उसका संक्षिप्त अर्थ यह है:—

(क) कर्मरूप बीज के क्षीण हो जानेसे जिनको फिर संसार में नहीं उत्पन्न होना पड़ता (२) है उन जिन देवको द्रव्य और भाव से नमस्कार हो (३) ॥

(प्रश्न)—उक्त लक्षणोंसे युक्त भगवान् को नमस्कार करने का क्या कारण है ?

(उत्तर) यह संसार रूप महाभयङ्कर गहन (४) वन है, उसमें भ्रमण करने से सन्तप्त (५) जीवों को भगवान् परम पदका मार्ग दिखलाते हैं; अतः सर्व जीवोंके परमोपकारी (६) होनेसे नमस्कार के योग्य हैं, अतएव (७) उन को अवश्य नमस्कार करना चाहिये ।

(प्रश्न) व्याकरणके नियमके अनुसार नमस् शब्द के योग में चतुर्थी विभक्ति होती है; तो यहां षष्ठी विभक्ति का प्रयोग क्यों किया है ?

(उत्तर) इसका एक कारण तो यह है कि प्राकृत में चतुर्थी विभक्ति होती ही नहीं है किन्तु उसके स्थानमें षष्ठी विभक्ति ही होती है, दूसरा

१—कहा भी है कि—"अट्ठविहंपि अ कम्मं, अरि भूयं होइ सयल जीवाणं ॥ तं कम्ममरि हंता, अरिहंता तेण वुच्चन्ति ॥ १ ॥ अर्थात् आठ प्रकार का जो कर्म है वह सब जीवोंका शत्रु रूप है; उस कर्म रूप शत्रु के नाश करनेवाले होनेसे अरिहंत कहे जाते हैं ॥ १ ॥

२—कहा भी है कि—"दग्धे बीजे यथाऽत्यन्तं, प्रादुर्भवति नाङ्कुरः ॥ कर्मबीजे तथा दग्धे; न रोहति भवाङ्कुरः ॥१॥ अर्थात् जिस प्रकार बीज के अत्यन्त दग्ध हो जानेपर अङ्कुर उत्पन्न नहीं होता है, उसी प्रकार कर्मरूप बीजके दग्ध हो जाने पर भवरूप अङ्कुर नहीं उगता है ॥ ३—ग्रन्थके विस्तार के भयसे उक्त तीनों प्रकार के पाठोंका यहांपर अति संक्षेपसे अर्थ लिखा गया है ॥ ४—कठिन, दुर्गम ॥ ५—दुःखित ॥ ६—परम उपकार करनेवाले ॥ ७—इसीलिये ॥

कारण यह भी है कि षष्ठी विभक्ति का प्रयोग करने पर "णं" पदका सह-योग होता है जोकि सिद्धि प्राप्ति का प्रधान साधन है, इसका वर्णन आगे किया जावेगा।

(प्रश्न)—उक्त प्रयोगमें षष्ठी के बहुवचनका जो प्रयोग किया गया है; उसका क्या कारण है?

(उत्तर) प्रथम कारण तो यह है कि अर्हत् बहुतसे हैं अतः बहुतोंके के लिये बहुवचन का प्रयोग होता ही है, दूसरा कारण यह भी है कि विषय बहुत्व के द्वारा नमस्कार कर्ता को फलातिशय की प्राप्ति होती है, इस बात को प्रकट करनेके लिये बहुवचन का प्रयोग किया गया है, तीसरा कारण यह भी है कि गौरव प्रदर्शन के हेतु बहुवचन का ही प्रयोग किया जाता है (१)।

(प्रश्न) श्री अर्हद्देव का ध्यान किसके समान तथा किस रूपमें करना चाहिये।

(उत्तर)—श्री अर्हद्देव का ध्यान चन्द्र मण्डलके समान श्वेत (२) वर्ण में करना चाहिये।

(प्रश्न) "णमो सिद्धाणं" इस दूसरे पदसे सिद्धोंको नमस्कार किया गया है; उन (सिद्धों) का क्या स्वरूप है अर्थात् सिद्ध किनको कहते हैं?

(उत्तर)—निरुक्ति के द्वारा सिद्ध शब्द का अर्थ यह है कि

"सितं बद्धमष्ट प्रकारकं कर्म ध्मातंयैस्ते सिद्धाः" अर्थात् जिन्होंने चिर कालसे बंधे हुए आठ प्रकारके कर्मरूपी इन्धन समूह को जाज्वल्यमान शुक्ल ध्यानरूपी अग्निसे जला दिया है उनको सिद्ध कहते हैं।

अथवा "षिधु गतौ" इस धातु से "सिद्ध शब्द बनता है; अतः अपुनरावृत्ति के द्वारा जो मोक्षनगरी में चले गये हैं उनको सिद्ध कहते हैं।

अथवा—जिनका कोई भी कार्य अपरिपूर्ण नहीं रहा है उनको सिद्ध कहते हैं।

अथवा—जो शिक्षा करने के द्वारा शास्त्र के वक्ता हैं उनको सिद्ध कहते हैं।

१—बहुवचनके प्रयोग के उक्त तीनों कारण पांचों पदोंमें जान लेने चाहिये ॥

२—सफेद ॥

अथवा–शासनके प्रवर्त्तक होकर सिद्धि रूपसे जो मङ्गलत्वका अनुभव करते हैं उनको सिद्ध कहते हैं।

अथवा–जो नित्य अपर्यवसित अनन्त स्थिति को प्राप्त होते हैं उनको सिद्ध कहते हैं।

अथवा—जिनसे भव्य जीवों को गुणसमूह की प्राप्ति होती है उनको सिद्ध कहते हैं (१)।

(प्रश्न)–उक्त लक्षणों से युक्त सिद्धोंको नमस्कार करने का क्या कारण है?

(उत्तर) अविनाशी तथा अनन्त ज्ञान, दर्शन, चारित्र और वीर्य रूप चार गुणोंके उत्पत्ति स्थान होनेसे उक्त गुणोंसे युक्त होनेके कारण अपने विषयमें अतिशय प्रमोद को उत्पन्न कर अन्य भव्य जीवों के लिये आनन्द उत्पादन के कारण होने से वे अत्यन्त उपकारी हैं, अतः उन को नमस्कार करना उचित है।

(प्रश्न) सिद्धों का ध्यान किसके समान तथा किस रूपमें करना चाहिये?

(उत्तर) सिद्धों का ध्यान उदित होते हुए सूर्य के समान रक्तवर्ण में करना चाहिये।

(प्रश्न) "णमो आयरियाणं" इस तीसरे पद से आचार्यों को नमस्कार किया गया है; उन (आचार्यों) का क्या स्वरूप है अर्थात् आचार्य किन को कहते हैं?

(उत्तर)–जो मर्यादा पूर्वक अर्थात् अर्थात् विनय पूर्वक जिन शासन के अर्थ का सेवन अर्थात् उपदेश करते हैं उन को आचार्य कहते हैं, (२) अथवा उपदेश के ग्रहण करने की इच्छा रखने वाले जिन का सेवन करते हैं उनको आचार्य कहते हैं।

१–कहा भी है कि–"ध्मातं सितं येन पुराण कर्म यो वा गतो निर्वृतिसौध मूर्ध्नि ॥ ख्यातोऽनुशास्ता परि निष्ठितार्थः यः सोऽस्तु सिद्धः कृतमङ्गलो मे ॥ १ ॥ अर्थात् जिसने बंधे हुए प्राचीन कर्म को दग्ध कर दिया है, जो मुक्ति रूप महलके शिरोभागमें प्राप्त हो गया है जो शास्त्र का वक्ता और अनुशासन कर्ता है तथा जिसके सर्व कार्य परिनिष्ठित हो गये हैं वह सिद्ध मेरे लिये मङ्गलकारी हो ॥

२—कहा भी है कि "सुत्तत्थ विऊलक्खण, जुत्तो गच्छस्स मेढिभूओअ ॥ गणतत्ति विप्पमुक्को, अत्थं वाएइ आयरिओ ॥ १ ॥ अर्थात् सूत्र और अर्थ, इन दोनोंके लक्षणोंसे युक्त तथा गच्छ का नायक स्वरूप आचार्य गच्छकी तप्ति (रागद्वेष की आकुलता) से रहित होकर अर्थ की वाचना करता है ॥ १ ॥

अथवा-ज्ञानाचार आदि पांच प्रकार के आचार के पालन करने में जो अत्यन्त प्रवीण हैं तथा दूसरों को उन के पालन करने का उपदेश देते हैं। उनको आचार्य कहते हैं।

अथवा-जो मर्यादापूर्वक विहार रूप आचार का विधिवत् पालन करते हैं तथा दूसरों को उस के पालन करने का उपदेश देते हैं उनको आचार्य कहते हैं (१)।

अथवा-युक्तायुक्त विभागनिरूपण(२) करने में अकुशल (३) शिष्यजनों को यथार्थ (४) उपदेश देने के कारण आचार्य कहे जाते हैं।

(प्रश्न)-उक्त लक्षणों से युक्त आचार्यों को नमस्कार करने का क्या कारण है ?

(उत्तर)-आचार (५) के उपदेश करने के कारण जिनको परोपकारित्व (६) की प्राप्ति हुई है तथा जो ३६ गुणों से सुशोभित हैं, युग प्रधान हैं, सर्वजन मनोरञ्जक (७) हैं तथा जगद्वर्त्ती (८) जीवों में से भव्य जीव को जिनवाणी का उपदेश देकर उसको प्रतिबोध (९) देकर किसीको सम्यक्त्व की प्राप्ति कराते हैं, किसी को देश विरति की प्राप्ति कराते हैं, किसी को सर्वविरति की प्राप्ति कराते हैं तथा कुछ जीव उनके उपदेश का श्रवण कर भद्रपरिणामी (१०) हो जाते हैं, इस प्रकार के उपकार के कर्त्ता शान्तमुद्रा के धर्त्ता, उक्त आचार्य क्षणमात्रके लिये भी कषाय ग्रस्त (११) नहीं होते हैं, अतः वे अवश्य नमस्कार करने के योग्य हैं।

किञ्च-उक्त आचार्य नित्य प्रमाद रहित होकर अप्रमत्त (१२) धर्म का कथन करते हैं, राजकथा; देशकथा; स्त्री कथा; भक्तकथा; सम्यक्त्वशैथिल्य (१३)

१-कहा भी है कि-"पंचविहं आयारं आयरमाणा तहा पयासंता ॥ आयारं दंसंता, आयरिया तेण वुच्चंति" ॥ १ ॥ अर्थात् पांच प्रकार के आचार का स्वयं सेवन कर तथा प्रयास के द्वारा जो दूसरों को उस आचार का उपदेश देते हैं, इस लिये वे आचार्य कहे जाते हैं ॥ १ ॥ २-योग्य और अयोग्य के अलग २ निश्चय ॥ ३-अचतुर, अव्युत्पन्न ॥ ४-सत्य ॥ ५-सद् व्यवहार ॥ ६-परोपकारी होने ॥ ७-सब जनों के मनों को प्रसन्न करने वाले ॥ ८-संसार के ॥ ९-ज्ञान ॥ १०-श्रेष्ठ परिणाम वाले ॥ ११-कषायों में फँसे हुए ॥ १२-प्रमाद से रहित, विशुद्ध, ॥ १३-सम्यक्त्वमें शिथिलता ॥

तथा चारित्रमेंशैथिल्यकारिणी (१) विकथा (२) का वर्जन (३) करते हैं, मद और माया (४) से दूर रहते हैं तथा देशकालोचित (५) विभिन्न (६) उपायों से शिष्य आदि को प्रवचन का अभ्यास कराते हैं, साधु जनों को क्रिया का धारण कराते हैं, जैसे सूर्य के अस्त हो जाने पर घर में स्थित घट (७) पट (८) आदि पदार्थ नहीं दीखते हैं तथा प्रदीप के प्रकाश से वे दीखने लगते हैं, उसी प्रकार केवल ज्ञानी (९) भास्करसमान (१०) श्री तीर्थङ्कर देव के मुक्ति सौध (११) में जाने के पश्चात् तीनों लोकों के पदार्थों के प्रकाशक (१२) दीपक के समान आचार्य ही होते हैं, अतः उनको अवश्य नमस्कार करना चाहिये, जो भव्य जीव ऐसे आचार्यों को निरन्तर नमस्कार करते हैं वे जीव धन्य माने जाते हैं तथा उनका भवक्षय (१३) शीघ्र ही हो जाता है।

(प्रश्न)—आचार्यों का ध्यान किस के समान तथा किस रूप में करना चाहिये ?

(उत्तर) आचार्यों का ध्यान सुवर्ण के समान पीत रूप में करना चाहिये ।

(प्रश्न)—"णमो उवज्झायाणं" इस चौथे पद से उपाध्यायों को नमस्कार किया गया है, उन (उपाध्यायों) का क्या स्वरूप है और उपाध्याय किन को कहते हैं ?

(उत्तर)—जिन के समीप में रह कर अथवा आकर शिष्य जन अध्ययन करते हैं उनको उपाध्याय कहते हैं (१४) ।

अथवा—जो समीप में रहे हुए अथवा आये हुए साधु आदि जनों को सिद्धान्त का अध्ययन कराते हैं वे उपाध्याय कहे जाते हैं (१५) ।

१—चारित्र में शिथिलता को उत्पन्न करने वाली ॥ २—विरुद्ध कथा, अनुचित वार्त्तालाप ॥ ३—त्याग ॥ ४—दम्भ, कपट, पाखण्ड, ५—देश और कालके अनुसार ॥ ६—अनेक प्रकारके ॥ ७—घड़ा ॥ ८—वस्त्र ॥ ९—केवल ज्ञान वाले ॥ १०—सूर्य के समान ॥ ११—मुक्तिरूप महल ॥ १२—प्रकाशित करने वाले ॥ १३—संसार का नाश ॥ १४—"उप समीपे उषित्वा एत्य वा (शिष्यजनाः) अधीयते यस्मात् स उपाध्यायः" यह उपाध्याय शब्द की व्युत्पत्ति है ॥ १५—"उप समीपे उषितान् आगतान् वा साधुजनान्ये सिद्धान्तमध्यापयन्तीति उपाध्यायाः" इति व्युत्पत्तेः ॥

अथवा–जिन के समीपस्थ से सूत्र के द्वारा जिन प्रवचन का अधिक ज्ञान तथा स्मरण होता है उनको उपाध्याय (१) कहते हैं (२)।

अथवा–जो उपयोग पूर्वक ध्यान करते हैं उनका नाम उपाध्याय है (३)।

अथवा–जो उपयोगपूर्वक ध्यान में प्रवृत्त हो कर पापकर्म का त्याग कर उस से बाहर निकल जाते हैं वे उपाध्याय कहे जाते हैं।

अथवा–जिन के समीप में निवास करने से श्रुत का आय अर्थात् लाभ होता है उनको उपाध्याय कहते हैं (४)।

अथवा–जिन के द्वारा उपाधि अर्थात् शुभविशेषणादि रूप पदवी की प्राप्ति होती है उनको उपाध्याय कहते हैं (५)।

अथवा–जिन में स्वभावतः ही इष्ट फल की प्राप्ति का कारणत्व रहता है उनको उपाध्याय कहते हैं (६)।

अथवा–मानसिक पीड़ा की प्राप्ति, कुबुद्धि की प्राप्ति तथा दुर्ध्यान की प्राप्ति जिन के द्वारा उपहत होती है उनको उपाध्याय कहते हैं (७)।

(प्रश्न) उक्त लक्षणों से युक्त उपाध्यायों को नमस्कार करने का क्या हेतु है ?

उत्तर–उक्त उपाध्याय २५ गुणों से युक्त होते (८) हैं, द्वादशाङ्गी (९) के

१–"उपसमीपे सूत्रतो जिनप्रवचनमधीयते प्रकर्षतया ज्ञायते स्मर्यते वा शिष्यजनैर्येभ्यस्ते उपाध्यायाः" इति व्युत्पत्तेः ॥ २–अन्यत्र भी कहा है कि–बारसङ्गो जिणक्खाओ सज्झाओ कहिओ बुहेहिं" तं उवइसन्ति जम्हा, उवज्झाया तेण वुच्चन्ति ॥ १ ॥ अर्थात् (अर्थ के द्वारा) जिनोक्त द्वादशाङ्ग को बुद्धिमान् स्वाध्याय कहते हैं, जिस लिये उस का उपदेश देते हैं इसलिये उपाध्याय कहे जाते हैं ॥ १ ॥ ३–"उप उपयोगेन आ समन्तात् ध्यायन्तीति उपाध्यायाः" ॥ ४–"उपसमीपे अधिवसनाच्छ्रुतस्यायो लाभो भवति येभ्यस्ते उपाध्यायाः" ॥ ५–"उपाधेरायो येभ्यस्ते उपाध्यायाः" ॥ ६–"उपाधेरिष्टफलस्य आयस्य प्राप्तेः हेतुत्वं येषु विद्यते ते उपाध्यायाः" ॥ ७–"उपहन्यते आधेर्मानस्या व्यथाया आयः प्राप्तिर्यैस्ते उपाध्यायाः" यद्वा "उपहन्यते अधियः कुबुद्धेरायः प्राप्तिर्यैस्ते उपाध्यायाः" यद्वा "उपहन्यते अध्यायो दुर्ध्यानं यैस्ते उपाध्यायाः" ॥ ८–पच्चीस गुणोंका वर्णन आगे किया जावेगा ॥ ९–आचार आदि १२ अङ्ग ॥

पारगामी (१), द्वादशाङ्गी के धारक (२), सूत्र और अर्थ के विस्तार करने में रसिक होते हैं सम्प्रदाय (३) से आये हुए जिनवचन का अध्यापन करते हैं तथा हेतु भव्य (४) जीवों के ऊपर उपकारी होने के कारण उनको नमस्कार करना उचित है।

(प्रश्न) उपाध्यायों का ध्यान किस के समान तथा किस रूप में करना चाहिये?

(उत्तर) उनका ध्यान मरकतमणिके समान नीलवर्णमें करनाचाहिये।

(प्रश्न) "णमो लोए सव्व साहूणं" इस पद के द्वारा साधुओं को नमस्कार किया गया है उन (साधुओं) का क्या लक्षण है अर्थात् साधु किन को कहते हैं?

(उत्तर)–जो ज्ञानादि रूप शक्ति के द्वारा मोक्ष का साधन करते हैं उन को साधु कहते हैं (५)।

(अथवा)–जो सब प्राणियों पर समत्व का ध्यान रखते हैं उन को साधु (६) कहते (७) हैं।

अथवा–जो चौरासी लाख जीवयोनि में उत्पन्न हुए समस्त (८) जीवों के साथ समत्व (९) को रखते हैं उनको साधु कहते हैं।

अथवा–जो संयम के सत्रह भेदों का धारण करते हैं उन को साधु कहते हैं (१०)।

१–पार जाने वाले ॥ २–धारण करने वाले ॥ ३–आम्नाय, गुरुपरम्परा ॥ ४–"भवसिद्धिको भव्यः" अर्थात् उसी (विद्यमान) भव में जिसको सिद्धि की प्राप्ति हो जाती है उस को भव्य कहते हैं ॥ ५–"ज्ञानादिशक्त्यामोक्षं साधयन्तीति साधवः ॥ ७–"समत्वं ध्यायन्तीति साधवः" इति निरुक्तकाराः ॥ ६–कहा भी है कि–"निव्वाणसाहए जोए, जम्हासाहन्ति साहुणो ॥ समाय सव्वभूएसु, तम्हाते भाव साहुणो ॥१॥ जिस लिये साधुजन निर्वाणसाधन को जानकर उस का साधन करते हैं तथा सब प्राणियों पर सम रहते हैं; इस लिये ये भावसाधु कहे जाते हैं ॥१॥ ८–सर्व ॥ ९–समता, समानता; समव्यवहार ॥ १०–कहा भी है कि–"विसयसुहनियत्तणं, विसुद्धचारित्तनियमजुत्ताणं ॥ तच्च गुणसाहयाणं, साहणकिच्चुज्जायण नमो ॥ १ ॥ अर्थात् जो विषयों के सुख से निवृत्त हैं, विशुद्ध चारित्र के नियम से युक्त हैं, सत्य गुणों के साधक हैं तथा मोक्षसाधन के लिये उद्यत हैं उन साधुओं को नमस्कार हो ॥१॥

अथवा—जो असहायों के सहायक होकर तपश्चर्या आदि में सहायता देते हैं उन को साधु कहते हैं (१)।

अथवा—जो संयमकारी जनों की सहायता करते हैं उन को साधु कहते हैं।

(प्रश्न)—उक्त गुणविशिष्ट साधुओं को नमस्कार करने का क्या कारण है?

(उत्तर)—मोक्षमार्ग में सहायक होने के कारण परम उपकारी होने से साधुओं को अवश्य नमस्कार करना चाहिये।

किन्तु—जैसे भ्रमर वृक्ष के सुगन्धित पुष्प पर बैठ कर उसके थोड़े से पराग को लेकर दूसरे पुष्प पर चला जाता है, वहां से अन्य पुष्प पर चला जाता है; इस प्रकार अनेक पुष्पों पर भ्रमण कर तथा उन के थोड़े २ पराग का ग्रहण कर अपने को सन्तुष्ट कर लेता है अर्थात् पुष्प को बाधा नहीं पहुंचाता है, उसी प्रकार साधु भी अनेक गृहों में भ्रमण कर बयालीस दोषरहित विशुद्ध आहार का गवेषण कर अपने शरीर का पोषण करताहै, पांचों इन्द्रियों को अपने वश में रखता है अर्थात् पांचों इन्द्रियों के विषयों में प्रवृत्ति नहीं करता है, षट् काय जीवों की स्वयं रक्षा करता है तथा दूसरों से कराता है, सत्रह भेद विशिष्ट (२) संयम का आराधन (३) करता है, सब जीवों पर दया का परिणाम रखता है, अठारह सहस्र शीलाङ्गरूप रथ का वाहक (४) होता है, अचल आचार का परिसेवन करता है, नव प्रकार से ब्रह्मचर्य गुप्ति (५) का पालन करता है, बारह प्रकार के तप (६) में पौरुष दिखलाता है, आत्मा के कल्याण का सदैव ध्यान रखता है, आदेश और उपदेश से पृथक् रहता है तथा जन सङ्गम; वन्दन और पूजनकी कामना से पृथक् रहता है; ऐसे साधु को नमस्कार करना अवश्य समुचित है।

१—कहा भी है कि "असहाइसहायत्तं, करेंति मे सञ्जमं करंतस्स ॥ एएणं कारणेणं, णमामि हं सव्वसाहूणं ॥१॥ अर्थात् संयम करते हुए मुझ असहाय की सहायता साधु ही करते हैं, अतः मैं सर्व साधुओं को नमस्कार करता हूं ॥ १ ॥ २—सत्रह भेदों से युक्त ॥ ३—सेवन ॥ ४—चलाने वाला ॥ ५—नौ प्रकार के ब्रह्मचर्य का वर्णन आगे साधु गुणवर्णन में किया गया है ॥ ६—अनशन, ऊनोदरता, वृत्तिका संक्षेपण, रसत्याग, तनुक्लेश, लीनता, प्रायश्चित्त, वैयावृत्य, स्वाध्याय, विनय, व्युत्सर्ग तथा शुभ ध्यान, ये बारह प्रकार के तप हैं, इन में से प्रथम छः बाह्य तप हैं तथा पिछले छः आभ्यन्तर तप हैं ॥

(प्रश्न)–साधुओं का ध्यान किस के समान तथा किस रूप में करना चाहिये ?

(उत्तर)–साधुओं का ध्यान आषाढ़ के मेघ के समान श्याम वर्ण में करना चाहिये ।

(प्रश्न)–"णमो लोए सव्व साहूणं" इस पांचवें पद में "लोए" अर्थात् "लोके" (लोक में) यह पद क्यों कहा गया है अर्थात् इस के कथन से क्या भाव निकलता है ?

(उत्तर)–'लोए, यह जो पांचवें पद में कहा गया है उस के निम्न लिखित प्रयोजन हैं:–

(क)–अढ़ाई द्वीप प्रमाण लोक में साधु निवास करते हैं ।

(ख)–"लोए" यह पद मध्य मंगल के लिये है; क्योंकि "लोकृ दर्शने" इस धातु से "लोक" शब्द बनता है तथा सब ही दर्शनार्थक धातु ज्ञानार्थक माने जाते हैं तथा ज्ञान मङ्गलस्वरूप है; अतः मध्य में मङ्गल करने के लिये इस पद में 'लोए' पद रक्खा गया है (१) ।

(ग)–तीसरा कारण यहभी है कि "सव्वसाहूणं" इस पद में प्राकाम्य सिद्धि सन्निविष्ट है (जिस का वर्णन आगे किया जावेगा), क्योंकि साधुजन पर्याप्त काम होते हैं, उनके सम्बन्ध में प्रयुक्त "लोए" पद इस बातको सूचित करता है कि उन साधु जनों की जो इच्छा भी होती है वह ज्ञान सह चारित्री ही होती है अर्थात् रजोगुण और तमोगुण की वासना से रहित सात्त्विकी इच्छा होती है और उनकी आराधना के द्वारा जो साधक जन प्राकाम्य सिद्धि को प्राप्त होते हैं उनकी कामना भी रजोगुण और तमोगुण से रहित सात्त्विकी होती है ॥

(प्रश्न) "णमो लोए सव्वसाहूणं" इस पांचवें पद में 'सव्व' अर्थात् 'सर्व' शब्द का प्रयोग क्यों किया गया है; यदि सर्वशब्द का प्रयोग न करते तो भी "साहूणं" इस बहुवचनान्त शब्द से सर्व अर्थ जाना ही जा सकता था; अत एव प्रथम चार पदों में सर्व शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है ?

(उत्तर)–उक्त पांचवें पदमें "सव्वसाहूणं" इस पद में जो साधु शब्दके साथ समस्त सर्व पद का प्रयोग किया गया है उसके निम्न लिखित कारण हैं

१–महानुभाव जन ग्रन्थ के आदि मध्य और अन्त में मङ्गल करते हैं ॥

(क)—सर्व शब्द इस बात को प्रकट करता है कि साधु जन सर्वकाम समर्थक होते हैं इस लिये इस पद में प्राकाम्य सिद्धि संनिविष्ट (१) है ।

(ख)—अप्रमत्तादि, पुलाकादि, जिनकल्पिक, प्रतिमाकल्पिक, यथालन्द कल्पिक, परिहार विशुद्धि कल्पिक, स्थविर कल्पिक, स्थित कल्पिक, स्थितास्थित कल्पिक तथा कल्पातीत रूप भेदों वाले, प्रत्येकबुद्ध, स्वयं बुद्ध, बुद्ध बोधितरूप भेदों वाले तथा भारत आदि भेदों वाले तथा सुखम दुःखमादिक विशेषित सर्व साधुओं का स्पष्टतया ग्रहण हो जावे इस लिये सर्व शब्द का इस पद में ग्रहण किया है (२) ।

(ग) "सव्व साहूणं" इस प्राकृत पदका अनुवाद "सार्वसाधूनाम्" भी होसकता है, जिसका अर्थ यह है कि साधुजन सार्व अर्थात् सर्व जीव हित कारी होते हैं, (३) अ वा—सार्वशब्द का अर्थ यह भी है कि अर्हद्धर्म का स्वीकार करने वाले (४) जो साधु हैं उनको नमस्कार हो । अथवा—सर्व शुभ योगों को जो सिद्ध करते हैं उनको सार्व कहते हैं, इसलिये सर्व शब्द से अरिहन्त का भी ग्रहण होसकता (५) है, अतः यह अर्थ जानना चाहिये कि सार्व अर्थात् अरिहन्त का जो साधन करते हैं अर्थात् आज्ञापालन के द्वारा तथा दुर्नयों के निराकरण के द्वारा उन की आराधना तथा प्रतिष्ठापना करते हैं ।

(घ) "सव्वसाहूणं" इस प्राकृत पदका संस्कृतानुवाद "श्रव्यसाधूनाम्" भी होसकता है, उसका अर्थ यह होगा कि-श्रव्य अर्थात् श्रवण करने योग्य जो वाक्य हैं उनके विषय में जो साधु हैं उनको श्रव्य साधु कहते हैं (६) ।

(ङ) अथवा—"सव्व साहूणं" का संस्कृतानुवाद "सव्यसाधनाम्" भी

१—इस विषयका वर्णन आगे किया जावेगा ॥ २—तात्पर्य यहहै कि यदि "सव्वसाहूणं" इस पद में "सव" शब्द का ग्रहण न करते तो अप्रमत्तादि रूप भेदोंसे युक्त सर्व साधुओं का स्पष्टतया बोध नहीं होता । अतः उन सब का स्पष्टतया बोध होने के लिये "सर्व" शब्द का ग्रहण किया गया है ॥ ३—' सर्वेभ्यो हिताः सार्वाः " ॥ ४—"सर्वैर्नयैर्विशिष्टत्वात्सर्वोऽर्हद्धर्मः, तत्र भवाः (तत्स्वीकर्त्तारः) सार्वाः "॥ ५—"साधनरूपत्वात्सर्वेषु (शुभेषु योगेषु) ये वर्त्तन्ते ते सार्वाः अर्हन्तः, तान् दुर्नयनिरासेन साधयन्ति आराधयन्ति प्रतिष्ठापयन्ति वेति सार्वसाधवस्तेषाम् ॥ ६—"श्रव्येषु श्रवणीयेषु वाक्येषु साधवः श्रव्यसाधवस्तेषाम् " ॥

होता है, उसका अर्थ यह है कि—सव्य अर्थात् दक्षिण (अनुकूल) कार्य के विषय में जो साधु अर्थात् निपुण हैं। (१)

(ग) इस पदमें "लोक" शब्द से ढाई द्वीप समुद्र वर्ती मनुष्य लोकका ग्रहण होता है, जो कि ऊर्ध्व भागमें नौ सौ योजन प्रमाण है और अधोभाग में सहस्र योजन प्रमाण है, किन्तु कतिपय (२) लब्धिविशिष्ट (३) साधुजन मेरुचूलिका तक भी तपस्या करते हुए पाये जाते हैं, इस प्रकार लोक में जहां २ जो २ साधु हों उन सबको नमस्कार हो, यह सर्व शब्दका तात्पर्य है।

(प्रश्न) यह जो पञ्च परमेष्ठियों को नमस्कार करना है वह संक्षेप से (४) कर्तव्य है, अथवा विस्तार पूर्वक (५) कर्तव्य है; इनमें से यदि संक्षेप से नमस्कार कर्तव्य कहो तो केवल सिद्धों को और साधुओं को ही नमस्कार करना चाहिये, क्योंकि इन दोनों को ही नमस्कार करने से अरिहन्त, आचार्य और उपाध्याय का भी ग्रहण हो ही जाता है (६); क्योंकि अरिहन्त आदि जो तीन हैं वे भी साधुत्व का त्याग नहीं करते हैं और यदि विस्तार पूर्वक नमस्कार कर्तव्य कहो तो ऋषभादि चौबीसों तीर्थङ्करोंको व्यक्ति समुच्चार पूर्वक (७) अर्थात् पृथक् २ नाम लेकर नमस्कार करना चाहिये।

(उत्तर) अरिहन्त को नमस्कार करने से जिस फलकी प्राप्ति होती है उस फल की प्राप्ति साधुओं को नमस्कार करने से नहीं हो सकती है, जैसे राजादि को नमस्कार करनेसे जो फल प्राप्त होता है वह मनुष्यमात्र को नमस्कार करने से प्राप्त नहीं होसकता है, इसलिये विशेषता को लेकर प्रथम अरिहन्त को ही नमस्कार करना योग्य है।

(प्रश्न) जो सब में मुख्य होता है उसका प्रथम ग्रहण किया जाता है, यह न्यायसङ्गत (८) बात है; यहां परमेष्ठि नमस्कार विषय में प्रथम अरिहन्त का ग्रहण किया गया है परन्तु प्रधान न्यायको मान कर इन पञ्च परमेष्ठियों में से सर्वथा कृतकृत्यता (९) के द्वारा सिद्धों को प्रधानत्व (१०) है;

१—"सव्येषु दक्षिणेषु अनुकूलेष्विति यावत्, कार्येषु साधवो निपुणा इति सव्यसाधवस्तेषाम्" ॥ २—कुछ ॥ ३—लब्धि से युक्त ॥ ४—संक्षिप्तरूप में ॥ ५—विस्तार के साथ ॥ ६—तात्पर्य यह है कि सिद्धों को और साधुओं को नमस्कार करने से अरिहन्तों आचार्यों और उपाध्यायों को भी नमस्कार हो जाता है ॥ ७—व्यक्ति के उच्चारण के साथ ॥ ८—न्याय से युक्त ॥ ९—कार्यसिद्धि, कार्यसाफल्य ॥ १०—मुख्यता ॥

अर्थात् पाँचों में से सिद्ध मुख्य हैं; अतः सिद्धों को प्रथम नमस्कार करके पीछे आनुपूर्वी (१) के द्वारा अरिहन्त आदि को नमस्कार करना युक्त है ।

(उत्तर) हम सिद्धों को भी अरिहन्त के उपदेश से ही जानते हैं, फिर देखो ! अरिहन्त तीर्थ की प्रवृत्ति करते हैं और उपदेश के द्वारा बहुत से जीवों का उपकार करते हैं; यही नहीं; किन्तु सिद्ध भी अरिहन्त के उपदेश से ही चरित्र का आदर कर कर्म रहित होकर सिद्धि को प्राप्त होते हैं; इस लिये सिद्धों से पूर्व अरिहन्तों को नमस्कार किया गया है ।

(प्रश्न) यदि इस प्रकार उपकारित्व का (२) विचार कर नमस्कार करना अभीष्ट है तो आचार्य आदिको भी प्रथम नमस्कार करना उचित होगा क्योंकि किसी समय आचार्य आदि से भी अरिहन्त आदि का ज्ञान होता है; अतः आचार्य आदि भी महोपकारी (३) होने से प्रथम नमस्कार करने योग्य हैं ।

(उत्तर)– आचार्य को उपदेश देने का सामर्थ्य अरिहन्तके उपदेश से ही प्राप्त होता है, अर्थात् आचार्य आदि (४) स्वतन्त्रता से उपदेश ग्रहण कर अर्थज्ञापन (५) के सामर्थ्य को प्राप्त नहीं कर सकते हैं, तात्पर्य यह है कि अरिहन्त ही परमार्थतया (६) सब पदार्थोंके ज्ञापक (७) हैं; अतः उन्हीं को प्रथम नमस्कार करना योग्य है । किञ्च–आचार्य आदि तो अरिहन्त के पर्षदारूप (८) हैं; अतः आचार्य आदिको प्रथम नमस्कार करने के पश्चात् अरिहन्त को नमस्कार करना योग्य नहीं है, देखो लोक में भी पर्षदा (९) को प्रणाम करनेके पश्चात् राजा को प्रणाम कोई नहीं करता है; उसी के समान यहां पर भी पर्षदारूप आचार्य आदि को नमस्कार कर राजा रूप अरिहन्त को पीछे नमस्कार करना योग्य नहीं है, तात्पर्य यह है कि राजारूप अरिहन्त को ही प्रथम नमस्कार कर पर्षदारूप आचार्य आदि को पीछे नमस्कार करना युक्तिसङ्गत (१०) है (११) ।

१–अनुक्रम से गणना ॥ २–उपकारकारी होने का ॥ ३–अत्यन्त उपकार करने वाले ॥ ४–आदि शब्द से उपाध्याय को जानना चाहिये ॥ ५–पदार्थों को प्रकट करना ॥ ६–मुख्य रीतिसे ॥ ७–ज्ञान कराने वाले ॥ ८–सभारूप ॥ ९–सभा, मण्डली ॥ १०–युक्ति सहित, युक्तिसिद्ध ॥ ११–अन्यत्र कहा भी है कि– "पुव्वाणुपुव्वि न कमो, नेव य पच्छाणुपुव्वि एस भवे ॥ सिद्धाई आ पढमा, बीआए साहुणो आइ ॥ १ ॥ अरहन्ता उपएसेणं, सिद्धाणं जन्ति तेण अरिहाई ॥ णविकोवि परिसाए, पणमित्ता पणमई रण्णोत्ति ॥ २ ॥ ऊपर जो विषय लिखा गया है वही इन दोनों गाथाओं का भावार्थ है ।

(प्रश्न) छठे से लेकर नवें पद पर्यन्त यह कहा गया है कि—"यह पञ्च नमस्कार सब पापों का (१) नाश करने वाला है तथा सब मङ्गलों में यह प्रथम मङ्गल है ॥ इस विषयमें प्रष्टव्य (२) यह है कि—मङ्गल किसको कहते हैं और मङ्गल कितने प्रकार का है तथा यह पञ्च नमस्कार प्रथम मङ्गल क्यों है ?

(उत्तर)—मङ्गल शब्द की व्युत्पत्ति यह है कि—"मङ्गति हितार्थे सर्पति, मङ्गति दुरदृष्टमनेन अस्माद्वेति मङ्गलम्" अर्थात् जो सब प्राणियों के हित के लिये दौड़ता है उसको मङ्गल कहते हैं, अथवा जिस को द्वारा वा जिस से दुरदृष्ट (दुर्दैव, दुर्भाग्य) दूर चला जाता है उस को मङ्गल कहते हैं, तात्पर्य यह है कि जिस से हित और अभिप्रेत (३) अर्थ (४) की सिद्धि होती है उस का नाम मङ्गल है।

मङ्गल दो प्रकार का है—द्रव्य मङ्गल अर्थात् लौकिक मङ्गल (५) तथा भाव मङ्गल अर्थात् लोकोत्तर मङ्गल, (६) इन में से दधि (७) अक्षत, (८) केसर, चन्दन और दूर्वा (९) आदि लौकिक मङ्गल रूप हैं, इनको अनैकान्तिक (११) तथा अनात्यन्तिक (१०) मङ्गल जानना चाहिये, नाम मङ्गल, स्थापना मङ्गल तथा द्रव्य मङ्गल से वाञ्छित (१२) अर्थ की सिद्धि नहीं हो सकती है; किन्तु इससे विपरीत जो भाव मङ्गल है वह ऐकान्तिक (१३) तथा आत्यन्तिक (१४) होता है, इसी (भावमङ्गल) से अभिप्रेत अर्थ की सिद्धि होती है, अतः द्रव्य मङ्गल की अपेक्षा भाव मङ्गल पूजनीय तथा प्रधान है, वह (भावमङ्गल) जप तप तथा नियमादि रूप भेदों से अनेक प्रकार का है, उनमें भी यह पञ्च परमेष्ठि नमस्कार रूप मङ्गल अति उत्कृष्ट (१५) है, अतः इसका अवश्य ग्रहण करना चाहिये; इससे मोक्ष सुख की प्राप्ति होती है; क्योंकि जिन परमेष्ठियों को नमस्कार किया जाता है वे मङ्गलरूप; लोकोत्तम (१६) तथा शरणागत वत्सल (१७) हैं, कहा भी है कि—"अरिहन्ता मंगलं, सिद्धा मंगलं,

१—ज्ञानावरणादिरूप सब पापों का ॥ २—पूछने योग्य विषय ॥ ३—अभीष्ट ॥ ४—पदार्थ ॥ ५—सांसारिक मङ्गल ॥ ६—पारलौकिक मङ्गल ॥ ७—दही ॥ ८—चावल ॥ ९—दूब ॥ १०—सर्वथा मङ्गलरूप में न रहने वाला ॥ ११—सर्वदा मङ्गलरूप में न रहने वाला ॥ १२—अभीष्ट ॥ १३—सर्वथा मङ्गलरूप में रहने वाला ॥ १४—सर्वदा मङ्गलरूप में रहने वाला ॥ १५—सब में बड़ा ॥ १६—लोक में उत्तम ॥ १७—शरण में आये हुए जीव पर प्रेम रखने वाले ॥

साहू मंगलं, केवलि पराणत्तो धम्मो मंगलं ॥१॥ अर्थात् अरिहन्त मङ्गल रूप हैं, सिद्ध मङ्गल रूप हैं, साधु मङ्गल रूप हैं तथा केवली का प्रज्ञप्त (१) धर्म मङ्गल रूप है ॥ १ ॥

(प्रश्न) परमेष्ठि नमस्कार महास्तोत्र के कर्त्ता श्रीजिन कीर्त्ति सूरिने स्वोपज्ञवृत्ति के आरम्भ में इस महा मन्त्र को अड़सठ अक्षरों से विशिष्ट कहा है; सो इसके अड़सठ अक्षर किस प्रकार जानने चाहिये तथा अड़सठ अक्षरों से युक्त इस महामन्त्र के होने का क्या कारण है ?

(उत्तर) इस नवकार मन्त्र में नौ पद हैं; उनमें से आदिके जो पांच पद हैं वे ही मूलमन्त्र स्वरूप हैं; उनमें व्यञ्जनोंके सहित लघु (२) और गुरु (३) वर्णों की गणना करने से पैंतीस अक्षर होते हैं तथा पिछले जो चारपद हैं वे चूलिका के हैं, उनमें मूल मन्त्रके प्रभाव का वर्णन किया गया है, उक्त चारों पदों में व्यञ्जनों के सहित लघु और गुरु अक्षरों की गणना करने से तेंतीस अक्षर होते हैं, उक्त दोनों संख्याओं को जोड़नेसे कुल अड़सठ अक्षर होते हैं; अतः इस महामन्त्र को अड़सठ अक्षरों से विशिष्ट कहा है ।

इस महामन्त्र में अड़सठ अक्षरों के सन्निवेश (४) का प्रयोजन (५) यह है कि, इस में पांच परमेष्ठियों को नमस्कार किया गया है तथा इस में नौ पद हैं; जिनकी भङ्गोंकी क्रिया (प्रक्रिया) पृथक् २ है, इसीलिये इस महा मन्त्र को नवकार मन्त्र (६) कहते हैं, पांच को नौ से गुणा करने पर पैंतालीस होते हैं; उनको ड्यौढ़ा करने पर साढ़े सड़सठ होते हैं; उनमें आधा जोड़ने से अड़सठ होते हैं, अब इसका तात्पर्य यह है कि जो नवपदों की प्रक्रिया से पांच परमेष्ठियों का ध्यान करता है । अर्थात् इस प्रकार से पैंतालीस संख्या को प्राप्त होता है । उसका हिसाब किताब (लेखा) संसार से ड्यौढ़ा (निःशेष) हो जाता है । अर्थात् इस प्रकार से वह साढ़े सड़सठ संख्या को प्राप्त होता है; । संसारसे लेखाके ड्यौढ़ा होने के पश्चात् (अर्थात् साढ़े सड़सठ संख्या को प्राप्त होने के पश्चात्) उस के लिये संसार केवल अर्धक्षण मात्र ही रहता है, उस अर्धक्षणके बीतने पर (अर्थात् आधे के मिलने पर) वह अड़सठ हो जाता है अर्थात् सिद्धि धाम (७) को प्राप्त हो जाता है ।

१–कहा हुआ ॥ २–ह्रस्व ॥ ३–दीर्घ ॥ ४–संस्थापन ॥ ५–तात्पर्य ॥ ६–"नव" अर्थात् नौ हैं "कार" अर्थात् क्रियायें जिस में; ऐसा मन्त्र ॥ ७–सिद्धिस्थान ॥

प्रथम पद से लेकर नौओं पदों को जोड़ने से पैंतालीस होते हैं (जैसे एक और दो तीन हुए, तीन में तीन जोड़ने से छः हुए, छः में चार जोड़ने से दश हुए, दशमें पांच जोड़ने से पन्द्रह हुए, पन्द्रह में छः जोड़ने से इक्कीस हुए, इक्कीस में सात जोड़ने से अट्ठाईस हुए, अट्ठाईस में आठ जोड़ने से छत्तीस हुए तथा छत्तीस में नौ के जोड़ने से पैंतालीस हुए) इन पैंतालीस से यह तात्पर्य है कि जो पुरुष प्रथम पद से लेकर नौओं पदों की क्रिया को विधिवत् (१) कर लेता है वह पैंतालीस रूप होजाता है तथा उसका लेखा संसार से ड्योढ़ा होजाता है और उसके लिये अर्धक्षण मात्र संसार रहता है, इत्यादि पूर्ववत् (२) जानना चाहिये।

(प्रश्न) कोई लोग "हवइ मंगलं" के स्थान में "होइ मंगलं" ऐसा पाठ मानकर चूलिका सम्बन्धी पिछले चार पदों में बत्तीस ही अक्षरों को मानते हैं; क्या वह ठीक नहीं है ?

(उत्तर) "हवइ" के स्थान में "होइ" शब्द के पढ़ने से यद्यपि अर्थ में तो कोई भेद नहीं होता है; परन्तु "होइ" शब्द के पढ़ने से चार पदों में बत्तीस अक्षरों का होना रूप दूषण (३) है, क्योंकि मूलमन्त्र के ३५ तथा पिछले चार पदों में "हवइ" पढ़कर तेंतीस अक्षरों के मिलने से ही ६८ अक्षर होते हैं, जिनका होना पूर्व लिखे अनुसार आवश्यक है, देखो ! श्रीमहानिशीथ सिद्धान्त में कहा है कि "तहेव इक्कारस पयपरिच्छिन्नति आलावगतित्तीस अक्खर परिमाणं, एसो पंचणमुक्कारो सव्वपावप्पणासणो मंगलाणं च सव्वेसिं पढमं हवइ मंगलं तिचूलम्" अर्थात् परमेष्ठि नमस्कार रूप मूल मन्त्र ग्यारह पदोंसे परिच्छिन्न (४) है (५) उसके प्रभाव द्योतक (६) पिछले चार पदों के अक्षरों का परिमाण तेंतीस हैं, (७) तद्यथा "एसो पंचणमुक्कारो, सव्वपावप्पणासणो, मंगलाणं च सव्वेसिं, पढमं हवइ मंगलं" ऐसा चूलिका में कथन है। किन्तु—अर्थभेद न होने पर भी (८) 'होय मंगलं, ऐसा पाठ न मान कर "हवइ मंगलं" ऐसा ही पाठ मानना चाहिये कि जिससे चारों पदों में

१-विधिपूर्वक, विधि के अनुसार ॥ २-पूर्वकथन के अनुसार ॥ ३-दोष ॥ ४-युक्त, सहित ॥ ५-अर्थात् आदि के पांच पद रूप मूल मन्त्र में कुल ग्यारह पद हैं ॥ ६-प्रभाव को बतलाने वाले ॥ ७-अर्थात् पिछले चार पदों में ३३ अक्षर हैं ॥ ८-अर्थ में भेद न पड़ने पर भी ॥

३३ अक्षर होजावें, क्योंकि नमस्कारावलिका ग्रन्थ में कहा है कि "किसी कार्य विशेष के उपस्थित होने पर जब चूलिका के ही चारों पदों का (१) ध्यान करना हो तब बत्तीस दल [२] का कमल बनाकर एक २ अक्षर को एक २ पांखड़ीमें स्थापित कर देना चाहिये तथा तेंतीसवें अक्षरको मध्य कर्णिका(३) में स्थापित करके ध्यान करना चाहिये" अतः यदि "होइ मंगलं" ऐसा पाठ माना जावे तो चारों पदों में ३२ ही अक्षर रह जावें उन ३२ अक्षरों से ३२ पांखड़ियों को पूर्ण कर देने से मध्य की कर्णिका खाली ही रह जावे, अतः 'हवइ मंगलं, ऐसा पाठ मान कर पिछले चारों पदों में ३३ अक्षर ही मानने चाहिये॥

(प्रश्न) अनेक ग्रन्थों में लिखा है कि पञ्चपरमेष्ठियों को नमस्कार करके उनके एक सौ आठ गुणरूप मन्त्र का जप करना चाहिये, वे एक सौ आठ गुण कौन से हैं तथा पृथक् २ पांचों के कितने गुण हैं।

(उत्तर) देखो ! बारस गुण अरिहन्ता, सिद्धा अट्ठेव सूरि छत्तीसं ॥ उवज्झाया पणवीसं, साहू सत्त वीस अट्ठसयं ॥ १ ॥ अर्थात् अरिहन्त के बारह गुण हैं, सिद्धि के आठ गुण हैं, आचार्य के छत्तीस गुण हैं, उपाध्याय के पच्चीस गुण हैं तथा साधुके सत्ताईस गुण हैं, इन सबको एकत्रित (४) करने से एक सौ आठ गुण होते हैं।

(प्रश्न) अरिहन्त के बारह गुण कौन २ से हैं ?

(उत्तर) आठ प्राति हार्य (५) तथा चार मूलातिशय (६) इस प्रकार से अरिहन्त के बारह गुण हैं। (७)

(प्रश्न) कृपया आठ प्रातिहार्य तथा चार मूलातिशय रूप बारह गुणों का वर्णन कीजिये ?

(उत्तर) उक्त गुणों का विषय बहुत विस्तृत (८) है तथा अन्य ग्रन्थों में उसका विस्तार पूर्वक वर्णन किया गया है; अतः यहां पर उक्त विषयका अत्यन्त संक्षेप से वर्णन किया जाता है:—

१-पिछले चारों पदों का ॥२पखड़ी॥ ३-बीच की कर्णिका (डंठल) ॥ ४-इकट्ठा ॥५-भगवान्‌के जो सहाचारी हैं उनको प्रातिहार्य कहते हैं, अथवा इन्द्रके आज्ञाकारी देवों कर्माके को प्रातिहार्य कहते हैं ॥ ६-मूलरूप अतिशय (उत्कृष्टता) ॥ ६-अर्थात् आठ प्रातिहार्य तथा चार मूलातिशय, ये दोनों मिलकर अरिहन्त के बारह गुण हैं ॥७-विस्तार युक्त ॥

किंकिल्लि कुसुम वुट्ठी, देवज्झुणि चामरासणा इय ॥ भावलय भेरि छत्तं जयंति जिण पाडिहेराइं ॥१॥ अर्थात् किंकिल्लि (अशोकवृक्ष) कुसुम वृष्टि, दिव्यध्वनि, चामर, आसनादि, भावलय, भेरी और छत्र, ये जिन प्रातिहार्य विजयशाली हों ॥१॥ इस कथन के अनुसार अरिहन्त के आठ प्रातिहार्य हैं। अन्यत्र भी कहा है कि "अशोकवृक्षः सुरपुष्पवृष्टिर्दिव्यध्वनिश्चामरमासनञ्च ॥ भामण्डलं दुन्दुभिरातपत्रं, सत्प्रातिहार्याणि जिनेश्वराणाम् ॥ १ ॥ अर्थात् अशोक वृक्ष, सुरपुष्पवृष्टि, दिव्यध्वनि, चामर, आसन, भामण्डल (दीप्तिसमूह), दुन्दुभी और छत्र, ये जिनेश्वरों के सत्प्रातिहार्य (१) हैं ॥ १ ॥ ये आठ प्रातिहार्य श्री अरिहन्त के आठ गुण कहे जाते हैं।

इन प्रातिहार्यों का संक्षेपसे इस प्रकार वर्णन है:—

१—अशोक वृक्ष—जहां अरिहन्त विचरते हैं तथा समवसरण करते हैं वहां महाविस्तीर्ण, (२) कुसुमसमूह विलुब्ध भ्रमर निकर से युक्त, (३) शीतल सुन्दर छाया के सहित, मनोहर, विस्तीर्ण शाखायुक्त, [४] भगवान् के देह परिमाण से बारहगुणा, अशोक वृक्ष देवों से किया जाता है; उसी के नीचे विराज कर भगवान् धर्मदेशना [५] का प्रदान करते हैं।

२—सुर पुष्पवृष्टि—जहां भगवान् समवसरण करते हैं वहां समवसृत (६) भूमि के चारों ओर एक योजन तक (७) देवजन घुटनों के बराबर श्वेत, रक्त, पीत, नील और श्याम वर्ण के, जल और स्थल में उत्पन्न हुए, विकस्वर (८), सरस (९) और सुगन्धित सचित्त पुष्पोंको लेकर ऊर्ध्वमुख (१०) तथा निम्न बींटकर वृष्टि करते हैं।

३—दिव्यध्वनि—जिस समय भगवान् अत्यन्त मधुर स्वर से सरस (११), अमृतसमान, सकल लोक को आनन्द देने वाली वाणी से धर्म देशना (१२) करते हैं उस समय देवगण भगवान् के स्वर को अपनी दिव्यध्वनि के द्वारा अखण्ड कर पूरित करदेते हैं, यद्यपि प्रभु की वाणी में मधुर से भी मधुर पदार्थ की अपेक्षा भी अधिक रस होता है तथापि भव्य जीवों के हित के

१—महा प्रातिहार्य ॥ २—अत्यन्त विस्तार युक्त ॥ ३—पुष्पोंके समूह पर लुभाये हुए भ्रमरों के समूह से युक्त ॥ ४—लम्बी शाखाओं वाला ५—धर्मोपदेश ॥ ६—समवसरण से युक्त ॥ ७—चार कोस तक ॥ ८—खिले हुए ॥ ९—विना सूखे ॥ १०—ऊपर को ओर मुख ॥ ११—रसीली ॥ १२—धर्मोपदेश ॥

लिये भगवान् जो देशना देते हैं वह मालकोश रागमें देते हैं और वह माल कोश राग जिस समय देशना में आलाप करता है उस समय भगवान्के दोनों तरफ स्थित देवगण मनोहर वेणु (१) और वीणा (२) आदि शब्द के द्वारा उस वाणी को अधिक मनोहर कर देते हैं।

४–चामर–तन्तुसमूह से युक्त कदली स्तम्भ (३) के समान जिन के सुवर्णनिर्मित (४) दण्ड में रत्नों की किरणें प्रदीप्त हो रही हैं और उनसे इन्द्रधनुष के समान आभा (५) का विस्तार (६) होता है; इस प्रकार के श्वेत चामरों से देवगण समवसरण में भगवान् का वीजन करते हैं।

५–आसन–अनेक रत्नों से विराजमान (७), सुवर्णमय (८), मेरु शिखर के समान ऊंचा, कर्मरूप शत्रु समूह को भय दिखलाने वाले साक्षात् सिंह के समान, सुवर्णमय सिंहासन को देवजन बनाते हैं, उस पर विराज कर भगवान् देशना (९) देते हैं।

६–भामण्डल–भगवान् के मस्तक के पृष्ठ भाग में शरद् ऋतु के सूर्य की किरणों के समान अत्यन्त प्रदीप्त (१०) कान्तिमण्डल (११) देवकृत (१२) रहता है। यदि यह [कान्तिमण्डल] न हो तो भगवान् के मुख के सामने देखा भी न जा सके।

७–दुन्दुभि–अपने झाङ्कार शब्द से विश्वरूप विवर (१२) को पूर्ण करने वाली भेरी यह शब्द करती है कि–"हे मनुष्यो! तुम प्रमाद को छोड़ कर जिनेश्वर का सेवन करो, ये जिनेश्वर मुक्तिरूप नगरी में पहुंचाने के लिये सार्थवाह (१३) के समान हैं"।

८–छत्र–भगवान्के त्रिभुवन परमेश्वरत्व (१४) को सूचित करने वाले शरत्काल के चन्द्र तथा मुचुकुन्द के समान उज्ज्वल मोतियों की मालाओं से विराजमान, तीन छत्र भगवान् के मस्तक पर छाया करते हैं।

ये आठ प्रातिहार्यरूप आठ गुण भगवान् के कहे गये, अब मूलातिश-

१–बांसुरी ॥ २–सितार ॥ ३–केले का थम्भा ॥ ४–सुवर्ण से बने हुए ॥ ५–कान्ति, छवि ॥ ६–फैलाव ॥ ७–शोभित। ८–सुवर्णका बना हुआ ॥ ९–धर्मोपदेश ॥ १०–दीप्ति से युक्त ॥ ११–प्रकाशमण्डल ॥ १२–देवों का बनाया हुआ ॥ १३–छिद्र ॥ १४–जनसमूह को आश्रय दान पूर्वक साथ में लेकर अभीष्ट स्थान में पहुंचाने वाला ॥ १५–तीनों लोकों के परमेश्वर होने।

यरूप चार गुण और हैं, जिन के नाम ये हैं–अपायापगमातिशय (१), ज्ञानातिशय (२), पूजातिशय (३), और वचनातिशय (४), इन का संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है—

१–अपायापगमातिशय–इसके दो भेद हैं स्वाश्रय (५) और पराश्रय [६] इनमें से स्वाश्रय अपायापगमातिशयके दो भेद हैं, द्रव्यविषयक अपायापगमातिशय तथा भाव विषयक अपायापगमातिशय, उनमें से द्रव्यसे जो अपायों (उपद्रवों) का अतिशय (अत्यन्त) अपगम (नाश) होना है उसको द्रव्य विषयक अपायापगमातिशय कहते हैं तथा भाव से अन्तराय आदि अठारह (७) अपायों का जो अत्यन्त अपगम (८) होना है उसको भावविषयक अपायापगमातिशय कहते हैं।

पराश्रय अपायापगमातिशय वह कहलाता है कि जहां भगवान् विहार करते हैं वहां चारों ओर सवासौ योजन तक प्रायः रोग, वैर, उपद्रव, महामारी, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, दुर्भिक्ष, स्वसैन्यभय (९) तथा परसैन्यभय (१०) नहीं होते हैं।

२–ज्ञानातिशय–भगवान् केवल ज्ञान के द्वारा सब प्रकार से लोकालोक (११) के स्वरूप को जानते हैं तथा देखते हैं, तात्पर्य यह है कि–किसी प्रकार से कोई वस्तु भगवान् से अज्ञात नहीं रहती है, इस लिये भगवान् में ज्ञानातिशय गुण माना जाता है।

३-पूजातिशय–राजा, बलदेव, वासुदेव, चक्रवर्ती, भवनपति देव, व्यन्तर देव, ज्योतिष्क देव तथा वैमानिक देव आदि जगत्त्रय वासी (१२) भव्य जीव भगवान् की पूजा करनेकी अभिलाषा करते हैं. तात्पर्य यह है कि–भगवान् सर्व पूज्य हैं; अतः उनमें पूजातिशय गुण माना जाता है।

१–हानिकारक पदार्थों के नाश की अधिकता ॥ २–ज्ञान की अधिकता ॥ ३–पूजा की अधिकता ॥ ४–वचन की अधिकता ॥ ५–स्वाधीन ॥ ६–पराधीन ॥ ७–दानान्तराय, लाभान्तराय, वीर्यान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय, हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा, काम, मिथ्यात्व, अज्ञान, निद्रा, अविरति, राग और द्वेष, ये अठारह अपाय हैं ॥ ८–नाश ॥ ९–अपनी सेना से भय ॥ १०–दूसरे की सेनासे भय ॥ ११–लोक और अलोक ॥ १२–तीनों जगत् में निवास करने वाले ॥

४– वचनातिशय–भगवान् की वाणी संस्कारवत्त्व आदि गुणों से युक्त होती है (१); इस लिये मनुष्य, तिर्यक् और देव उसके अनुयायी होते हैं (२); अर्थात् वे इस प्रकार से संस्कार को प्राप्त हो जाते हैं कि सब ही भव्य जीव अपनी २ भाषा के अनुसार उसके अर्थ को समझ जाते हैं।

उक्त आठ प्रातिहार्य तथा चार मूलातिशय मिलाकर अरिहन्त के बारह गुण माने जाते हैं।

(प्रश्न)–सिद्ध के आठ गुण कौन से हैं ?

(उत्तर) ज्ञान, दर्शन, अव्याबाध, सम्यक्त्व, अक्षय स्थिति, अरूपित्व, अगुरुलघुत्व, तथा वीर्य, ये आठ गुण सिद्ध के हैं।

(प्रश्न)–कृपया इनका पृथक् २ वर्णन कीजिये ?

(उत्तर)–इनका संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार हैः–

१– ज्ञान–ज्ञानावरणीय कर्म (३) के क्षय हो जाने के कारण ज्ञान की उत्पत्ति होने से उसके प्रभाव से सिद्ध लोकालोक के स्वरूप को अच्छे प्रकार से जानते हैं।

२– दर्शन–दर्शनावरणीय कर्म (४) का क्षय होने से केवल दर्शन की उत्पत्ति होने के कारण उसके योग से लोकालोक के स्वरूप को सिद्ध अच्छे प्रकार से देखते हैं ?

३–अव्याबाध–सिद्ध सब प्रकार की बाधा (पीड़ा) से रहित होते हैं; अर्थात् वेदनीय कर्म (५) का क्षय हो जाने से उनको निरुपाधिक [६] अनन्त सुख की प्राप्ति होती है, उस सुख की किसी (राजसुख आदि) सुख से तुलना नहीं की जा सकती है तथा उक्त सुख अनिर्वचनीय (७) होता है।

१– वाणी में संस्कारवत्त्व आदि पैंतीस गुण होते हैं ॥ २–श्री हेमचन्द्राचार्य जी ने अभिधान चिन्तामणि में कहा है कि "वाणी नृतिर्यक् सुरलोकभाषा, संवादिनी योजनगामिनी च ॥ अर्थात् भगवान् की वाणी योजन तक पहुंचती है तथा मनुष्य तिर्यक् और देवलोक के सब प्राणी उसे अपनी २ भाषा समझते हैं ॥ ३-ज्ञानावरणीय कर्म के पांच भेद हैं –मतिज्ञानावरणीय, श्रुतज्ञानावरणीय, अवधिज्ञानावरणीय, मनःपर्यायज्ञानावरणीय और केवल ज्ञानावरणीय ॥ ४–दर्शनावरणीय कर्म के नौ भेद हैं, उनका वर्णन अन्य ग्रन्थों में देख लेना चाहिये ॥ ५–वेदनीय कर्म दो प्रकार का है–शातवेदनीय तथा अशात वेदनीय ॥ ६–उपाधि रहित ॥ ७–न कहने योग्य; अवर्णनीय ॥

४-सम्यक्त्व-मोहनीय कर्म (१) के क्षय हो जाने के कारण सिद्धों की क्षायिक (२) सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है ।

५-अक्षय स्थिति-आयुः कर्म (३) का क्षय होने से सिद्धों की सिद्ध धाम में अक्षय स्थिति होती है [४] ।

६-अरूपित्व-सिद्ध रूप से रहित होते हैं, तात्पर्य यह है कि नाम-कर्म (५) का क्षय हो जाने से रूपादि (६) का तादात्म्य सम्बन्ध (७) सिद्धों में नहीं रहता है ।

७-अगुरु लघुत्व-गोत्र कर्म का क्षय हो जाने से सिद्ध न तो गुरु होते हैं और न लघु होते हैं; अर्थात् उनका उच्च और नीच गोत्र नहीं होता है ।

८-वीर्य-अन्तरायकर्म (८) का क्षय होने से वीर्यान्तराय (९) के क्षय के कारण सिद्धको स्वाभाविक ही आत्मा का अनन्त बल हो जाता है ।

(प्रश्न)--आचार्यके ३६ गुण कौन से हैं ?

(उत्तर)-इस विषय में आचार्यों ने कहा है कि-पंचिंदिय संवरणो, तह नवविह बंभचेर गुत्ति धरो ॥ चउविह कसायमुक्को, इय अट्ठारस गुणेहिं संजुत्तो ॥१॥ पंचमहव्वय जुत्तो, पंचविहायार पालण समत्थो ॥ पंचसमिओ-तिगुत्तो, छत्तीसगुणों गुरू मज्झ ॥ २ ॥ अर्थात् मेरा गुरु (आचार्य) पांचों इन्द्रियों के संवरण (१०) से युक्त, सब प्रकार के ब्रह्मचर्यकी गुप्ति (११) को धारण करने वाला तथा चार प्रकारके कषाय से मुक्त (१२) इस प्रकार अठा रह गुणों से युक्त, पांच महा व्रतों से युक्त, पांच प्रकार के आचार के पालन करने में समर्थ, पांच समितियों से युक्त तथा तीन गुप्तियों वाला, इस प्रकार से छत्तीस गुणों से युक्त है ॥१॥ २ ॥ तात्पर्य यह है कि ऊपर कहे हुए छत्तीस

१-"मोहयति विवेकविकलं करोति प्राणितमिति मोहः" (मोहनीयम्) इस (मोहनीय कर्म) के अट्ठाईस भेद हैं; सो दूसरे ग्रन्थों से जान लेने चाहिये ॥ २-क्षायिकभाव से उत्पन्न ॥ ३-आयुःकर्मके-देवायु, मनुष्यायु, तिर्यञ्चायु तथा नरकायु, ये चार भेद हैं ।। ४-सादि अनन्त स्थिति होने से अक्षयस्थिति कहलाती है ॥ ५- नामकर्म के १०३ भेद ग्रंथान्तरों में प्रसिद्ध हैं ॥ ६-आदि पद से रस, गन्ध वर्ण, और स्पर्श को जानना चाहिये ॥ ७-तत्स्वरूपत्व सम्बन्ध ॥ ८-अन्तराय कर्म के पांच भेद हैं ॥ ९-वीर्य (बल) में बाधा डालने वाला कर्म ॥ १०-निग्रह, विषयोंसे रोकना ॥ ११-रक्षा ॥ १२-छूटा हुआ रहित ॥

गुण [१] आचार्य के हैं ।

(प्रश्न)-कृपा कर के उक्त छत्तीस गुणों का अलग २ वर्णन कीजिये ?

(उत्तर)—उक्त छत्तीस गुणों का विषय बहुत विस्तृत (२) है तथा अन्य ग्रन्थों में उनका विस्तार पूर्वक (३) अच्छे प्रकार से वर्णन भी किया गया है अतः यहां पर ग्रन्थ विस्तार (४)के भय से उनका वर्णन अति संक्षेप से किया जाता है, देखोः—

१-स्पर्शेन्द्रिय (५)के विषय स्पर्श के अनुकूल होने से प्रीतिकारी (६) होने पर उस में राग का न करना तथा प्रतिकूल (७) होने से अप्रीतिकारी (८) होने पर उसमें द्वेष न करना ।

२-घ्राणेन्द्रिय (९) के विषय गन्धके अनुकूल और प्रतिकूल होनेसे प्रीतिकारी (१०) और अप्रीतिकारी होने पर उसमें राग और द्वेषका न करना ।

३-जिह्वेन्द्रिय (११) के विषय रसके अनुकूल और प्रतिकूल होनेसे प्रीतिकारी और अप्रीतिकारी होने पर उसमें राग और द्वेष का न करना ।

४-नेत्रेन्द्रिय (१२) के विषय रूपके अनुकूल और प्रतिकूल होने से प्रीतिकारी और अप्रीतिकारी होने पर उसमें राग द्वेष का न करना ।

५-श्रोत्रेन्द्रिय (१३) के विषय शब्द के अनुकूल और प्रतिकूल होने से प्रीतिकारी और अप्रीतिकारी होने पर उसमें राग और द्वेष का न करना ।

६-गो (१४) आदि पशु नपुंसक तथा स्त्री से भिन्न अन्य स्थान में काम चेष्टा का न करना ।

७-रागपूर्वक (१५) तथा प्रीतिके सहित स्त्री सम्बन्धिनी (१६) कथा वार्त्ताका न करना ।

८-जिस आसन पर स्त्री बैठी हो उस स्थान पर दो घड़ी पर्यन्त ब्रह्मचारी पुरुष को नहीं बैठना चाहिये, (इसी प्रकार से स्त्रीके विषय में जान लेना चाहिये) ।

१-इनका संक्षिप्त वर्णन आगे किया जावेगा ॥ २-विस्तार वाला ॥ ३-विस्तार के साथ ॥ ४-ग्रन्थके बढ़ जाने ॥ ५-स्पर्श करनेवाली इन्द्रिय अर्थात् त्वगिन्द्रिय ॥ ६-प्रीति को उत्पन्न करने वाले ॥ ७-विरुद्ध ॥ ८-अप्रीति अर्थात् द्वेष को उत्पन्न करने वाले ॥ ९-नासिका ॥ १०-पूर्व अर्थ लिखा जाचुका है ॥ ११-जीभ ॥ १२-चक्षु आंख ॥ १३-कान ॥ १४-अब यहां से नव ब्रह्मचर्य गुप्तियों का कथन किया जाता है । १५-राग के साथ ॥ १६-स्त्री के विषय में ॥

९–राग पूर्वक स्त्री के अङ्ग और उपाङ्गों को न देखना ।

१०–भीत (१) आदि की आड़ में हुये अथवा काम विषयक [२] बातों को करते हुए स्त्री पुरुषों के समीप में न बैठना ।

११–पूर्वावस्था (३) में स्त्री के साथ की हुई काम क्रीड़ा का स्मरण न करना ।

१२–कामोद्दीपक (४) सरस (५) तथा स्निग्ध (६) आहार का ग्रहण न करना ।

१३–नीरस (७) आहारका भी मात्रा (८) से अधिक ग्रहण न करना (९)

१४–शरीर का मण्डन (१०) आदि न करना ।

१५–क्रोध (११) चरित्रका नाशक(१२) परिणाम विशेष है; उसका सर्वथा त्याग करना ।

१६–मान(१३) चरित्रका नाशक परिणाम विशेष है; उसका सर्वथा त्याग करना ।

१७–माया [१४] चारित्रका नाशक परिणाम विशेष है उसका सर्वथा त्याग करना ।

१८–लोभ भी चरित्रका नाशक परिणाम विशेष है उसका सर्वथा त्याग करना ।

१९–मन (१५) वचन और कर्मके द्वारा छः काय (१६) के जीवोंके प्राणा-तिपात (१७) से निवृत्त होना ।

२०–क्रोध, लोभ, भय तथा हास्यादि कारण से–द्रव्य, क्षेत्र काल और भाव के द्वारा मन वचन और काय से कदापि मृषावाद (१८)का न करना ।

१–दीवार ॥ २–काम के विषय में ॥ ३–पहिली अवस्था ॥ ४–काम का उद्दीपन करने वाले ॥ ५–रसों से युक्त ॥ ६–चिकने ॥ ७–रसों से रहित ॥ ८–परिमाण ॥ ९–क्योंकि मात्रा से अधिक नीरस आहार भी काम चेष्टा को बढ़ाता है ॥ १०–भूषण, सजावट ॥ ११–अब यहां से आगे चार कषायों का त्याग कहा जाता है ॥ १२–नाश करने वाला ॥ १३–अभिमान ॥ १४–छल कपट ॥ १५–अब यहां से आगे पांच महाव्रतों का पालन कहा जाता है ॥ १६–पृथिवी आदि छः काय ॥ १७–प्राणविनाश ॥ १८–असत्य भाषण ॥

२१—अदत्तादान (१) से सर्वथा निवृत्त रहना ।

२२—सब प्रकार के मैथुन से विरति (२) करे ।

२३—सब प्रकार के परिग्रह (३) से विरमण (४) करे ।

२४—(५) ज्ञानाचार (६) के पालन करने और कराने में सर्वदा उद्यत रहना ।

२५—सम्यक्त्व (७) के पालन करने और कराने में सर्वदा उद्यत रहना ।

२६—चारित्राचार (८) के पालन करने और करानेमें सर्वदा उद्यत रहना ।

२७—तप आचार (९) के पालन करने और करानेमें सर्वदा उद्यत रहना

२८—धर्मानुष्ठानमें यथाशक्ति पौरुष को व्यवहार में लाना (१०) ।

२९—ईर्यासमिति (११) अर्थात् साढ़े तीन हाथ दृष्टि देकर उपयोग पूर्वक (१२) गमन करना ।

३०—भाषा समिति—अर्थात् उपयोग पूर्वक भाषण करना ।

३१—एषणासमिति अर्थात्—बयालीस दोषरहित आहारका ग्रहण करना

३२—आदाननिक्षेपसमिति—अर्थात् संयम धर्म (१३) के पालन करने में उपयुक्त वस्तुओं को देखकर तथा उनका प्रमार्जन (१४) कर ग्रहण और स्थापन करना ।

३३—परिष्ठापनिकासमिति—अर्थात् परपीड़ा रहित निर्जीव स्थलमें [८] मल मूत्रादि का उपयोग पूर्वक त्याग करना ।

३४—मनोगुप्ति [१५]—अर्थात् अशुभ प्रवृत्तिसे मनको हटाना ।

३५—वचन गुप्ति—अर्थात् अशुभ प्रवृत्ति से वचन को हटाना ।

३६—कायगुप्ति—अर्थात् अशुभ प्रवृत्ति से शरीर को हटाना ।

(प्रश्न) उपाध्याय के पच्चीस गुण कौन से हैं ?

१—न दिये हुये दूसरे के पदार्थ का ग्रहण ॥ २—निवृत्ति वैराग्य ३—ग्रहण, संग्रह ॥ ४—निवृत्ति ॥ ५—अब यहां से आगे पांच प्रकार के आचार का पालन कहा जाता है ॥ ६—ज्ञान विषयक आचार ॥ ७—दर्शनाचार ॥ ८—चारित्र विषयक आचार ॥ ९—बारह प्रकार के तपोविषयक आचार ॥ १०—अर्थात् वीर्याचार का पालनकरना ॥ ११—अब यहां से आगे पांच समितियों का विषय कहा जाता है ॥ १२—उपयोग के साथ ॥ १३—संयमरूप धर्म ॥ १४—शुद्धि ॥ १५—दूसरे को पीड़ा न पहुंचे; इस प्रकार के निर्जीव स्थान में ॥ १५—अब यहां से आगे तीन गुप्तियों का विषय कहा जाता है ॥

(उत्तर) ग्यारह अंग तथा बारह उपाङ्गों का पठन पाठन करना तथा चरण (१) सत्तरी और करण (२) सत्तरीका शुद्ध रीति से पालन करना; ये उपाध्याय के पच्चीस गुण हैं।

(प्रश्न) कृपया उक्त पच्चीस गुणों का कुछ वर्णन कीजिये ?

(उत्तर) ग्यारह अङ्ग तथा बारह उपाङ्ग एवं चरण सत्तरी तथा करण सत्तरी का विषय अन्य ग्रन्थों में अच्छे प्रकार से विस्तार पूर्वक कहा गया है; अतः ग्रन्थ विस्तार के भय से यहां उसका वर्णन नहीं किया जाता है, उक्त विषय का वर्णन ग्रन्थान्तरों में देख लेना चाहिये।

(प्रश्न) साधु के सत्ताईस गुण कौन से हैं ?

(उत्तर) छः व्रत (३) षट् काय रक्षा (४) पांचों इन्द्रियों [५] तथा लोभ का निग्रह, [६] क्षमा, भावविशुद्धि [७] विशुद्धि पूर्वक [८] उपयोग के साथ बाह्य [९] उपकरणों [१०] का प्रतिलेहन, संयम के योग [११] में युक्त रहना, अविवेक का त्याग, विकथा का त्याग, निद्रा आदि [१२] प्रमादयोग का त्याग, मन; वचन और शरीर का अशुभ मार्ग से निरोध [१३] शीतादि परीषहों [१४] का सहन तथा मरणान्त उपसर्ग [१५] का भी सहन कर धर्मका त्याग न करना, ये सत्ताईस गुण साधु के हैं [१६]।

(प्रश्न) कृपया उक्त गुणों का कुछ वर्णन कीजिये ?

[उत्तर] साधु सम्बन्धी उक्त सत्ताईस गुणों का वर्णन अन्य ग्रन्थों में विस्तार पूर्वक किया गया है: अतः ग्रन्थ के विस्तार के भय से यहां उक्त विषय का वर्णन नहीं करना चाहते हैं।

१-चारित्र ॥ २-पिण्ड विशुद्धि आदि ॥ ३-रात्रिभोजन विरमण सहित पांच महाव्रत ॥ ४-पृथिवी आदि छः कायोंकी रक्षा ॥ ५-स्पर्शनेन्द्रिय आदि पांचों इन्द्रियों का ॥ ६-निरोध, रोकना ॥ ७-चित्त की निर्मलता ॥ ८-विशुद्धि के साथ ॥ ९-बाहरी ॥ १०-पात्र आदि ॥ ११-समिति और गुप्ति आदि योग ॥ १२-आदि शब्द से निद्रा २ आदि को जानना चाहिये ॥ १३-रोकना ॥ १४-शीत आदि बाईस परीषह हैं ॥ १५-उपद्रव ॥ १६-कहा भी है कि "छव्वय छक्काय रक्खा, पंचिंदिय लोह निग्गहो खन्ती ॥ भावविसोही पडिले, हणाय करणे विसुद्धीय ॥१॥ संजम जोए जुत्तो, अकुसल मण वयणकाय संरोहो ॥ सीयाइ पीड सहणं, मरणं उवसग्गसहणंच" ॥२॥

(प्रश्न)—इस नवकार मन्त्र में पञ्च परमेष्ठियों को नमस्कार कहा गया है सो नमस्कार के अनेक भेद सुनने में आये हैं तथा उनमें उत्तमता (१) मध्यमता (२) और अधमता (३) भी मानी गई है; अतः उन नमस्कार के भेदों तथा उनकी उत्तमता आदि के विषय में सुनने की अभिलाषा है।

(उत्तर)–यदि उक्त विषय में सुनने की अभिलाषा है तो सुनियेः—

(क) "नमः" अर्थात् नमन का "कार" अर्थात् करण (क्रिया) जिसमें होती है उसको नमस्कार कहते हैं।

(ख) नमस्कार तीन प्रकार का है–कायिक (४), वाचिक (५) और मानसिक (६) जैसा कि कहा भी है किः—

कायिको वाग्भवश्चैव, मानसस्त्रिविधो मतः ॥
नमस्कारस्तु तत्त्वज्ञैरुत्तमाधममध्यमः ॥

अर्थात् तत्त्वज्ञ जनोंने तीन प्रकार का नमस्कार माना है–कायिक, वाचिक और मानसिक, फिर उसके तीन भेद हैं, उत्तम, मध्यम और अधम ॥१॥

(ग) ऊपर लिखे अनुसार कायिक आदि नमस्कार के तीन भेद हैंः–

प्रसार्य पादौ हस्तौच, पतित्वा दण्डवत् क्षितौ ॥
जानुभ्यां धरणीं गत्वा, शिरसा स्पृश्य (७) मेदिनीम् ॥
क्रियते यो नमस्कार, उत्तमः कायिकस्तु सः ॥ १ ॥
जानुभ्यांक्षितिं स्पृष्ट्वा, शिरसा स्पृश्य मेदिनीम् ॥
क्रियते यो नमस्कारो, मध्यमः कायिकस्तु सः ॥ २ ॥
पुटीकृत्य करौ शीर्षे, दीयते यद्यथा तथा ॥
अस्पृष्ट्वा जानु शीर्षाभ्यां, क्षितिं सोऽधम उच्यते ॥ ३ ॥
या स्वयं गद्यपद्याभ्यां, घटिताभ्यां नमस्कृतिः ॥
क्रियते भक्तियुक्तैर्वा वाचिकस्तूत्तमः स्मृतः ॥ ४ ॥
पौराणिकैर्वैदिकैर्वा, मन्त्रैर्या क्रियते नतिः ।
मध्यमोऽसौ नमस्कारो, भवेद्वै वाचिकः सदा ॥ ५ ॥
यत्तु मानुषवाक्येन, नमनं क्रियते सदा ॥

१–श्रेष्ठता ॥ २–मध्यमपन ॥ ३—निकृष्टता ॥ ४–शरीरसम्बन्धी ॥ ५—वचनसम्बन्धी ॥ ६—मनःसम्बन्धी ॥ ७–यह चिन्तनीय पद है ॥

स वाचिकोऽधमो ज्ञेयो, नमस्कारेषु पुत्रकौ [१] ॥ ६ ॥
इष्टमध्यानिष्टगतै, र्मनोभिस्त्रिविधं पुनः ॥
नमनं मानसम्प्रोक्त-मुत्तमाधममध्यमम् ॥ ७ ॥
त्रिविधे च नमस्कारे, कायिकश्चोत्तमः स्मृतः ॥
कायिकैस्तु नमस्कारै, र्देवास्तुष्यन्ति नित्यशः ॥ ८ ॥
अयमेव नमस्कारो, दण्डादिप्रतिपत्तिभिः ॥
प्रणाम इति विज्ञेयः, स पूर्वम्प्रतिपादितः ॥ ९ ॥

(इति कालिका पुराणे ७० अध्याये)

अर्थ—हाथ और पैरों को पसार कर तथा पृथ्वी पर दण्ड के समान गिरकर और जानुओं (२) से धरणी (३) को प्राप्त कर एवं शिर से पृथ्वी का स्पर्शकर जो नमस्कार किया जाता है वह कायिक नमस्कार उत्तम है ॥१॥

जानुओं से पृथ्वी का स्पर्श कर तथा शिर से भी पृथ्वी का स्पर्श कर जो नमस्कार किया जाता है वह कायिक नमस्कार मध्यम है ॥ २ ॥

जानु और शिर से पृथ्वी का स्पर्श न कर किन्तु दोनों हाथों को सम्पुट रूप (४) में करके जो यथायोग्य नमस्कार किया जाता है वह कायिक नमस्कार अधम है ॥ ३ ॥

भक्ति पूर्वक (५) अपने बनाये हुए गद्य वा पद्यसे जो नमस्कार किया जाता है वह वाचिक नमस्कार उत्तम माना गया है ॥ ४ ॥

पौराणिक वाक्यों अथवा वैदिक मन्त्रों से जो नमस्कार किया जाता है वह वाचिक नमस्कार मध्यम है ॥ ५ ॥

मनुष्य के वाक्यके द्वारा जो नमस्कार किया जाता है वह सब नमस्कारों में हे पुत्रो ! (६) वाचिक नमस्कार अधम है ॥६॥

मानस नमस्कार भी तीन प्रकार का है—इष्टगत (७); मध्यगत (८) तथा अनिष्टगत (९) मन से जो नमस्कार किया जाता है उसे क्रम से उत्तम मध्यम और अधम जानना चाहिये ॥ ७ ॥

१—सम्बोधनपदम् ॥ २—घुटनों ॥ ३—पृथिवी ॥ ४—अञ्जलिरूप ॥ ५—भक्ति के साथ ॥ ६–यह सम्बोधन पद है ॥ ७–इष्ट में स्थित ॥ ८– मध्य (उदासीनता) में स्थित ॥ ९–अनिष्ट (अप्रिय) में स्थित ॥

इन तीनों प्रकारों के नमस्कारोंमें कायिक नमस्कार को उत्तम माना गया है, क्योंकि कायिक नमस्कार से देव नित्य सन्तुष्ट होते हैं ॥ ८ ॥

दण्डादिरचना के द्वारा जो (कायिक) नमस्कार किया जाता है कि जिसका कथन पहिले करचुके हैं; इसीको प्रणाम भी जानना चाहिये ॥ ९ ॥

(यह सब कालिका पुराण के ७० अध्याय में कहा है)

[प्रश्न] उक्त वाक्यों के द्वारा नमस्कार के भेद तथा उनमें उत्तमता; मध्यमता तथा अधमता भी ज्ञात [१] हुई; परन्तु कृपया इस विषय का स्पष्टतया [२] वर्णन कीजिये कि श्री पञ्च परमेष्ठियों को उक्त नौ प्रकार के नमस्कारों में से कौन सा नमस्कार करना चाहिये, अर्थात् किस नमस्कार के द्वारा उनका ध्यान करना चाहिये?

[उत्तर] श्री पञ्च परमेष्ठि नमस्कार विषय में वाचिक नमस्कार के उत्तम मध्यम और अधम भेदों का नितान्त [३] सम्भव नहीं है, अब शेष रहे कायिक तथा मानस [४] नमस्कारके तीन २ भेद, उनमें से कायिक और मानस नमस्कारके उत्तम भेद का ही प्रयोग करना चाहिये; परन्तु यह स्मरण रहे कि कायिक और मानस नमस्कार के उत्तम भेद का प्रयोग भी द्रव्य और भाव के संकोच (५) के साथ में होना चाहिये–अर्थात् कर, शिर और चरण आदि की ग्रहण (६); कम्पन (७) और चलन (८) आदि रूप काय द्रव्य चेष्टा के निग्रह (९) के द्वारा तथा मनोवृत्ति विनियोग (१०) रूप भाव सङ्कोचन के द्वारा नमस्कार क्रिया में प्रवृत्ति करनी चाहिये, जैसा कि प्रथम "नमः" पद के संक्षिप्त अर्थ के वर्णन में कह चुके हैं।

(प्रश्न) सुना है कि रात्रि में नमस्कार करना वर्जित (११) है, सो क्या यह बात ठीक है?

(उत्तर) जी हां, किन्हीं लोगों की यह सम्मति है कि महाभारत में रात्रि में प्रणाम करने का निषेध किया गया है, जैसा कि यह वाक्य है कि–

रात्रौ नैव नमस्कुर्यात्तेनाशीरभिचारिका ॥
अतः प्रातः पदं दत्त्वा, प्रयोक्तव्येच ते उभे ॥ १ ॥

१–मालूम ॥ २–स्पष्टरीतिसे ॥ ३–निरन्तर, अत्यन्त ॥ ४–मनः सम्बन्धी ॥ ५–संक्षेप ॥ ६–लेना ॥ ७–हिलना ॥ ८–चलना ॥ ९–निरोध ॥ १०–व्यवहार, उपयोग, प्रवृत्ति ॥ ११–निषिद्ध ॥

अर्थात्—रात्रि में नमस्कार नहीं करना चाहिये, क्योंकि रात्रिमें नमस्कार करनेसे आशीर्वाद सफल नहीं होता है, इसलिये प्रातःकाल यथोचित (१) पदों का प्रयोग (२) कर नमस्कार और आशीर्वाद का प्रयोग करना चाहिये ॥ १ ॥

परन्तु हमारी सम्मति तो यह है कि यह जो रात्रिमें नमस्कार करने का निषेध किया गया है वह मानव (३) सम्बन्ध में सम्भव है कि जहां नमस्कार और आशीर्वाद का प्रयोग होता है किन्तु देव प्रणाम में यह निषेध नहीं जानना चाहिये, देखो ! योगी लोग प्रायः रात्रिमें ही इष्टदेव में चित्त वृत्ति को स्थापित कर नमस्कार और ध्यानादि क्रिया को करते हैं जैसा कि कहा है कि:—

या निशा सर्व भूतानां, तस्यां जागर्ति संयमी ॥
यस्यां जाग्रति भूतानि, सा निशा पश्यतो मुनेः ॥१॥

अर्थात्—सब प्राणियों के लिये जो रात्रि होती है उसमें संयमी पुरुष जागता है तथा जिस वेला (४) में प्राणी जागते हैं वह वेला ज्ञानदृष्टिसे देखने वाले मुनिके लिये रात्रि होती है ॥१॥ (५)

इसका तात्पर्य यही है कि संयमी पुरुष रात्रिमें शान्त चित्त होकर जप और ध्यान आदि क्रियाको करता है, इसके अतिरिक्त (६) सहस्रों मन्त्रोंके जपने और ध्यान करनेका उल्लेख (७) रात्रि में भी है कि जिन के जप समय में देववन्दना (८) आदि कार्य किया जाता है; यदि रात्रिमें देव-नमस्कार का निषेध होता तो मन्त्रशास्त्रादि में उक्त विधिका उल्लेख क्यों किया जाता, अतः रात्रिमें देव नमस्कारका निषेध नहीं हो सकता है, किन्तु ऊपर जो नमस्कार के निषेध का वाक्य लिखा गया है वह मानव

१—यथा योग्य ॥ २—व्यवहार ॥ ३—मनुष्य ॥ ४—समय ॥ ५—इस वाक्य का तात्पर्य यह है कि रात्रि में जब सब प्राणी सो जाते हैं तब संयमी पुरुष सब प्रपञ्चों से रहित तथा शान्त चित्त होकर ध्यानादि क्रिया में प्रवृत्त होता है तथा जिस समय (दिन में) सब प्राणी जागते हैं उस समय योगी (ध्यानाभ्यासी) पुरुष रात्रिके समान एकान्त स्थानमें बैठा रहता है तथा प्रपञ्च में रत नहीं होता है ॥ ६—सिवाय ॥ ७—लेख, विधान, प्रतिपादना ॥ ८—देव नमस्कार ॥

नमस्कार के विषय में जानना चाहिये कि जिस में नमस्कार के साथ में नमस्कार्य (१) की ओर से आशीर्वाद का प्रयोग (२) किया जाता है, क्योंकि रात्रि में नमस्कार के उत्तर में जो आशीर्वाद किया जाता है उसी को उक्त वाक्य में व्यभिचारी (३) कहा गया है ।

(प्रश्न) यह भी सन्देह उत्पन्न होता है कि रात्रिमें किये हुए नमस्कार के उत्तर में नमस्कार्य की ओरसे जो आशीर्वाद दिया जाता है उस को व्यभिचारी क्यों कहा है ?

(उत्तर) इसका सामान्यतया (४) यही हेतु प्रतीत (५) होता है कि कोषों में सूर्यका नाम "कर्मसाक्षी"(६) और "जगच्चक्षु" (७) कहा है, अर्थात् सूर्यको लोकवर्ती (८) प्राणियों के कर्मका साक्षी और जगत् का नेत्र माना है. उस सूर्य के रात्रि समयमें अस्तङ्गत (९) होनेसे कर्मसाक्षित्व (१०) के न होनेके कारण नमस्कार का निषेध किया गया है और तदुत्तर (११) में दिये हुए आशीर्वाद को निष्फल कहा गया है, इसके अतिरिक्त अन्य कोई हेतु समझ में नहीं आता है ।

(प्रश्न) नमस्कार का शब्दार्थ (१२) क्या है ?

(उत्तर) नमस्कार शब्दका अर्थ संक्षेप से पहिले कह चुके हैं कि "नमः" अर्थात् नमन का कार (क्रिया) जिस में होता है उस को नमस्कार कहते हैं तात्पर्य यह है कि नमन क्रिया का नाम नमस्कार है और उसमें चेष्टा विशेषके द्वारा नमस्कार्य (१३)के सम्मुख (१४) अपनी हीनता (१५) अर्थात् दीनावस्था (१६) प्रगट की जाती है, जैसा कि पण्डित दुर्गादास जीने मुग्धबोध की टीकामें लिखा है कि:—

"नमस्कारो नति करण मुच्यते, तत्तु करशिरः संयोगादिस्वापकर्षबोधकव्यापार विशेषः"

अर्थात् नम्रता करने को नमस्कार कहते हैं और वह हाथ और शिरके

१-नमस्कार करने योग्य ॥ २-व्यवहार ॥ ३-व्यभिचार युक्त, अनियमित ॥ ४-सामान्य रीतिसे ॥ ५-ज्ञात, मालूम ॥ ६-कार्य का साक्षी ॥ ७-संसार का नेत्र ॥ ८-संसार के ॥ ९-छिपा हुआ, अस्त को प्राप्त ॥ १०-कार्य का साक्षी बनना ॥ ११-नमस्कार के उत्तर में ॥ १२-शब्द का अर्थ ॥ १३-नमस्कार करने योग्य ॥ १४-सामने ॥ १५-न्यूनता ॥ १६-दीनदशा ॥

संयोगादिके द्वारा अपनी हीनताको प्रगट करनेवाला व्यापार विशेष (१) है।

(प्रश्न)—यह भी सुना है कि नमस्कार से पूर्व देव का उपस्थापन (२) कर नमस्कार करना चाहिये, क्या यह सत्य है ?

(उत्तर) हां ऐसा तो अवश्य ही करना चाहिये, क्योंकि नतिकरण (३) अभिमुख (४) वा समीपवर्ती (५) के सम्बन्ध में हो सकता है, किन्तु दूरवर्त्ती (६) के सम्बन्ध में नहीं हो सकता है। कहा भी है कि:—

दूरस्थं जल मध्यस्थं, धावन्तं मदगर्वितम् ॥
क्रोधवन्तं विजानीयात्, नमस्कार्यञ्चवर्जयेत् ॥१॥

अर्थात् यदि (नमस्कार्य को) दूर स्थित, जलमध्यस्थ दौड़ता हुआ, मदसे गर्वित (७) तथा क्रोधयुक्त (८) जाने तो नमस्कार न करे।

अतः उपस्थापनके द्वारा सामीप्यकरण (९) कर आराध्य (१०) देवको नमस्कार करना चाहिये।

(प्रश्न) एकवार हमने सुना था कि फूल को हाथमें लिये हुए नमस्कार नहीं करना चाहिये; क्या यह बात सत्य है ?

(उत्तर) हां यह बात ठीक है कि पुष्पोंको हाथमें लिये हुए नमस्कार नहीं करना चाहिये, देखो ? कर्मलोचन ग्रन्थमें कहा है कि:-

पुष्पहस्तो वारिहस्तः, तैलाभ्यङ्गो जलस्थितः ॥
आशीःकर्ता नमस्कर्ता, उभयोर्नरकम्भवेत् ॥१॥

अर्थात् फूल को हाथमें लिये हुए, जल को हाथमें लिये हुए, तैल का मर्दन (११) किये हुए तथा जलमें स्थित जो पुरुष आशीर्वाद देता है तथा जो नमस्कार करता है; उन दोनों को नरक होता है ॥१॥

इस का कारण यह समझ में आता है कि नमस्कार्य [१२] के सम्बन्धमें अपनी नम्रता [१३] दिखलाने का नाम नमस्कार है तथा हाथमें स्थित जो पुष्प रूप पदार्थ है वह नमस्कार्यको अर्पण (१४) करने योग्य है किन्तु अपनी

१-चेष्टा विशेष ॥ २-समीप में स्थापन ॥ ३-नमस्कार ॥ ४-सामने ॥ ५-पासमें स्थित ॥ ६-दूर स्थित ॥ ७-गर्व (अभिमान युक्त ॥ ८-क्रुद्ध ॥ ९-समीपमें करना ॥ १०-आराधन करने योग्य ॥ ११-मालिस ॥ १२-नमस्कार करने योग्य ॥ १३-विनति ॥ १४-दान ॥

हीनता (१) के दिखानेवाले नमस्कार कर्ता (२) के पास रहने योग्य नहीं है, अतः उसे अर्पण किये बिना नमस्कार करने का निषेध किया गया है, किन्तु पहिले कह चुके हैं कि "नमः" यह नैपातिक पद द्रव्य और भावके सङ्कोचन को प्रकट करता है, अतः कर, (३) शिर और चरण आदि की ग्रहण, कम्पन और चलन आदि रूप चेष्टा के निग्रह (४) के द्वारा द्रव्यसङ्कोच पूर्वक (५) नमस्कार करना उचित है, पुष्प को हाथमें रक्खे हुए पुरुष का द्रव्य सङ्कोच सम्भव नहीं है, अर्थात् पुष्प को हाथमें लिये हुए पुरुष का द्रव्य सङ्कोच पूर्वक नमस्कार असम्भव है अतः पुष्प को हाथमें लिये हुए नमस्कार करना उचित नहीं है, उक्त श्लोक में शेष जो विषय बतलाये गये हैं उनके विषयमें अपनी बुद्धि से विचार कर लेना चाहिये ॥

(प्रश्न) आपने पण्डित दुर्गादासजीके कथनके अनुसार अभी यह कहा था कि "कर और शिर के संयोग आदि व्यापार विशेष (६) के द्वारा नम्रता करने का नाम नमस्कार है" अब कृपा कर विविध (७) ग्रन्थोंके प्रमाण से यह बतलाइये कि कर और शिर का संयोगादि रूप व्यापार विशेष कौन २ सा है और वह किस प्रकार किया जाता है ?

(उत्तर) विविध ग्रन्थोंके मतसे कर और शिरके संयोगादि व्यापार विशेष के द्वारा नति करण (८) सात प्रकार का माना गया है, अर्थात् नमन क्रिया (९) सात प्रकारकी है, इसके विषयमें यह कहा गया है कि:—

त्रिकोणमथ षट्कोण, मर्धचन्द्रं प्रदक्षिणम् ॥
दण्डमष्टाङ्गमुग्रञ्च, सप्तधा नतिलक्षणम् ॥१॥
ऐशानी वाथ कौबेरी, दिक् कामाख्या प्रपूजने ॥
प्रशस्ता स्थण्डिलादौ च, सर्वमूर्तेस्तु सर्वतः ॥२॥
त्रिकोणादिव्यवस्थाञ्च, यदि पूर्वमुखो यजेत् ॥
पश्चिमात् [५] शाम्भवीं गत्वा, व्यवस्थां निर्दिशेत्तदा ॥३॥

१–दीनता, न्यूनता ॥ २–नमस्कार करनेवाला ॥ ३–हाथ ॥ ४–निरोध ५–द्रव्य संकोचनके साथ ॥ ६–चेष्टा विशेष ॥ ७–अनेक ॥ ८–नमस्कार ॥ ९–नमस्कार ॥ १०–भागशब्दमध्याहार्यं पुंस्त्वं ज्ञेयम्, पश्चिमभागादित्यर्थः, एवमग्रेऽपि ज्ञेयम् ॥

यदोत्तरा मुखः कुर्यात्, साधको देवपूजनम् ॥
तदा याम्यान्तु वायव्यां, गत्वा कुर्यात्तु संस्थितिम् ॥४॥
दक्षिणाद्वायवीं गत्वा, दिशं तस्माच्च शाम्भवीम् ॥
ततोऽपि दक्षिणं गत्वा, नमस्कारस्त्रिकोणवत् ॥५॥
त्रिकोणो यो नमस्कारः, त्रिपुराप्रीतिदायकः ॥६॥
दक्षिणाद्वायवीं गत्वा, वायव्यात् शाम्भवीं ततः ॥
ततोऽपि दक्षिणं गत्वा, तां त्यक्त्वाग्नौ प्रविश्य च ॥७॥
अग्नितो राक्षसीं गत्वा, ततश्चाप्युत्तरांदिशम् ॥
उत्तराच्च तथाऽऽग्नेयीं, भ्रमणं द्वित्रिकोणवत् ॥८॥
षट्कोणो यो नमस्कारः, प्रीतिदः शिवदुर्गयोः ॥९॥
दक्षिणाद्वायवींगत्वा, तस्माद्व्यावृत्यदक्षिणम् ॥
गत्वायोऽसौनमस्कारः, सोऽर्धचन्द्रः प्रकीर्त्तितः ॥ १० ॥
सकृत्प्रदक्षिणं कृत्वा, वर्त्तुलाकृतिसाधकः (१) ॥
नमस्कारः कथ्यतेऽसौ, प्रदक्षिणइतिद्विजैः ॥ ११ ॥
त्यक्त्वा स्वमासनस्थानं, पश्चाद्गत्वा नमस्कृतिः ॥
प्रदक्षिणं विना यातु, निपत्य भुवि दण्डवत् ॥ १२ ॥
दण्डइत्युच्यते देवैः, सर्वदेवौघमोददः ॥ १३ ॥
पूर्ववद् दण्डवद्भूमौ, निपत्य हृदयेन तु ॥
चिबुकेन मुखेनाथ, नासया त्वलिकेन च ॥ १४ ॥
ब्रह्मरन्ध्रेण कर्णाभ्यां, यद्भूमिस्पर्शनं क्रमात् ॥
तदष्टाङ्ग इतिप्रोक्तो, नमस्कारो मनीषिभिः ॥ १५ ॥
प्रदक्षिणत्रयं कृत्वा, साधको वर्त्तुलाकृतिः (२) ॥
ब्रह्मरन्ध्रेण (३) संस्पर्शः, क्षितेर्यः स्यान्नमस्कृतौ ॥ १६ ॥
सउग्रइतिदेवौघै, रुच्यते विष्णुतुष्टिदः ॥ १७ ॥

१-"तिष्ठेत्" इत्यध्याहार्यम् ॥ २-"तिष्ठेत्" इति शेषः ॥ ३-"तस्य" इति शेषः ॥

नदीनां सागरो यादृग्, द्विपदां ब्राह्मणो यथा ॥
नदीनां जाह्नवी यादृग्, देवानामिव चक्रधृक् ॥ १८ ॥
नमस्कारेषु सर्वेषु, तथैवोग्रः प्रशस्यते ॥ १९ ॥
त्रिकोणाद्यैर्नमस्कारैः, कृतैरेवतु भक्तितः ॥
चतुर्वर्गं लभेद् (१) भक्तो, न चिरादेव साधकः ॥ २० ॥
नमस्कारो महायज्ञः, प्रीतिदः सर्वतः सदा ॥
सर्वेषामपि देवाना, मन्येषामपि भैरव [२] ॥ २१ ॥
योऽसावुग्रो नमस्कारः, प्रीतिदः सततं हरेः ॥
महामायाप्रीतिकरः, सनमस्करणोत्तमः ॥ २२ ॥

(इति सर्वं कालीपुराणे प्रतिपादितम् (३))

अर्थ—त्रिकोण, षट्कोण, अर्धचन्द्र, प्रदक्षिण, दण्ड, अष्टाङ्ग, और उग्र, ये सात नमस्कार के भेद हैं ॥ १ ॥

कामाख्या के पूजन में ऐशानी (४) तथा कौवेरी (५) दिशा उत्तम मानी गई है, सर्वमूर्ति के पूजन में स्थण्डिलादि (६) पर सब ही दिशायें प्रशस्त (७) मानी गई हैं ॥ २ ॥

इस विषय में त्रिकोण आदि व्यवस्था को भी जान लेना चाहिये, वह इस प्रकार है कि—यदि पूर्व मुख होकर पूजन करे तो पश्चिम दिशा से शाम्भवी (८) दिशा में जाकर स्थिति करे ॥

परन्तु यदि साधक (९) उत्तर मुख होकर देवपूजन करे तो दक्षिण दिशा से वायवी (१०) दिशा में जाकर स्थिति करे ॥ ४ ॥

अर्थात् दक्षिण दिशा से वायवी दिशा में जाकर तथा उस से शाम्भवी दिशा में जाकर और वहां से दक्षिण दिशा में जाकर स्थिति करे, तो यह नमस्कार त्रिकोण के समान हो जाता है ॥ ५ ॥

१—परस्मैपदञ्चिन्त्यम् ॥ २—सम्बोधनमिदम् ॥ ३—प्रश्नप्रतिवचनमुद्दिश्य विषयप्रदर्शनपरमिदं सर्वम् ॥ ४—पूर्व और उत्तरका मध्यभाग ॥ ५—उत्तर ॥ ६-वेदी आदि ॥ ७—श्रेष्ठ ॥ ८—पूर्व और उत्तरका मध्यभाग ॥ ९—साधन करने वाला ॥ १०—पश्चिम और उत्तर का मध्य भाग ॥

त्रिकोणरूप जो नमस्कार है वह त्रिपुराके लिये प्रीतिदायक (१) है ॥६॥

दक्षिण दिशा से वायवी दिशा में जाकर और फिर वायवी दिशा से शाम्भवी दिशा में जाकर और फिर वहांसे भी दक्षिण दिशा में जाकर तथा उस को छोड़कर और अग्नि (२) दिशा में प्रवेश कर तथा अग्निदिशा से राक्षसी (३) दिशा में जाकर और वहां से भी उत्तर दिशा में जाकर तथा उत्तर दिशा से आग्नेयी दिशा की ओर जो घूमना है यह नमस्कार दो त्रिकोणों (षट्कोणरूप) के समान हो जाता है ॥ ७-८ ॥

षट्कोणरूप जो नमस्कार है वह शिव और दुर्गाको प्रीतिदायक है ॥९॥

दक्षिण दिशा से वायवी (४) दिशा में जाकर और वहां से फिर दक्षिण की ओर लौटकर इस प्रकार जाकर जो नमस्कार किया जाता है वह अर्धचन्द्र (५) कहा गया है ॥ १० ॥

साधक (६) पुरुष वर्तुलाकार (७) में एकवार प्रदक्षिणा कर जो नमस्कार करता है उसे द्विज जनों ने प्रदक्षिणा कहा है ॥ ११ ॥

अपने बैठने के स्थान को छोड़ कर पीछे जाकर प्रदक्षिणा के विना ही पृथिवी पर दण्ड के समान गिर कर जो नमस्कार किया जाता है उस को देव "दण्ड" कहते है, यह दण्ड नमस्कार सर्वदेव समूह को आनन्द देने वाला है ॥ १२ ॥ १३ ॥

पहिले के समान, दण्ड के समान, भूमि पर गिर कर हृदय; चिबुक (८), मुख, नासिका, ललाट, उत्तमाङ्ग तथा दोनों कानों से क्रम से जो भूमि का स्पर्श करना है उस नमस्कार को मनीषी (९) जनों ने अष्टाङ्ग नमस्कार कहा है ॥ १४ ॥ १५ ॥

साधक पुरुष वर्तुलाकार होकर तीन प्रदक्षिणायें देकर शिरसे जिस नमस्कार में भूमि का स्पर्श करता है उसको देवगण उग्र नमस्कार कहते हैं और यह (उग्र) नमस्कार विष्णु को तुष्टिदायक है ॥ १६ ॥ १७ ॥

१-प्रीति (तुष्टि) को देने वाला ॥ २-पूर्व और दक्षिण का मध्य ॥ ३-दक्षिण और पश्चिम का मध्यभाग ॥ ४-वायवी आदि का लक्षण पूर्व लिख चुके हैं ॥ ५-आधे चन्द्रमा के समान ॥ ६-साधन करने वाला ॥ ७-गोलाकार ॥ ८-ठोड़ी ॥ ९-बुद्धिमान्, विचारशील ॥

जिस प्रकार नदों में सागर, द्विपदों (१) में ब्राह्मण, नदियों में गङ्गा और देवों में विष्णु प्रशंसनीय (२) हैं उसी प्रकार सब नमस्कारोंमें उग्र नमस्कार प्रशंसनीय है ॥ १८, १९ ॥

साधना करने वाला भक्त पुरुष भक्तिपूर्वक (३) त्रिकोण आदि नमस्कारों के करने मात्र से शीघ्र ही चतुर्वर्ग (४) को प्राप्त कर सकता है ॥ २० ॥

हे भैरव ! नमस्कार का करना एक बड़ा यज्ञ है, यह सब देवों को तथा अन्य जनों को भी सर्वथा और सर्वदा प्रसन्न करता है ॥ २१ ॥

परन्तु यह जो उग्र नमस्कार है यह हरिको अत्यन्त ही प्रीति देता है, यह महामाया को भी प्रसन्न करता है; इस लिये यह (उग्र नमस्कार) सब नमस्कारों में उत्तम है ॥ २२ ॥

(यह उक्त विषय कालीपुराण में है (५))

तुम्हारी नमस्कारों के भेदों के सुनने की अभिलाषा होने से यह विषय उक्त पुराणों के कथन के अनुसार कह दिया गया ।

(प्रश्न)—इस नवकार मन्त्र में "णमो" शब्द का पाठ सब से प्रथम क्यों रक्खा गया है; अर्थात् "अरिहन्ताणं णमो" इत्यादि पाठ न रख कर "णमो अरिहन्ताणं" इत्यादि पाठ क्यों रक्खा गया है, अन्यत्र (६) प्रायः ऐसा देखा जाता है कि प्रथम नमस्कार्य (७) का प्रतिपादन (८) कर पीछे "नमः" पद का प्रयोग (९) किया जाता है तो इस मन्त्र में उक्त विषय का उत्क्रम (१०) क्यों किया गया है ? ॥

(उत्तर)—प्रथम कह चुके हैं कि "णमो" पद में अणिमासिद्धि संनिविष्ट है तथा "अरिहंताणं" पदमें दूसरी महिमा सिद्धि सन्निविष्ट है; अतः सिद्धि क्रमकी अपेक्षा से "णमो अरिहंताणं" इत्यादि पाठ रक्खा गया है तथा इसीके अनुसार आगे भी क्रम रक्खा गया है, यदि इस क्रमसे पाठ को न रखते तो सिद्धियोंके क्रममें व्यतिक्रम (११) हो जाता, दूसरा कारण यह भी प्रथम लिख चुके हैं कि णकार अक्षर ज्ञानका वाचक होनेसे मङ्गल वाचक है, अतः छन्दःशास्त्रमें उसे अशुभ अक्षर मानने पर भी आदि मङ्गलके हेतु उसको

१-दो पैर वालों ॥ २-प्रशंसा के योग्य ॥ ३-भक्ति के साथ ॥ ४-धर्म, अर्थ, काम, और मोक्ष ॥ ५-प्रश्न-उत्तर का अनुसरण कर यह विषय उद्धृत किया गया है ॥ ६-अन्य स्थानों में ॥ ७-नमस्कार करने योग्य ॥ ८-कथन ॥ ९-व्यवहार ॥ १०-क्रम का उल्लङ्घन (त्याग) ॥ ११-उलट पलट ॥

आदि में रक्खा, क्योंकि जगत् कल्याणकारी (१) प्रतिपाद्य (२) विषय के प्रतिपादन (३) में आदि, मध्य और अन्तमें मङ्गल करना आप्तनिर्दिष्ट (४) है, ऐसा करने से उसके पाठक (५), शिक्षक (६) और चिन्तकों (७) का सदैव मङ्गल होता है तथा प्रतिपाद्य विषय की निर्विघ्न (८) परिसमाप्ति होकर उसकी सदैव प्रवृत्ति (९) होती है।

(प्रश्न) इस मन्त्र के मध्य और अन्तमें किस २ पदके द्वारा मध्यमंगल तथा अन्त्य मङ्गल किया गया है?

(उत्तर) "लोए" इस पदके द्वारा मध्यमङ्गल तथा "मंगलं" इस पदके द्वारा अन्त्य मङ्गल किया गया है।

(प्रश्न)–प्रथम अर्हतों को, फिर सिद्धोंको, फिर आचार्यों को, फिर उपाध्यायों को और फिर साधुओंको नमस्कार किया गया है, सो इस क्रम के रखने का क्या प्रयोजन है?

(उत्तर) इस विषयमें संक्षेप से प्रथम कुछ लिख चुके हैं तथापि पुनः इस विषयमें कुछ लिखा जाता है देखो! इस क्रमके रखने का प्रथम कारण तो यह है कि आठ सिद्धियोंके क्रम से इन पदोंका सन्निवेश (१०) किया गया है (जिसका वर्णन आगे सिद्धियों के प्रसंग में किया जावेगा), दूसरा कारण यह है कि प्रधानता (११) की अपेक्षा से ज्येष्ठानुज्येष्ठादिक्रमसे (१२) "अरिहंताणं" आदि पदोंका प्रयोग किया गया है।

(प्रश्न) प्रधानता की अपेक्षा से इनमें ज्येष्ठानुज्येष्ठादि क्रम किस प्रकारसे है, इसका कुछ वर्णन कीजिये?

(उत्तर) हम सिद्धोंको अरिहन्तके उपदेशसे जानते हैं, सिद्ध अरिहन्त के उपदेशसे ही चारित्र का आदर कर कर्मरहित होकर सिद्धि को प्राप्त होते हैं, आचार्य को उपदेश देने का सामर्थ्य अरिहन्त के उपदेश से ही प्राप्त होता है, उपाध्याय आचार्यों से शिक्षा को प्राप्त कर स्वकर्तव्य का पालन करते हैं, एवं साधुजन उपाध्याय और आचार्यों से दशविध (१३)

१–संसार का कल्याण करनेवाला ॥ २–वर्णनीय ॥ ३–वर्णन, कथन ४–यथार्थ वादी जनोंका सम्मत ॥ ५–पढ़ानेवाले ॥ ६–सीखनेवाले ॥ ७–विचारनेवाले ॥ ८–विघ्न के विना ॥ ९–प्रचार ॥ १०–स्थापन ॥ ११–मुख्यता ॥ १२–प्रथम सबमें ज्येष्ठ को, फिर उससे छोटे को, इत्यादि क्रमसे ॥ १३–दश प्रकारके ॥

श्रमणधर्म (१) को जानकर स्वकर्तव्य का पालन करते हैं, अतः अर्हत् आदि पांचों में उत्तर २ (२) की अपेक्षा पूर्व २ को प्रधानता (३) के द्वारा ज्येष्ठत्व (४) है, अतः प्रधानताके द्वारा ज्येष्ठानुज्येष्ठ क्रम को स्वीकार कर प्रथम अर्हन्तोंको, फिर सिद्धोंको, फिर आचार्योंको, फिर उपाध्यायों को तथा फिर साधुओंको नमस्कार किया गया है।

(प्रश्न)-अर्हदादि जो पांच परमेष्ठी नमस्कार्य हैं, उनके सम्बन्धमें पृथक् २ "णमो" पदको क्यों कहा गया है, एक बार (आदिमें) ही यदि "णमो" पद कह दिया जाता तो भी शेष पदों में उसका स्वयं भी अध्याहार हो सकता था ?

(उत्तर) हां तुम्हारा कहना ठीक है कि यदि एक बार "णमो" पद का प्रयोग कर दिया जाता तो भी शेष चार पदोंके साथ उसका अध्याहार हो सकता था, परन्तु इस महामन्त्र का गुणन आनुपूर्वी (५) अनानुपूर्वी और पश्चानुपूर्वी की रीतिसे भी होता है, जिसके भंगों की संख्या तीन लाख, बासठ सहस्र, आठ सौ अस्सी पहिले बतलाई गई है, अतः आनुपूर्वीके द्वारा गुणन करने पर तो निःसन्देह प्रथम पदमें "णमो" पदको रखने से शेष चारों पदोंमें "णमो" पदका अध्याहार हो सकता है, परन्तु पश्चानुपूर्वीके द्वारा गुणन करने पर (सब पदोंमें "णमो" पदको न रखकर केवल आदि में रखने से) उसका अन्वय पांचों नमस्कार्यों के साथ में नहीं हो सकता है, जैसे देखो ! पश्चानुपूर्वी के द्वारा इस मन्त्र का गुणन इस प्रकार होगा कि "पढमं हवइ मंगलं ॥९॥ मंगलाणं च सव्वेसिं ॥८॥ सव्वपावप्पणासणो ॥७॥ एसोपंचणमोक्कारो ॥६॥ णमो लोए सव्वसाहूणं ॥५॥ णमो उवज्झायाणं ॥४॥ णमो आयरियाणं ॥३॥ णमो सिद्धाणं ॥२॥ णमो अरिहंताणं ॥१॥ अर्थात् पश्चानुपूर्वी के द्वारा गुणन करने पर नवां, आठवां, सातवां, छठा, पांचवां, चौथा, तीसरा दूसरा, और पहिला, इस क्रमसे गुणन होता है, अब देखो ! इस पश्चानुपूर्वीके द्वारा गुणन करनेपर प्रथम पद सबसे पीछे गुणा जाता है, अतः (६) यदि पांचों पदोंमें "णमो" पदका प्रयोग न किया जावे किन्तु प्रथम पदमें ही उसका प्रयोग किया जावे तो पश्चानुपूर्वीके

१-साधुधर्म ॥ २-पिछले पिछले ॥ ३-मुख्यता ॥ ४-ज्येष्ठत्व श्रेष्ठता ॥ ५-आनुपूर्वी आदि का स्वरूप पहिले कहा जा चुका है ॥ ६-इसलिये ॥

द्वारा नवां; आठवां, सातवां और छठा इन चार पदों के गुणने के पश्चात् शेष पांच पद इस प्रकार गुणे जावेंगे कि "लोए सव्वसाहूणं" "उवज्झायाणं" "आयरियाणं" "सिद्धाणं" "णमो अरिहंताणं" इस प्रक्रिया में "णमो" पद का सम्बन्ध पांचों के साथ में नहीं हो सकता है, क्योंकि मध्य (१) में आ गया है, यदि उसका पूर्वान्वय (२) करें तो साधु आदि चार के साथमें उसका अन्वय होगा किन्तु "अरि हंताणं" के साथमें नहीं होगा और यदि उसका उत्तरान्वय (३) करें तो केवल "अरिहंताणं" पद के साथ में उसका अन्वय होगा, किन्तु पूर्ववर्ती (४) साधु आदि चार के साथ उसका अन्वय नहीं होगा, तात्पर्य यह है कि वह उभयान्वयी (५) नहीं हो सकता है, इसलिये पांचों पदोंमें उसका प्रयोग किया गया है, इसके अतिरिक्त (६) जब अनानुपूर्वीके द्वारा इस मन्त्र का गुणन किया जाता है तब आदि और अन्त भंग को अर्थात् पूर्वानुपूर्वी और पश्चानुपूर्वी को छोड़कर बीच के तीन लाख बासठ सहस्र, आठ सौ अठहत्तर, भंगोंमेंसे सहस्रों भंग ऐसे होते हैं, कि जिनमें प्रथम पद कहीं छठे पदके पश्चात्, कहीं सातवें पदके पश्चात्, कहीं आठवें पदके पश्चात् तथा कहीं नवें पदके पश्चात् गुणा जाता है; तो तद्वर्ती (७) "णमो" पदका अन्वय (८) दूसरे, तीसरे, चौथे और पांचवें पदके साथ कैसे हो सकता है और उसका उक्त पदोंमें अन्वय न होनेसे सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु, इनके लिये नमस्कार नहीं बन सकता है, इसलिये केवल प्रथम पदमें "णमो" शब्दका प्रयोग न कर पांचों पदोंमें किया गया है ।

(प्रश्न) इस महामन्त्र को नवकार मन्त्र क्यों कहते हैं ?

(उत्तर) प्रथम कह चुके हैं कि इस महामन्त्रमें नौ पद हैं तथा नौओं पदों की क्रिया में पूर्वानुपूर्वी, अनानुपूर्वी और पश्चानुपूर्वी के द्वारा विशेषता है, अर्थात् नौओं पदों की गुणनरूप क्रिया में भेद है, इसलिये इस मन्त्र को नवकार कहते हैं, देखो ! नवकार शब्द का अर्थ यह है कि "नवसु (पदेषु) काराः क्रियाः यस्मिन्स नवकारः" यद्वा "नवकाराः क्रिया

१-बीच २-पूर्व के साथ योग (सम्बन्ध) ३-पिछले के साथ में योग ॥ ४-पूर्वमें स्थित ॥ ५-दोनों (पूर्व और पिछले) के साथ सम्बन्ध रखने वाला ॥ ६-सिवाय ७-उसमें (आदि पदमें) स्थित ८-सम्बन्ध ॥

यस्मिन् स नवकारः अर्थात् जिसके नौओं (पदों) में "कार" अर्थात् क्रियायें हैं उसको नवकार कहते हैं, अथवा (नौ पदोंके कारण) जिसमें नौ (गुणरूप) क्रियायें हैं उसे नवकार कहते हैं, इसी कारण से इस महा मन्त्रका नाम नवकार है।

(प्रश्न)-छठा पद "एसो पञ्चणमोक्कारो" है, इस पद में "पञ्चणमोक्कारो" ठीक है' आप ने तो "एसो पञ्चणमोक्कारो" ऐसा पद लिखा है! परन्तु बहुत से स्थलों में "एसो पञ्चणमुक्कारो" ऐसा भी पद देखा जाता है ?

(उत्तर)-संस्कृत का जो नमस्कार शब्द है उस का प्राकृत में "नमस्कार परस्परे द्वितीयस्य" इस सूत्र से "णमोक्कारो" पद बनता है, अब जो कहीं २ "णमुक्कारो" ऐसा पाठ दीख पड़ता है उस की सिद्धि इस प्रकार से हो सकती है कि-"ह्रस्वः संयोगे" इस सूत्र से यथा दर्शन (१) ओकार के स्थान में उकार आदेश करके "णमुक्कार" पद बन सकता है, इसीलिये कदाचित् वह कहीं २ देखने में आता है तथा इस ग्रन्थ के कर्त्ताने भी प्रारम्भ में "परमिट्ठि णमुक्कारं" ऐसा पाठ लिखा है, अर्थात् नमस्कार शब्द का पर्याय प्राकृत में "णमुक्कार" शब्द लिखा है, परन्तु हमारी सम्मति में "णमोक्कारो" ही ठीक है; क्योंकि विधान सामर्थ्य से (२) यहां पर ओकारके स्थान में उकारादेश नहीं होगा, जैसा कि परस्पर शब्द का प्राकृत में "परोप्पर" शब्द बनता है; उस में विधान सामर्थ्य से ओकार के स्थान में उकार आदेश नहीं होता है, अर्थात् "परुप्पर" शब्द कहीं भी नहीं देखा जाता है, किञ्च-हृषीकेश जी ने भी स्वप्राकृत व्याकरण में नमस्कार का पर्याय वाचक प्राकृत पद "णमोक्कारो" ही लिखा है (३)।

(प्रश्न)-"एसो पञ्चणमोक्कारो" इस पद का क्या अर्थ है ?

(उत्तर)-उक्त पद का अर्थ यह है कि-"यह पांचों को नमस्कार क्योंकि "पञ्चानां सम्बन्धे पञ्चभ्यो वा नमस्कारः इति पञ्चनमस्कारः" इस प्रकार तत्पुरुष समास होता है, किन्तु यदि कोई उक्त पदका यह अर्थ करे

१-दृष्ट प्रयोग के अनुसार ॥ २-ओकार का विधान (कथन) किया गया है इसलिये ॥ ३-देखो उक्त ग्रन्थ का ११५ वां पृष्ठ इसके अतिरिक्त प्राकृतमञ्जरी (श्री मत्कात्यायनमुनिप्रणीत प्राकृतसूत्र वृत्ति) में भी "नमस्कारः" पदका प्राकृत में "णमोक्कारो" ही लिखा है देखो उक्त ग्रन्थ का ५२ वां पृष्ठ ॥

कि "ये पांच नमस्कार" तो यह अर्थ ठीक नहीं है, क्योंकि इस दशा में उक्त द्विगु समास का प्रयोग स्त्रीलिङ्ग में अथवा नपुंसक लिङ्ग में होगा, जैसा कि "त्रिलोकी" "त्रिभुवनम्" "पञ्चपात्रम्" इत्यादि पदोंमें होता है, किन्तु यहां पर पुंल्लिङ्ग का निर्देश (१) है; अतः (२) द्विगु समास न कर ऊपर लिखे अनुसार तत्पुरुष समास ही करना चाहिये।

(प्रश्न)-उक्त वाक्य में पञ्च शब्द का प्रयोग क्यों किया गया "एसो णमोक्कारो" इतना ही कहना पर्याप्त था, क्योंकि इतना कहने से भी पांचों का नमस्कार जाना जा सकता था?

(उत्तर)-उक्त पद में "पञ्च" शब्द का प्रयोग स्पष्टताके लिये है अर्थात् स्पष्टतया (३) पांचों का नमस्कार समझ लिया जावे, दूसरा कारण यह भी है कि-इस पद में "एसो" यह एतद् शब्द का रूप है तथा एतद् शब्द प्रत्यक्ष और आसन्नवर्ती (४) पदार्थ का वाचक (५) है, अतः यदि पञ्च शब्दका प्रयोग न किया जाता तो केवल समीपवर्त्ती (६) साधु नमस्कार के ही ग्रहण की सम्भावना हो सकती थी, अर्थात् पांचों के नमस्कारके ग्रहण की सम्भावना नहीं हो सकती थी, अथवा कठिनता से हो सकती थी, अतः "पञ्च" शब्द का ग्रहण स्पष्टता के लिये किया गया है कि स्पष्टतया (निर्भ्रम) पांचों का नमस्कार समझा जावे।

[प्रश्न]-सातवां पद "सव्वपावप्पणासणो" है, इस पदका कथन क्यों किया गया है, क्योंकि आठवें और नवें पदमें यह कहा गया है कि "(यह पञ्च नमस्कार) सब मङ्गलों में प्रथम मङ्गल है" तो इस के प्रथम मङ्गलरूप होने से अर्थापत्ति (७) प्रमाण के द्वारा यह बात सिद्ध हो जाती है कि-"यह सब पापों का नाशक है" क्योंकि पापों के नाश के विना मङ्गल हो ही नहीं सकता है, अतः इस सातवें पद का प्रयोग निरर्थक (८) सा प्रतीत (९) होता है?

[उत्तर]-आठवें और नवें पद में जो यह कहा गया है कि "(यह पञ्चनमस्कार) सब मङ्गलों में प्रथम मङ्गल है" इस कथन के द्वारा यद्यपि

१-कथन, प्रतिपादन ॥ २-इसलिये ३-स्पष्ट रीतिसे ॥ ४-समीपमें स्थित ॥ ५-कहनेवाला ॥ ६-पासमें स्थित ॥ ७-देखा अथवा सुना हुआ कोई पदार्थ जिस के विना सिद्ध नहीं हो सकता है उसकी सिद्धि अर्थापत्ति प्रमाण के द्वारा होती है ॥ ८-व्यर्थ ॥ ९-ज्ञात, मालूम ॥

अर्थापत्ति प्रमाण से यह बात सिद्ध हो जाती है कि "यह सब पापों का नाशक है" तथापि इस सातवें पद के कथन का प्रयोजन (१) यह है, कि-इस पञ्च नमस्कार से प्रथम समस्त (२) पापोंका समूल (३) क्षय (४) होजाता है, तत्पश्चात् (५) नमस्कारकर्त्ता (६) के लिये सर्वोत्तम (७) मङ्गल होता है, यदि इस सातवें पद का कथन न करते तो यद्यपि आठवें और नवें पद के वाक्यार्थ से पापों का नष्ट होना तो अर्थापत्ति प्रमाण के द्वारा समझा जा सकता था; परन्तु उनका समूल क्षय होना सिद्ध नहीं हो सकता था, देखो! नाश तीन प्रकार का होता है-क्षय, उपशम और क्षयोपशम, इन में से समूल नाश को क्षय कहते हैं, जैसा कि श्रीनन्दीसूत्र में कहा है कि "क्षयोनिर्मूलमपगमः (८)" कि जिस के होने से फिर उस का उद्भव (९) नहीं हो सकता है. उपशम शान्तावस्था (१०) को कहते हैं, जैसा कि श्रीनन्दी सूत्रमें कहा है कि "अनुद्रेकावस्थोपशमः (११)" शान्तावस्था वह है कि जिस में (वस्तु वा कर्म का) सामर्थ्य दबा रहता है, जैसे-अग्नि के अङ्गारोंको राख से दबा दिया जावे तो उन की उष्णता (१२) का भान (१३) नहीं होता है अर्थात् उन की उष्णता उपशमावस्था में रहती है, अतएव ऊपर डालेहुए तृण (१४) आदि को वह दग्ध (१५) नहीं कर सकती है, परन्तु राख के हट जाने से फिर वह अग्नि वायु संसर्ग (१६) से प्रबल होकर अपनी दहन क्रिया को करती है; (इसी प्रकार से कर्मों की भी उपशमावस्था को जानना चाहिये) तथा क्षयोपशम उस अवस्था को कहते हैं कि जिस में (वस्तु वा कर्म के) एक देश (१७) का क्षय (समूल नाश) तथा दूसरे देश का उपशम (शान्तावस्था) हो जाता है, इस अवस्था को भी प्राप्त वस्तु वा कर्म कारण सामग्री को प्राप्त कर फिर वृद्धि को प्राप्त हो जाता है, तो यहां पर जो सातवां पद कहा गया है उस का प्रयोजन यह है कि इस पञ्च नमस्कार से समस्त पापों का उपशम तथा क्षयोपशम होकर उत्तम मङ्गल नहीं होता है

१-तात्पर्य॥ २-सब॥ ३-मूलके सहित॥ ४-नाश॥ ५-उसके पीछे॥ ६-नमस्कार करने वाला॥ ७-सब में उत्तम॥ ८-निर्मूल नाश का नाम क्षय है॥ ९-उत्पत्ति॥ १०-शान्तिदशा॥ ११-उद्रेक (प्रकट) अवस्था का न होना उपशम कहलाता है॥ १२-गर्मी॥ १३-प्रतीति॥ १४-तिनका॥ १५-जला हुआ, भस्मरूप॥ १६-पवनसंयोग १७-एक भाग॥

किन्तु समस्त पापों का समूल नाश होकर उत्कृष्ट (१) मङ्गल होता है जिससे उन पापों का फिर कभी उद्भव (२) आदि नहीं हो सकता है।

(प्रश्न)–सातवें पद के कथन का प्रयोजन तो हमारी समझमें आगया; परन्तु इस में सर्व शब्द का प्रयोग क्यों किया गया, क्योंकि "पावप्पणासणो" यदि इतना ही कथन किया जाता तो भी "पापानि प्रणाशयतीति पापप्रणाशनः" इस व्युत्पत्ति के द्वारा यह अर्थ हो सकता था कि–"यह पञ्च नमस्कार सब पापों का नाश करने वाला है" फिर सर्व शब्द का प्रयोग क्यों किया गया ?

(उत्तर)–"पापानि प्रणाशयतीति पापप्रणाशनः" इस व्युत्पत्ति के द्वारा यद्यपि यह अर्थ सिद्ध हो सकता था कि–"यह पञ्च नमस्कार सब पापों का नाशक (३) है" तथापि (४) इस अर्थ का परिज्ञान होना प्रथम तो विद्वद्गम्य (५), है, दूसरे जैसे "पापानि प्रणाशयतीति पापप्रणाशनः" इस व्युत्पत्ति के द्वारा सर्व पापों के नाशकर्त्ता (६) को पापप्रणाशन कहते हैं; उसी प्रकार "पापं प्रणाशयतीति पापप्रणाशनः" इस व्युत्पत्ति के द्वारा एक पाप के (अथवा कुछ पापों के) नाश करने वाले को भी तो "पापप्रणाशन" कह सकते हैं, अतः यदि सर्व शब्द का प्रयोग न किया जाता तो यह शङ्का बनी ही रह सकती थी कि यह पञ्च नमस्कार एक पाप का नाश करता है, अथवा कुछ पापों का नाश करता है, वा समस्त (७) पापों का नाश करता है, अतः इस शङ्का की सर्वथा निवृत्ति के लिये तथा सर्वसाधारण की बुद्धि में यथार्थ (८) अर्थ समाविष्ट (९) हो जाने के लिये सर्व शब्द का प्रयोग किया गया है।

(प्रश्न) इस मन्त्र का आठवां और नवां पद यह है कि "मंगलाणं च सव्वेसिं" "पढमं हवइ मंगलं" इन दोनों का मिश्रित (१०) अर्थ यह है कि "(यह पञ्च नमस्कार) सब मंगलों में प्रथम मंगल है" अब इस विषय में प्रष्टव्य (११) यह है कि आठवें पदमें "सव्वेसिं" इस कथन के द्वारा सर्व शब्द का प्रयोग क्यों किया गया, यदि इसका प्रयोग न भी किया जाता तो भी "मंगलाणं" इस बहुवचनान्त पद से सर्व शब्द के अर्थ का भान (१२) हो सकता था, अतः "सव्वेसिं" यह पद व्यर्थ सा प्रतीत (१३) होता है ?

१–उत्तम ॥ २ उत्पत्ति ॥ ३ नाश करने वाला ॥ ४–तो भी ॥ ५–विद्वानों से जानने योग्य ॥ ६–नाश करने वाले ॥ ७–सब ॥ ८–ठीक सत्य ॥ ९–हृदयङ्गम ॥ १०–मिला हुआ ॥ ११–पूंछने योग्य ॥ १२–ज्ञान ॥ १३–ज्ञात ॥

(उत्तर) यद्यपि "मंगलाणं" इस बहुवचनान्त प्रयोग से सर्व शब्द के अर्थ का भान हो सकता था तथापि जगद्धितकारी विषय का प्रकाशक जो कथन होता है वह सर्वसाधारण को सुखपूर्वक (१) बोध (२) के लिये होता है, इस लिये सर्वसाधारण को सुख पूर्वक स्पष्टतया (३) (निर्भ्रम) वाच्यार्थ (४) की प्रतीति (५) हो जावे, इसलिये "सव्वेसिं" इस पद का प्रयोग किया गया है, दूसरा कारण यह भी है कि लोकमें अनेक संख्यावाले जो मंगल हैं उनमें से कुछ मंगलों का बोध करानेके लिये भी तो "मंगलाणं" इस बहुवचनान्त पद का प्रयोग हो सकता है, अतः "मंगलाणं" इस बहुवचनान्त प्रयोग से भी कुछ मंगल न समझे जावें किन्तु सब मङ्गलों का ग्रहण हो, इस लिये सर्व शब्द उसका विशेषण रक्खा गया है।

(प्रश्न) "मंगलाणं च सव्वेसिं" यह आठवां पद न कह कर यदि केवल "पढमं हवइ मंगलं" इस नवें पदका ही कथन किया जाता तो भी अर्थापत्ति (६) के द्वारा आठवें पदके अर्थ का बोध हो सकता था, देखो ? यदि हम यह कहें कि "(यह पञ्च नमस्कार) प्रथम मङ्गल है" तो प्रथमत्व (७) की अन्यथाऽसिद्धि (८) होनेसे अर्थापत्तिप्रमाण के द्वारा इस अर्थ की प्रतीति स्वयं (९) हो जाती है कि "(यह पञ्च नमस्कार) सब मङ्गलों में प्रथम मंगल है" तो "मंगलाणं च सव्वेसिं" इस आठवें पदका कथन क्यों किया गया ?

(उत्तर) आठवें पदका प्रयोग न कर यदि केवल नवें पदका कथन किया जाता तो उसके कथन से यद्यपि अर्थापत्ति के द्वारा आठवें पदके अर्थ का भी बोध हो सकता था, अर्थात् यह अर्थ जाना जा सकता था कि "(यह पञ्चनमस्कार) सब मंगलों में प्रथम मंगल है" परन्तु स्मरण रहे कि उक्त (१०) अर्थ की प्रतीति अर्थापत्ति के द्वारा केवल विद्वानों को ही हो सकती है, अर्थात् सामान्य (११) जनों को उक्त अर्थ की प्रतीति नहीं हो सकती है, तथा पहिले कह चुके हैं कि जगद्धितकारी विषय का (१२) प्रकाशक जो कथन होता है (१३) वह बोध (१४) के लिये होता है, यदि आठवें पद का कथन न कर केवल नवें पदका ही कथन किया जाता तो सामान्य जनों को

१-सहजमें ॥ २-ज्ञान ॥ ३-स्पष्ट रीतिसे ॥ ४-वाच्य (कथन करने योग्य) अर्थ ॥ ५-ज्ञान ॥ ६-अर्थापत्ति का लक्षण पूर्व लिख चुके हैं ॥ ७-प्रथमपन ॥ ८-अविनाभाव, अन्य के विना असिद्धि ॥ ९-अपने आप ॥ १०-कथित ॥ ११-साधारण ॥ १२-शास्त्र का आरम्भ रूप परिश्रम ॥ १३-सहजमें ॥ १४ ॥ ज्ञान ॥

स्पष्टतया (१) इस अर्थ की प्रतीति नहीं हो सकती थी कि-"(यह पञ्च नमस्कार) सब मंगलों में प्रथम मङ्गल है" इस लिये सर्व साधारण को सुख पूर्वक उक्त अर्थ का ज्ञान होनेके लिये आठवें पद का कथन किया गया है, आठवें पद का दूसरा कारण यह भी है कि आठवें पदका कथन न कर यदि केवल नवें पदका कथन किया जाता तो व्याकरणादि ग्रन्थों के अनुसार प्रथम शब्द को क्रिया विशेषण मानकर उसका यह भी अर्थ हो सकता था कि "(यह पञ्च नमस्कार) प्रथम अर्थात् पूर्व काल में (किन्तु उत्तर कालमें नहीं) मंगलरूप है" ऐसे अर्थ की सम्भावना होनेसे पञ्च नमस्कार का सार्वकालिक (२) मङ्गलरूपत्व (३) सिद्ध नहीं हो सकता था अतः आठवें पदका कथन कर तथा उसमें निर्धारण (४) अर्थ में षष्ठी विभक्ति का प्रयोग कर यह अर्थ स्पष्टतया सूचित (५) कर दिया गया कि "(यह पञ्च नमस्कार) सब मङ्गलोंमें प्रथम अर्थात् उत्कृष्ट मंगल है" तीसरा कारण आठवें पदके कथन का यह है कि "मंगलाणं" इस पदमें बशित्व सिद्धि सन्निविष्ट है (जिसका वर्णन आगे किया जावेगा) यदि आठवें पदका कथन न किया जाता तो तदन्तर्वर्ती (६) "मंगलाणं" पदमें वशित्व सिद्धि के समावेश (७) की असिद्धि हो जाती, अतः आठवें पदका जो कथन किया गया है वह निरर्थक (८) नहीं है।

(प्रश्न) इस मन्त्र का नवां पद "पढमं हवइ मंगलं" है इसमें उत्तम, उत्कृष्ट और प्रधान, इत्यादि शब्दों का प्रयोग न कर प्रथम शब्द का प्रयोग क्यों किया गया है ?

(उत्तर) उत्तम आदि शब्दों का प्रयोग न कर प्रथम शब्द का जो प्रयोग किया गया है, उसका कारण यह है कि "पृथु विस्तारे" इस धातु से प्रथम शब्द बनता है, अतः उस (प्रथम शब्द) का प्रयोग करने से यह ध्वनि निकलती है कि यह पञ्च नमस्कार सब मङ्गलोंमें उत्तम मंगल है तथा वह (मङ्गल) प्रतिदिन वृद्धि को प्राप्त होकर विस्तीर्ण (९) होता रहता है, अर्थात् उसमें कभी किसी प्रकार से ह्रास (१०) नहीं होता है, प्रत्युत (११)

१-स्पष्ट रीतिसे ॥ २-सब कालमें रहनेवाला ॥ ३-मङ्गल रूप होना ॥ ४-जाति गुण, क्रिया के द्वारा समुदाय में से एक भागको पृथक् करनेको निर्धारण कहते हैं ॥ ५-प्रकट ॥ ६-उसके मध्यमें स्थित ॥ ७-प्रवेश होने ॥ ८-व्यर्थ ॥ ९-विस्तारवाला ॥ १०-न्यूनता, कमी ॥ ११-किन्तु ॥

वृद्धि ही होती है, यदि प्रथम शब्द का प्रयोग न कर उसके स्थानमें उत्तम, उत्कृष्ट अथवा प्रधान आदि किसी शब्द का प्रयोग किया जाता तो यह ध्वनि नहीं निकल सकती थी, अतः उत्तम आदि शब्दों का प्रयोग न कर प्रथम शब्द का प्रयोग किया गया।

(प्रश्न) इस नवें पदमें "हवइ" इस क्रिया पदका प्रयोग क्यों किया गया, यदि इस क्रिया पदका प्रयोग न भी किया जाता तो भी "हवइ" क्रिया पदका अध्याहार होकर उसका अर्थ जाना जा सकता था, क्योंकि वाक्योंमें प्रायः "अस्ति" "भवति" इत्यादि क्रिया पदोंका अध्याहार होकर उनका अर्थ जाना ही जाता है?

(उत्तर) निस्सन्देह अन्य वाक्यों के समान इस पदमें भी "हवइ" क्रिया पदका प्रयोग न करने पर भी उसका अध्याहार हो सकता है, तथापि (१) यहांपर जो उक्त क्रिया पदका प्रयोग किया है उसका प्रयोजन यह है कि उक्त मङ्गल की भवन क्रिया (२) अर्थात् सत्ता (३) विद्यमान रहती है, तात्पर्य यह है कि "यह पञ्चनमस्कार सब मङ्गलों में उत्तम मङ्गल है तथा वह (मंगल) वृद्धि को प्राप्त होता है और निरन्तर विद्यमान रहता है," यदि "हवइ" इस क्रिया पदका प्रयोग न किया जाता तो "उसकी निरन्तर सत्ता रहती है" इस अर्थ की प्रतीति नहीं हो सकती थी।

(प्रश्न) नवें पदके अन्त में "मंगलं" इस पद का प्रयोग क्यों किया गया, यदि इसका प्रयोग न भी किया जाता तो भी मंगल पदका अध्याहार हो सकता था, अर्थात् "(यह पञ्चनमस्कार) सब मंगलों में प्रथम है" इतना कहने पर भी "प्रथम मंगल है" इस अर्थ की प्रतीति (४) स्वयमेव (५) हो जा सकती थी, जैसे कि "कवीनां कालिदासः श्रेष्ठः" इत्यादि वाक्यों में कवि आदि शब्दों का प्रयोग (६) न करने पर भी उनके अर्थ की प्रतीति स्वयमेव हो जाती है।

उत्तर "मंगलं" इस पद का प्रयोग न करने पर भी उसके अर्थ की प्रतीति यद्यपि निःसन्देह हो सकती थी, परन्तु प्रथम कह चुके हैं कि "जगत् क-

१–तोभी ॥ २–होना रूप कार्य ॥ ३–विद्यमानता ॥ ४–ज्ञान ॥ ५–अपने आप ही ॥ ६–व्यवहार ॥

स्याद्वादकारी (१) प्रति पाद्य (२) विषय के प्रतिपादन (३) में आदि मध्य और अन्तमें मंगल करना आप्तनिर्दिष्ट (४) वा आप्त सम्मत (५) है, ऐसा करने से उसके (६) पाठक शिक्षक (७) और चिन्तकों (८) का सदैव मंगल होता है तथा प्रतिपाद्य विषय की निर्विघ्न परिसमाप्ति होकर उसकी सदैव प्रवृत्ति होती है," अतः यहांपर अन्तमें मंगल करनेके लिये "मंगल" इस पद का साक्षात् प्रयोग किया गया है, अर्थात् मंगलार्थ वाचक (९) मंगल शब्द को रक्खा गया है।

यह पांचवां परिच्छेद समाप्त हुआ ॥

१-संसार का कल्याण करनेवाले ॥ २-कथन करने योग्य ॥ ३-कथन ॥ ४-आप्तों (यथार्थवादी महानुभावों) का कथित ॥ ५-आप्तों का अभीष्ट ६-पढ़नेवाले ॥ ७-सिखानेवाले ८-विचार करने वालों ॥ ९-मङ्गलरूप अर्थ का कथन करने वाला ॥

अथ षष्ठः परिच्छेदः ।

श्रीमन्त्रराज (नवकारमन्त्र) में सन्निविष्ट आठ सिद्धियों के विषय में विचार ।

(प्रश्न)-परमेष्ठि नमस्कार स्तोत्र कर्त्ता श्रीजिनकीर्त्ति सूरिजी महाराज ने प्रथम गाथा की स्वोपज्ञवृत्ति के प्रारम्भ में लिखा है कि-"परमेष्ठिनोऽर्हदादयस्तेषां नमस्कारः श्रुतस्कन्धरूपो नवपदाष्टसम्पदष्टषष्ट्यक्षरमयो महामन्त्रः" अर्थात् "अर्हत् आदि (१) परमेष्ठियों का श्रुतस्कन्धरूप जो नमस्कार है वह नौपद, आठ सम्पद् तथा अड़सठ अक्षरों से युक्त महामन्त्र है" इस विषयमें प्रष्टव्य (२) यह है कि-इस महामन्त्रमें आठ सम्पद् कौनसी हैं ?

(उत्तर)-इस परमेष्ठि नमस्कार महामन्त्र की व्याख्या करने वाले अन्य महानुभावों ने जो इस महामन्त्र में आठ सम्पद् मानी हैं, प्रथम उन का निरूपण (३) किया जाता है; तदनन्तर (४) इस विषयमें अपना मन्तव्य (५) प्रकट किया जावेगाः—

उक्त महानुभावों ने यति (पाठच्छेद) अथवा वाचना (सहयुक्त वाक्यार्थ योजना) (६) का नाम सम्पद् मानकर नीचे लिखे प्रकार से आठ सम्पद् मानी हैं तद्यथाः—

१-णमो अरिहन्ताणं ॥ २-णमो सिद्धाणं ॥ ३-णमो आयरियाणं ॥ ४-णमो उवज्झायाणं ॥ ५-णमो लोए सव्वसाहूणं ॥ ६-एसो पञ्चणमोक्कारो ॥ ७-सव्वपावप्पणासणो ॥ ८-मङ्गलाणं च सव्वेसिं ॥ ९-पढमं हवइ मङ्गलम् ॥

तात्पर्य यह है कि-प्रथम सात पदों की अलग २ सम्पद् (यति वा(७)

१-आदि शब्दसे सिद्ध आदिको जानना चाहिये ॥ २-पूछने योग्य (विषय) ॥ ३-वर्णन, कथन ॥ ४-उस के पश्चात् ॥ ५-मत, सम्मति ॥ ६-मिश्रित वाक्य के अर्थ की सङ्गति ॥ ७-यद्यपि सम्पद् नाम वाचना का तथा वाचना नाम सहयुक्त वाक्यार्थ योजना का नहीं है (इस विषय में आगे लिखा जावेगा), किन्तु यहां पर तो उनके मन्तव्य के अनुसार ऐसा लिखा गया है ॥

वाचना) मानकर तथा आठवें और नवें पद की एक सम्पद् मान कर उक्त महामन्त्र में ऊपर लिखे अनुसार आठ सम्पद् मानी हैं ।

(प्रश्न)—उक्त महानुभावों ने आठवें तथा नवें पद की एक सम्पद् क्यों मानी है ?

(उत्तर)—इस का कारण यह है कि—आठवें और नवें पद की सह-युक्त वाक्यार्थ योजना (१) है और सहयुक्त वाक्यार्थ योजना को ही वे लोग वाचना तथा सम्पद् मानते हैं, अतः उन्हों ने आठ सम्पद् मानी हैं ।

(प्रश्न)—उक्त दोनों पदों की सहयुक्त वाक्यार्थ योजना किस प्रकार होती है ?

(उत्तर)—उक्त दोनों पदों की सहयुक्त वाक्यार्थ योजना अर्थात् मि-श्रित वाक्यार्थ योजना इस प्रकार है कि—"सब मङ्गलों में (यह पञ्च नमस्कार) प्रथम मङ्गल है" ।

(प्रश्न)—अब इस विषय में आप अपना मन्तव्य प्रकट कीजिये ?

(उत्तर)—सम्पद् नाम यति (पाठच्छेद) अथवा वाचना (सहयुक्त वाक्यार्थ योजना) का हमारे देखने में कहीं भी नहीं आया है; अतः (२) हमारा मन्तव्य उक्त विषय में अनुकूल नहीं है ।

(प्रश्न)—आप कहते हैं कि—सम्पद् नाम वाचना का नहीं है; परन्तु वाचना का नाम सम्पद् देखा गया है, देखिये—श्रीआचाराङ्ग सूत्र के लोकसार नामक पांचवें अध्ययन के पांचवें उद्देशक में श्रीमान् शीलाङ्का-चार्य जी महाराज ने अपनी विवृति में लिखा है कि—

आयार सुअ सरीरे, वयणे वायण मई पओग मई ॥
एए सु संपया खलु, अट्ठमिआ संगह परिन्ना ॥ १ ॥

इस का अर्थ यह है कि आचार, श्रुत, शरीर, वचन, वाचना, मति, प्रयोगमति तथा आठवीं सङ्ग्रह परिज्ञा, ये सुन्दर सम्पद् हैं ॥ १ ॥

उक्त वाक्य में वाचना को सम्पद् कहा है, फिर आप वाचना का नाम सम्पद् क्यों नहीं मानते हैं ?

(उत्तर)—उक्त वाक्य जो श्रीमान् शीलाङ्काचार्य जी महाराजने अपनी विवृति में लिखा है, वह प्रसंग (३) इस प्रकार है कि:—

१-मिश्रित वाक्यार्थ सङ्गति ॥ २-इसलिये ॥ ३-विषय ॥

श्रीआचाराङ्ग सूत्र के पांचवें उद्देशक के आदि सूत्र (सेबेमितं जहा ह-दयादि सूत्र) में आचार्य के गुण कहे गये हैं तथा उसे ह्रद (१) की उपमा दी गई है, उक्त सूत्र की व्याख्या करते हुए श्रीमान् विवृतिकारने दृष्टान्त और दार्ष्टान्त (२) को स्पष्ट करने के लिये चार भङ्ग दिखलाये हैं, जिनमें से प्रथम भङ्ग यह है कि—एक ह्रद (जलाशय) सीतासीतोदा प्रवाह ह्रद के समान परिगलत्स्रोत (स्रोतों के द्वारा जल को निकालने वाला) तथा पर्यागलत्स्रोत (स्रोतों के द्वारा जल को लेने वाला) होता है, दूसरा भंग यह है कि—अन्य ह्रद पद्म ह्रद के समान परिगलत्स्रोत (३) होता है किन्तु 'पर्यागलत्स्रोत नहीं होता है, तीसरा भंग यह है कि=अन्य 'ह्रद लवणोदधि के समान परिगलत्स्रोत नहीं होता है किन्तु पर्यागलत्स्रोत होता है तथा चौथा भंग यह दिखलाया है कि—अन्य ह्रद मनुष्यलोक से बाह्य समुद्र के समान न तो परिगलत्स्रोत होता है, और न पर्यागलत्स्रोत होता है।

इस प्रकार ह्रद का वर्णन कर दार्ष्टान्त (आचार्य) के विषय में यह कहा है कि=श्रुतकी अपेक्षासे आचार्य प्रथम भंग पतित (४) होता है; क्योंकि श्रुत का दान और 'ग्रहण भी होता है, साम्परायिक कर्म की अपेक्षा से आचार्य द्वितीय भंग पतित (५) होता है; क्योंकि कषायों (६) के उदय के न होने से उक्त कर्म का ग्रहण नहीं होता है किन्तु तप और कायोत्सर्ग आदि के द्वारा उसका क्षपण (७) ही होता है, आलोचना [८] की अपेक्षा से आचार्य तृतीय भंग पतित [९] होता है, क्योंकि आलोचनाका प्रतिस्राव [१०] नहीं होता है तथा कुमार्ग की अपेक्षा से आचार्य चतुर्थ भंग पतित [११] होता है। क्योंकि कुमार्गका [आचार्य में) प्रवेश [१२] और निर्गम [१३] दोनों ही नहीं होते हैं।

इस के पश्चात् धर्मों के भेद से उक्त चारो भंगों की योजना दिखलाई है।

तदनन्तर [१४] प्रथम भंग पतित [१५] आचार्य के अधिकार से ह्रद के दृ-

१—जलाशय, तालाब ॥ २—जिस के लिये दृष्टान्त दिया जाता है उसे दार्ष्टान्त कहतेहैं॥ ३—परिगलत्स्रोत तथा पर्यागलत्स्रोत का अर्थ अभी लिख चुकेहैं ॥ ४—प्रथम भङ्गमें स्थित ॥ ५—द्वितीय भङ्ग में स्थित ॥ ६—क्रोधादि को ॥ ७—नाश, खपाना ॥ ८—विचार, विवेक ॥ ९—तृतीय भङ्ग में स्थित ॥ १०—विनाश, क्षरण ॥ ११—चतुर्थ भङ्ग में स्थित ॥१२—घुसना ॥१३—निकलना ॥१४—उस के पश्चात् ॥ १५—प्रथम भङ्गमें स्थित ॥

दृष्टान्त की संघटना [१] की है, अर्थात् ह्रद के गुणों को बतला कर आचार्य में भी तत्स्थानीय [२] गुणों का उल्लेख किया है, इसी विषय में यह कहा है कि-"पाँच प्रकार के आचार से युक्त, आठ प्रकार की आचार्यसम्पदों से युक्त तथा छत्तीस गुणों का आधार वह प्रथम अंग सलिल आचार्य ह्रद के समान होता है, जो कि निर्मल ज्ञान से परिपूर्ण है तथा संसक्त आदि दोषों से रहित सुखविहार से क्षेत्र में स्थिति करता है," इत्यादि ।

इसी प्रसंग में निर्युक्तिकारने आचार्य की आठ सम्पद् बतलाई हैं; जिन का उल्लेख ऊपर किया गया है, अतः उक्त वाक्य में सम्पद् नाम मुख्य सामग्री वा मुख्य साधन का है, अर्थात् आचार, श्रुत, शरीर, वचन, वाचना मति, प्रयोगमति तथा संग्रह परिज्ञा, ये आठ आचार्य की सम्पद् [मुख्य, सामग्री वा मुख्य साधन] हैं ।

इस कथन से स्पष्ट हो गया कि-सम्पद् नाम वाचना का नहीं है अर्थात् सम्पद् और वाचना, ये पर्याय वाचक [३] शब्द नहीं हैं ।

किन्तु-वाचना नाम उपदेश अथवा अध्यापन का है, अतएव उक्त वाक्य में आचार्य की आठ सम्पदों में से वाचना को भी एक सम्पद् कहा गया है, परन्तु देश विशेष में लोग भ्रमवशात् दैनिक पाठ [४] वा विश्रान्त [५] पाठ को वाचना समझने लगे हैं, अथवा उन्होंने वाक्यार्थ योजना का नाम भी भ्रमवशात् वाचना समझ रक्खा है और वाचना [उपदेशदान अथवा अध्यापन] जो कि आचार्य की आठ सम्पदों में से एक सम्पद् कही गई है उस सम्पद् शब्द को वाचना [एक वाक्यार्थ योजना] का पर्याय मानकर [६] इसी वाक्यार्थ योजना की आकांक्षा [७] से उक्त मन्त्र में आठ सम्पद् मानली हैं; यह उन का केवल भ्रममात्र है ।

(प्रश्न) कृपया अपने मन्तव्य (८) में कुछ अन्य हेतुओं का उल्लेख कीजिये कि जिसमें ठीक रीतिसे हमारी समझमें यह बात आ जावे कि वाचना (एक वाक्यार्थ योजना) का नाम सम्पद् नहीं है तथा सम्पद् शब्द को

१-योजना, सङ्गति ॥ २-उस के स्थान में ॥ ३-एकार्थवाचक ॥ ४-मारवाड़ देशमें प्रायः लोग दैनिक पाठ (प्रतिदिन की संथा अर्थात् पाठ) को वाचना कहा करते हैं ॥ ५-विश्रान्ति से युक्त पाठ ॥ ६-अपनी इच्छा के अनुसार वाचना नाम एक वाक्यार्थ योजना का मान कर ॥ ७-अभिलाषा ॥ ८-मत ॥

वाचना का पर्याय (१) मानकर जो अन्य महानुभावों ने इस मन्त्र में आठ सम्पद् बतलाई हैं, वह उनका मन्तव्य भ्रान्तियुक्त (२) है।

(उत्तर) यदि इस विषयमें अन्य भी कतिपय (३) हेतुओं की जिज्ञासा (४) है तो सुनो:—

(क) प्रथम कह चुके हैं कि सम्पद् नाम यति (विश्राम स्थान) अथवा उनकी मानी हुई सद्युक्त वाक्यार्थ योजना स्वरूप वाचना का नहीं है, क्योंकि किसी कोषमें यति (विश्रामस्थान) अथवा वाचना (सद्युक्त वाक्यार्थ योजना) रूप अर्थ का वाचक सम्पद् शब्द को नहीं कहा है, फिर सम्पद् शब्द से यति (विश्राम स्थान) अथवा स्वमत सद्युक्त वाक्यार्थ योजना रूप वाचना का ग्रहण कैसे हो सकता है।

(ख) जिस पदार्थके जितने अवान्तर (५) भेद होते हैं; उस पदार्थ का वाचक शब्द अवान्तर भेदों में से किसी भेद विशेषका ही सर्वथा वाचक नहीं होता है, जैसे देखो! सुकृत रूप (धर्म) पदार्थ के क्षान्ति (६) आदि दश अवान्तर भेद हैं, उस सुकृतरूप पदार्थ का वाचक धर्म शब्द अपने अवान्तर भेदोंमें से किसी एक भेद विशेषका ही सर्वथा वाचक नहीं होता है (कि धर्म शब्द केवल क्षान्ति का ही वाचक हो, ऐसा नहीं होता है; (७), इसी प्रकार से अन्य भेदों के विषयमें भी जान लेना चाहिये। बोध रूप (ज्ञान) पदार्थ के मति आदि (८), पांच अवान्तर भेद हैं; उस बोध रूप अर्थ का वाचक ज्ञान शब्द अपने अवान्तर भेदों में से किसी एक भेद विशेष का ही सर्वथा वाचक नहीं होता है (कि ज्ञान शब्द केवल मति का ही वाचक हो; ऐसा नहीं होता है; इसी प्रकारसे अन्य भेदों के विषय में (९) भी जान लेना चाहिये) इसी नियमको सर्वत्र जानना चाहिये, उक्त नियमके ही अनुसार आचार्य सम्बन्धी मुख्य साधन वा मुख्य सामग्रीरूप अर्थ के आचार आदि पूर्वोक्त आठ अवान्तर भेद हैं, उक्त अर्थ का वाचक सम्पद् शब्द अ-

१-एकार्थवाचक ॥ २-भ्रमसहित ॥ ३-कुछ ॥ ४-जानने की इच्छा ॥ ५-मध्यवर्ती, भीतरी ॥ ६-क्षमा ॥ ७-यदि धर्म शब्द केवल क्षान्ति का ही वाचक माना जावे तो उसके कथनसे मार्दव आदि नौ भेदों का ग्रहण ही नहीं हो सके इसी प्रकार से सर्वत्र जानना चाहिये ॥ ८-आदि शब्द से श्रुत आदि को जानना चाहिये ॥ ९-श्रुत आदि भेदों के विषय में भी ॥

पने अवान्तर भेदों में से किसी एक भेद विशेष का ही सर्वथा वाचक नहीं हो सकता है (कि सम्पद् शब्द केवल आचार का ही वाचक हो, ऐसा नहीं होता है, इसी प्रकार से अन्य भेदों के विषयमें भी जान लेना चाहिये), अतः यह निश्चय हो गया कि सम्पद् का वाचना रूप अवान्तर भेद होने पर भी वह (सम्पद् शब्द) केवल वाचना का ही वाचक नहीं हो सकता है, अतः सम्पद् शब्द से वाचना का ग्रहण करना युक्ति सङ्गत (१) नहीं है।

किञ्च—यदि हम असम्भव को भी सम्भव मान थोड़ी देरके लिये यह मान भी लें कि सम्पद् शब्द वाचना का नाम है, तो भी उस वाचनाके लक्ष्य (२) से इस महामन्त्र में आठ सम्पदों का होना नहीं सिद्ध हो सकता है, क्योंकि वाचना जो है वह केवल आचार्य सम्बन्धिनी एक सम्पद् है; उस सम्पद् का इस महामन्त्र के साथमें (कि जिसमें परमेष्ठियों को नमस्कार तथा उनके महत्त्व का वर्णन किया गया है) किसी प्रकार का कोई सम्बन्ध नहीं है, फिर आचार्य सम्बन्धिनी सम्पद् की एक अङ्गभूत वाचनाकी ओर लक्ष्य (३) देकर तथा वाचना शब्द का भ्रान्तितः, (४) विश्रान्त पाठ, पाठच्छेद अथवा सहयुक्त वाक्यार्थ योजना रूप अर्थ मानकर इस महामन्त्र में आठ सम्पदों का मानना नितान्त (५) भ्रमास्पद (६) है।

(ग) यदि सम्पद् नाम सहयुक्त वाक्यार्थ योजना का मान कर (७) ही उक्त महामन्त्र में वे लोग आठ सम्पद् मानते हैं तो आठवें और नवें पदके समान वे लोग छठे और सातवें पद की एक सम्पद् को क्यों नहीं मानते हैं, क्योंकि जैसे आठवें और नवें पदकी सहयोग (८) की अपेक्षा सहयुक्त वाक्यार्थ योजना होती है (अत एव उन्होंने इन दोनों पदोंकी एक सम्पद् मानी है) इसी प्रकार छठे और सातवें पदकी भी सहयोग की अपेक्षा सहयुक्त वाक्यार्थ योजना होती है (९), अतः इन दोनों पदोंको भी उन्हें भिन्न २ सम्पद् न मानकर (आठवें और नवें पदके अनुसार)एक सम्पद् ही माननी चाहिये, ऐसा मानने पर उक्त महामन्त्र में आठके स्थानमें सात ही सम्पद् रह जावेंगी।

(घ) यदि आठवें और नवें पदकी सह युक्त (१०) वाक्यार्थ योजना (११)

१-युक्ति युक्त, युक्ति सिद्ध ॥ २-उद्देश ॥ ॥ ३-ध्यान ॥ ४-भ्रान्ति के कारण ॥ ५-अत्यन्त ॥ ६-भ्रमस्थान भ्रान्त विषय ॥ ७-जितने पाठ में वाक्य का अर्थ पूर्ण हो जावे उसका नाम सम्पद् है इस बातको मानकर ॥ ८-साथ में सम्बन्ध ॥ ९-तात्पर्य यह है कि आठवें और नवें पदके समान छठे और सातवें पदका मिश्रित ही वाक्यार्थ होता है ॥ १०-साथ में जुड़ी हुई ॥ ११-वाक्य के अर्थ की सङ्गति ॥

के द्वारा वे लोग एक सम्पद् मानते हैं तो उक्त दोनों पदों को वे एक पद रूप ही क्यों नहीं मानते हैं, अर्थात् उन्हें दोनों पदों का एक पद ही मानना चाहिये तथा एक पद मानने पर जगत्प्रसिद्ध जो इस महामन्त्र के नौ पद हैं (कि जिन नौ पदोंके ही कारण इस को नवकारमन्त्र कहते हैं); उनमें व्याघात (१) आजावेगा अर्थात् आठ ही पद रह जावेंगे ।

(ङ) दोनों पदों को एक पद मानने पर यह भी दूषण (२) आवेगा कि इस महामन्त्र के जो (नौ पदों को मानकर) तीन लाख, बासठ सहस्र, आठ सौ अस्सी भंग बनते हैं वे नहीं बन सकेंगे (क्योंकि भङ्गों की उक्त संख्या नौ पदों को ही मानकर बन सकती है), यदि आठ ही पदोंके भङ्ग बनाये जावें तो केवल चालीस सहस्र, तीन सौ बीस ही भङ्ग बनेंगे ।

(च) यदि आठवें और नवें पदकी एक ही सम्पद् है तो अनानुपूर्वी भङ्गोंमें उन (दोनों पदों) की एक सम्पद् कैसे रह सकेगी, क्योंकि अनानुपूर्वी भङ्गोंमें शतशः (३) स्थानोंमें आठवें और नवें पद की एक साथमें स्थिति न होकर कई पदोंके व्यवधान (४) में स्थिति होती है, इस दशामें सम्पद् का विच्छेद (५) अवश्य मानना पड़ेगा ।

(छ) इस मन्त्र में नौ पद हैं तथा नौओं पदोंकी (अनानुपूर्वी के भेद से) गुणनरूप क्रिया भी भिन्न २ है; अर्थात् पदों की अपेक्षा गुणनरूप क्रियायें भी नौ हैं, इसीलिये इसे नवकार मन्त्र भी कहते हैं, किन्तु उक्त दोनों पदोंकी एक सम्पद् मानने पर सहयुक्त वाक्यार्थ योजना के द्वारा न तो नौ पदों की ही सिद्धि होती है और न नौ क्रियाओंकी ही सिद्धि होती है और उनके सिद्ध न होनेसे "नवकार" संज्ञा (६) में भी त्रुटि आती है ।

(ज) यदि उक्त दोनों पदोंकी एक ही सम्पद् है तथा वह क्रमभाविनी (७) है तो पश्चानुपूर्वी में ९, ८, ७, ६, ५, ४, ३, २, १, इस प्रकार से नौओं पदोंकी स्थिति होनेपर उस क्रमोच्चारण भाविनी (८) एक सम्पद् का विच्छेद (९) अवश्य हो जावेगा ।

इस विषयमें और भी विशेष वक्तव्य (१०) है परन्तु ग्रन्थ के विस्तार के भयसे उसका उल्लेख नहीं किया जाता है ।

१–बाधा ॥ २–दोष ॥ ३–सैकड़ों ॥ ४–बीच में स्थित होना ॥ ५–टूटना ॥ ६–नाम ७–क्रम से होने वाली ॥ ८–क्रमानुसार उच्चारण से रहने वाली ॥ ९–टूटना ॥ १०–कथनीय विषय ॥

(प्रश्न) यदि सम्पद् नाम यति (पाठच्छेद वा विश्रान्त पाठ) अथवा सद्युक्त वाक्यार्थ योजना का नहीं है तो किसका है ?

(उत्तर) सम्पद् नाम सिद्धि का है; अर्थात् सिद्धि, सम्पद् और सम्पत्ति इनको धरणि आदि कोषों में पर्याय वाचक लिखा है (१), अतः यह जानना चाहिये कि उक्त मन्त्रराजमें आठ सिद्धियां सन्निविष्ट हैं, अर्थात् गुप्त क्रिया विशेष से इस मन्त्र के आराधन के द्वारा आठ सिद्धियोंकी प्राप्ति होती है ।

(प्रश्न) आठ सिद्धियां कौन २सी हैं ?

(उत्तर) अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व और वशित्व, ये आठ सिद्धियां हैं ।

[प्रश्न] कृपया इनके अर्थ का विवरण कीजिये कि किस २ सिद्धि से क्या २ होता है ?

[उत्तर] उनके अर्थ का विस्तार बहुत बड़ा है, उसको ग्रन्थ के विस्तार के भयसे न लिखकर यहांपर केवल अति संक्षेपसे उनका भावार्थ मात्र लिखते हैं, देखोः—

(क) अणिमा शब्द का अर्थ अणु अर्थात् सूक्ष्म होना है (अणोर्भावः अणिमा), इसलिये इस सिद्धि के प्राप्त होनेसे मनुष्य परमाणु के समान

१-इस विषयमें कई प्रचलित कोषोंके प्रमाणों को भी लिखते हैं देखो ! (क) अमर कोषमें सम्पद् सम्पत्ति श्री लक्ष्मी इन शब्दों को पर्याय वाचक कहा है (ख) अनेकार्थ संग्रह में सम्पद् वृद्धि गुणोत्कर्ष हार इन शब्दों को पर्याय वाचक कहा है (ग) शब्द कल्प द्रुम कोष में विविध कोषोंके प्रमाण से लिखा है कि "सम्पत्ति श्री लक्ष्मी सम्पद् ये पर्याय वाचक हैं" "सम्पत्ति नाम ऋद्धि का है" "सम्पत्ति नाम भूति का है" "सम्पद् नाम सम्पत्ति का है" "सम्पद् नाम गुणोत्कर्ष का है" "सम्पद् नाम हारभेद का है" उक्त कोष ने धरणि कोष का प्रमाण देकर कहा है कि "सम्पद् सम्पत्ति और सिद्धि (अणिमादि रूप अष्ट सिद्धि) ये पर्याय वाचक शब्द हैं" सम्पत्ति वा सम्पद् शब्द को "सिद्धि" वाचक लिखकर पुनः उक्त कोषमें अणिमा आदि आठ सिद्धियों का वर्णन किया है इन प्रमाणोंसे यह मानना चाहिये कि यह महामन्त्र आठ सम्पदों अर्थात् आठ सिद्धियोंसे युक्त है तात्पर्य यह है कि इस महामन्त्र में आठ सिद्धियोंके देने की शक्ति है ॥

सूक्ष्म हो जाता है, कि जिससे उसे कोई नहीं देख सकता है।

(ख) महिमा शब्द का अर्थ महान् (बड़ा) होना है (महतो भावो महिमा), इसलिये इस सिद्धि के प्राप्त होनेसे मनुष्य अति महान् हो सकता है तथा सर्व पूज्य (१) हो सकता है।

(ग) गरिमा शब्द का अर्थ गुरु अर्थात् भारी होना है (गुरोर्भावो गरिमा), इसलिये इस सिद्धि के प्राप्त होनेसे मनुष्य अपनी इच्छाके अनुसार गुरु (भारी) हो सकता है।

(घ) लघिमा शब्द का अर्थ लघु (हलका) होना है (लघोर्भावो लघिमा), इसलिये इस सिद्धि के प्राप्त होने से मनुष्य अपनी इच्छा के अनुसार लघु तथा शीघ्रगामी हो सकता है।

(ङ) प्राप्ति शब्द का अर्थ मिलना है (प्रापणं प्राप्तिः), अथवा जिस के द्वारा प्रापण (लाभ) होता है उस को प्राप्ति कहते हैं (प्राप्यतेऽनयेति प्राप्तिः), इसलिये इस सिद्धि के प्राप्त होने पर मनुष्यको कोई वस्तु अप्राप्य नहीं रहती है; अर्थात् एक ही स्थान में बैठे रहने पर भी दूरवर्त्ती आदि पदार्थ का स्पर्शादि रूप प्रापण हो सकता है।

(च) प्राकाम्य शब्दका अर्थ इच्छाका अनभिघात है (प्रकामस्य भावः प्राकाम्यम्), इस लिये इस सिद्धि के प्राप्त होने पर जो इच्छा उत्पन्न होती है वह पूर्ण होती है।

(छ) ईशित्व शब्द का अर्थ ईश (स्वामी) होना है (ईशिनो भाव ईशित्वम्), इसलिये इस सिद्धि के प्राप्त होने से सब का प्रभु हो सकता है कि जिस से स्थावर भी उस के आज्ञाकारी हो जाते हैं।

(ज)–वशित्व शब्द का अर्थ वशवर्त्ती होना है (वशिनो भावो वशित्वम्), इसलिये इस सिद्धि के प्राप्त होने से सब पदार्थ व प्राणी उस के वशीभूत हो जाते हैं और वह (सिद्ध पुरुष) उन से जो चाहे सो कार्य ले सकता है लिखा है कि इस सिद्धि के प्राप्त होने से सिद्ध पुरुष जलके समान पृथिवी में भी निमज्जन और उन्मज्जन कर सकता है (२)।

(प्रश्न)–अब कृपया यह बतलाइये कि इस मन्त्रराज के किस २ पद में कौन २ सी सिद्धि सन्निविष्ट (३) है ?

१–सबका पूजनीय ॥ २–सिद्धियोंके विषयमें यह अति संक्षेपसे कथन किया गया है, इनका विस्तार पूर्वक वर्णन देखना हो तो बड़े २ कोषोंमें तथा योगशास्त्र आदि ग्रन्थोंमें देख लेना चाहिये ॥ ३–समाविष्ट ॥

(उत्तर)–इस मन्त्रराज के निम्नलिखित (१) पदों में निम्नलिखित सिद्धियां सन्निविष्ट हैं:–

१–"णमो" इस पद में अणिमा सिद्धि सन्निविष्ट है।

२–"अरिहन्ताणं" इस पद में महिमा सिद्धि सन्निविष्ट है।

३–"सिद्धाणं" इस पद में गरिमा सिद्धि सन्निविष्ट है।

४–"आयरियाणं" इस पद में लघिमा सिद्धि सन्निविष्ट है।

५–"उवज्झायाणं" इस पद में प्राप्ति सिद्धि सन्निविष्ट है।

६–"सव्वसाहूणं" इस पद में प्राकाम्य सिद्धि सन्निविष्ट है।

७–"पञ्चणमोक्कारो" इस पद में ईशित्व सिद्धि सन्निविष्ट है।

८–"मङ्गलाणं" इस पद में वशित्व सिद्धि सन्निविष्ट है।

(प्रश्न) "णमो" इस पद में अणिमा सिद्धि क्यों सन्निविष्ट है?

(उत्तर)–"णमो" पद में जो अणिमा सिद्धि सन्निविष्ट है उस के हेतु ये हैं:–

(क) "णमो" यह पद संस्कृत के नमः शब्द से बनता है और "नमः" शब्द "णम्" धातुसे असुन् प्रत्यय के लगाने से बनता है, उक्त धातुका अर्थ नमना है तथा नमना अर्थात् नम्रता मनोवृत्ति का धर्म है (२) कि जो (मनोवृत्ति) इस लोक में सर्वसूक्ष्म (३) मानी जाती है, इस लिये "णमो" पद के ध्यान से अणिमा सिद्धि की प्राप्ति होती है।

(ख)–संस्कृत के 'मनः" पद में यदि आद्यन्त (४) अक्षरों का विपर्यय (५) किया जावे (क्योंकि प्राकृत में अक्षर विपर्यय भी देखा जाता है जैसे करेणू=कणेरू, वाराणसी=वाणारसी, आलानम्=आणालो, अचलपुरम्=अलचपुरं, महाराष्ट्रम्=मरहट्ठं, ह्रदः=द्रहो, इत्यादि) तो भी "णमो" पद बन जाता है, तथा मनोमति के सूक्ष्मतम होने के कारण "णमो" पद के ध्यान से अणिमा सिद्धि की प्राप्ति होती है।

(ग)–अणिमा शब्द अणु शब्द से भाव अर्थ में इमन् प्रत्यय के लगने से बनता है, इस अणिमा शब्द से ही प्राकृत शैली से "णमो" शब्द बन स-

---

१–नीचे लिखे ॥ २–तात्पर्य यह है कि मनोवृत्ति रूप धर्मी के बिना नम्रतारूप धर्मकी अवस्थिति नहीं हो सकती है ॥ ३–सबसे सूक्ष्म ॥ ४-आदि और अन्त ॥ ५–परिवर्तन ॥

जाता है (१), तद्यथा (२)-प्रक्रिया दशा में "अणु इमा" ऐसी स्थिति है, जब अणु शब्द का उकार मा के आगे गया और गुण होकर "मो" बन गया, आदि का अकार णकार के आगे गया और णकार पूरा हो गया, इस लिये "णइमो" ऐसा पद बना, इकार का लोप करने से "णमो" पद बन गया, अतः "णमो" पद के ध्यान से अणिमा सिद्धि होती है।

(घ)-अथवा आदि अकारका लोप करने पर तथा "स्वराणां स्वराः" इस सूत्र से इकार के स्थान में अकार तथा आकार के स्थान में ओकार आदेश करने से प्राकृत में अणिमा शब्द से "णमो" पद बन जाता है; अतः (३) उस के ध्यान से अणिमा सिद्धि की प्राप्ति होती है।

(ङ)-प्राकृत में "णम्" शब्द वाक्यालङ्कार अर्थ में आता है, अलङ्कार दो प्रकार का है शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार, एवं वाक्य भी अर्थ विशिष्ट (४) शब्दों की यथोचित योजना (५) से बनता है तथा शब्द और अर्थ का वाच्य वाचक भावरूप मुख्य सम्बन्ध है, अतः 'णम" पदसे इस अर्थ का बोध (६) होता है कि शब्द और अर्थ के मुख्य सम्बन्ध के समान आत्मा का जिससे मुख्य सम्बन्ध है उस के साथ ध्यान करना चाहिये, आत्मा का मुख्य सम्बन्ध आन्तर (७) सूक्ष्म शरीर से है, (८) अतः स्थूल

१-क्योंकि प्राकृत में स्वर, सन्धि, लिङ्ग, धात्वर्थ, इत्यादि सबका "बहुलम्" इस अधिकार सूत्र से प्रयोग के अनुसार व्यत्यय आदि हो जाता है ॥ २-जैसे देखो ! ३-इसलिये ॥ ४-अर्थ से युक्त ५-संयोग ॥ ६-ज्ञान ॥ ७-भीतरी ८-वादी ने प्रश्न किया है कि "आता तथा जाता हुआ आत्मा दीख नहीं पड़ता है, केवल देह के होनेपर संवेदन दीख पड़ता है तथा देहके न रहने पर भस्मावस्थामें कुछ भी संवेदन नहीं दीखता है, इसलिये आत्मा नहीं है" इत्यादि इस प्रश्न के उत्तरमें श्री मलयगिरि जी महाराजने स्वकृत श्रीनन्दी सूत्र की वृत्ति में लिखा है कि "आत्मा स्वरूप से अमूर्त है, आन्तर शरीर भी अति सूक्ष्म होनेके कारण नेत्र से नहीं दीख पड़ता है, कहा भी है कि "अन्तराभव देह भी सूक्ष्म होनेके कारण दीख नहीं पड़ता है, इसी प्रकार निकलता तथा प्रवेश करता हुआ आत्मा भी नहीं दीख पड़ता है, केवल न दीखनेसे ही पदार्थ का अभाव नहीं होता है" इसलिये आन्तर शरीर से युक्त भी आत्मा आता तथा जाता हुआ नहीं दीख पड़ता है" इत्यादि, इस कथन से सिद्ध है कि आत्मा का मुख्य सम्बन्ध सूक्ष्म आन्तर शरीर से है ॥

भौतिक (१)विषयों का परित्याग कर आन्तर सूक्ष्म शरीर में अधिष्ठित [२] होकर आत्माको अपने ध्येय [३] का स्मरण और ध्यान करना चाहिये, अगले "ओ" शब्दसे ध्यानकी रीति जाननी चाहिये, "ओ" अक्षर अकार और उकार के संयोग से बनताहै, अकार का कण्ठ स्थान है तथा उकार का ओष्ठ स्थान है, कण्ठ स्थानमें उदान [४] वायु का निवास है, योगविद्यानिष्णात महात्माओं का मन्तव्य है कि ओष्ठावरण के द्वारा उदान वायु का संयम करने से अणिमा सिद्धि होती है [५], अतः यह सिद्ध हुआ कि ओष्ठों को आवृत कर [६], उदान वायु का संयम कर; स्थूल भौतिक विषयोंसे चित्तवृत्ति को हटाकर, आन्तर सूक्ष्म शरीरमें अधिष्ठित होकर, यथाविधि अपने ध्येय का ध्यान करनेसे जैसे योगाभ्यासी जन अणिमा सिद्धिको प्राप्त होते हैं वैसे ही उक्त क्रियाके अवलम्बन पूर्वक "णमो" पदके स्मरण और ध्यान से अणिमा सिद्धि की प्राप्ति होती है, अतः मानना चाहिये कि "णमो" पदमें अणिमा सिद्धि सन्निविष्ट है ।

[च] "णम" अर्थात् आदि शक्ति उमाका ध्यान करना चाहिये, ओकार अक्षर से ङ धारामें लिखित [७] ध्यान की रीति जाननी चाहिये, अर्थात् ओष्ठावरण [८] कर उदान वायु का संयम कर आदि शक्ति उमा का ध्यान किया जाता है, महामाया आदि शक्ति उमा सूक्ष्म रूप से सब के हृदयों में प्रविष्ट है, जैसा कि कहा है कि:—

या देवी सर्व भूतेषु, सूक्ष्मरूपेण तिष्ठति ॥
नमस्तस्यै नमस्तस्यै, नमस्तस्यै नमोनमः ॥१॥

अतः महामाया आदि शक्ति उमा प्रसन्न होकर ध्याता जनोंको जिस प्रकार अणिमा सिद्धि को प्रदान करती है उसी प्रकार "णमो" पद के ध्यान से अणिमा सिद्धि प्राप्त होती है, अतः "णमो" पदमें अणिमा सिद्धि सन्निविष्ट है ।

१-भूत जन्य ॥ २-अधिष्ठान युक्त ॥ ३-ध्यान करने योग्य ॥ ४-उदान वायु का स्वरूप आदि योग शास्त्र के पांचवें प्रकाश के ११८ वें श्लोकार्थ में देखो ॥ ५-अतएव श्रीहेमचन्द्राचार्य जी महाराजने योगशास्त्र के पांचवें प्रकाश के २४ वें श्लोकमें लिखा है कि "उदान वायु का विजय करनेपर उत्क्रान्ति तथा जल और पंक आदि से अबाधा होती है" ६-बन्द कर ॥ ७-लिखी हुई ॥ ८-ओष्ठों को बन्द कर ॥

(छ) अथवा "णमो" शब्द की सिद्धि इस प्रकार जाननी चाहिये कि 'न उमा" ऐसी स्थिति है, यहां नञ् अव्यय निषेधार्थक (१) नहीं; किन्तु "अब्राह्मणमानय" इत्यादि प्रयोगोंके समान सादृश्य (२) अर्थ में है, अतः यह अर्थ होता है कि–उमाके सदृश जो महामाया रूप आदि शक्ति है उसका ध्याता जन ध्यान कर अणिमा सिद्धि को प्राप्त होते हैं, इस व्यवस्था में "उमा" शब्द के उकार का प्राकृत शैली से लोप हो जाता है, तथा आकार के स्थानमें "स्वराणां स्वराः" इस सूत्रसे ओकार आदेश हो जाता है तथा आदिवर्ती (३) नकार के स्थान में "नोणः सर्वत्र" इस सूत्र से णकार आदेश हो जाता है,इस प्रकार से "णमो" शब्द की सिद्धि हो जाती है, अब तात्पर्य यह है कि जैसे उमाके सदृश महामाया रूप आदि शक्ति का ध्यानकर ध्याता (४) जन अणिमा सिद्धि को प्राप्त होते हैं, उसी प्रकार "णमो" पदके ध्यानसे अणिमा सिद्धि प्राप्त होती है, अतः "णमो" पदमें अणिमा सिद्धि सन्निविष्ट है ।

(ज) "णमो" पदका णकार अणिमा शब्द में गर्भित (५) है तथा अन्त में मकार तुल्यानुयोगी (६) है, अतः 'णमो" पदके जप और ध्यानसे अणिमा सिद्धि की प्राप्ति होती है, यही तो कारण है कि "णमो" पदको प्रथम रक्खा है, अर्थात् उपासना क्रिया वाचक (७) शब्द को प्रथम तथा उपास्य देव वाचक (८) शब्द का पीछे कथन किया है, अर्थात् "अरि हंताणं णमो" इत्यादि पाठ को न रखकर "णमो अरिहंताणं" इत्यादि पाठ को रक्खा है किन्तु–णकार अक्षर के अशुभ होनेपर भी ज्ञान वाचक होनेके कारण मङ्गल स्वरूप होनेसे आदि मङ्गल के लिये तथा आदि अक्षर को सिद्धि गर्भित दिखलानेके लिये "णमो" पदको पहिले रक्खा गया है ।

(झ) अथवा "ण, मा, उ," इन अक्षरों के संयोग से "णमो" शब्द बनता है, अतः यह अर्थ होता है कि ध्याता जन णकार स्थान मूर्धामें अर्थात्

१–निषेध अर्थका वाचक ॥ २–समानता ॥ ३–आदिमें स्थित ॥ ४–ध्यानकर्ता ॥ ५–गर्भ (मध्य) में स्थित ॥ ६–समान अनुयोग (सम्बन्ध विशेष) से युक्त ॥ ७–उपासना रूप क्रिया का वाचक ॥ ८–उपासना करने योग्य देव का वाचक ॥

ब्रह्माण्ड में, मा अर्थात् लक्ष्मी भगवती को, उ अर्थात् अनुकम्पा का ध्यान करते हैं तथा लक्ष्मी भगवती का रूप सूक्ष्म है, अतः उक्त क्रिया के करने से जिस प्रकार उन्हें अणिमा सिद्धि की प्राप्ति होती है, उसी प्रकार "णमो" पदके ध्यानसे अणिमा सिद्धि की प्राप्ति होती है, अतः "णमो" पदमें अणिमा सिद्धि सन्निविष्ट है।

(ञ) विशेष बात यह है कि "णम" इस पदमें अतिशयित (१) म-हत्त्व (२) यह है कि इस पदमें सर्वसिद्धियों के देनेकी शक्ति विद्यमान है, इसके लेखन प्रकार (३) के विषयमें कहा गया है कि:—

कुण्डलीत्त्वगता रेखा, मध्यतस्तत ऊर्ध्वतः ॥
वामादधोगता सैव, पुनरूर्ध्वं गता प्रिये ॥ १ ॥
ब्रह्मेशविष्णुरूपा सा, चतुर्वर्गफलप्रदा ॥
ध्यानमस्य णकारस्य, प्रवक्ष्यामिचतच्छृणु ॥ २ ॥
द्विभुजां वरदांरम्यां, भक्ताभीष्टप्रदायिनीम् ॥
राजीवलोचनां नित्यां, धर्मकामार्थ मोक्षदाम् ॥ ३ ॥
एवं ध्यात्वा ब्रह्मरूपां, तन्मन्त्रं दशधा जपेत् ॥ ४ ॥

(इति वर्णोद्धारतन्त्रे) ॥

अर्थ—णकार अक्षर में मध्य भागमें कुण्डली रूप रेखा है, इसके पीछे वह ऊर्ध्वगत (४) है, फिर वही वामभागसे (५) नीचे की तरफ गई है और हे प्रिये ! फिर वही ऊपर को गई है ॥ १ ॥

वह (त्रिविध रेखा) ब्रह्मा, ईश और विष्णुरूप है, और चतुर्वर्ग रूप फल को देती है, अब मैं इस णकार के ध्यान को कहता हूं, तुम उसे सुनो ॥ २ ॥

दो भुजावाली, वरदायिनी, सुन्दरी, भक्तों को अभीष्ट फल देनेवाली कमल के समान नेत्रवाली, अविनाशिनी (६) तथा धर्म काम अर्थ और मोक्ष को देनेवाली, उस ब्रह्मरूपाका ध्यान कर उसके मन्त्र को दश प्रकारसे जपे ॥ ३ ॥ ४ ॥

१-अतिशय युक्त, अधिक ॥ २-महिमा, विशेषता ॥ ३-लिखनेकी रीति ॥ ४-ऊपर को गई हुई ॥ ५-बाईं ओर ॥ ६-विनाश रहित ॥

इसके स्वरूप के विषयमें कहा गया है कि:—

णकारं परमेशानि, या स्वयं परकुण्डली ॥
पतिविद्युल्लताकारं, पञ्चदेवमयं सदा ॥ १ ॥
पञ्च प्राणमयं देवि,सदा त्रिगुण संयुतम् ॥
आत्मादि तत्त्वसंयुक्तं, महामोहप्रदायकम् ॥ २ ॥

(इति कामधेनुतन्त्रे)

अर्थ–हे परमेश्वरी ! जो स्वयं पर कुण्डली है उसको णकार जानो, उस का स्वरूप पीत वर्ण (१) की विद्युत (२) के समान है तथा उसका स्वरूप सर्वदा पञ्चदेवमय (३) है ॥ १ ॥

हे देवि ! उसका स्वरूप पञ्च प्राणमय (४) है, सदा तीन गुणों से युक्त रहता है, उसमें आत्मा आदि तत्त्व संयुक्त रहते हैं तथा वह महामोहका प्रदायक (५) है ॥ २ ॥

उक्त णकार के चौबीस नाम कहे गये हैं:–

णो निर्गुणं रतिर्ज्ञानं, जम्भनः पक्षिवाहनः ॥
जयाशम्भो नरकजित्, निष्फला योगिनीप्रियः ॥ १ ॥
द्विमुखं कोटवी श्रोत्रं, समृद्धि र्बोधनी मता ॥
त्रिनेत्रो मानुषी व्योम, दक्षपादांगुलेर्मुखः ॥ २ ॥
माधवः शङ्खिनीवीरो, नारायणश्च निर्णयः ॥ ३ ॥

(इति नानातन्त्र शास्त्रम्) ॥

अर्थ–निर्गुण, रति, ज्ञान, जम्भन, पक्षिवाहन, जया, शम्भ, नरकजित्, निष्फला, योगिनीप्रिय, द्विमुख, कोटवी, श्रोत्र, समृद्धि, बोधनी त्रिनेत्र, मानुषी, व्योम, दक्षिण चरण की अंगुलि का मुख, माधव, शंखिनी, वीर, नारायण और निर्णय ॥ १ ॥ २ ॥ ॥ ३ ॥

अब विचार करने का विषय यह है कि–णकार की आकृति (६) को ब्रह्मा, ईश और विष्णु रूप कहा है, चतुर्वर्गफलप्रदा (७) कहा है, णकार

१–पीले रंग ॥ २–बिजली ॥ ३–पञ्चदेव स्वरूप ॥ ४–पांच प्राणरूप ॥ ५–देने-वाला ॥ ६–स्वरूप ॥ ७–चतुर्वर्ग (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष) रूप फल कोदेनेवाली ॥

का ध्यान उसकी अधिष्ठात्री वरदा के द्वारा कहा गया है, सकार के स्वरूप को पीत विद्युत् के समान कहा है, जोकि वृष्टिका उपलक्षक (१) है, जैसा कि कहा भी है कि:—

वाताय कपिला विद्युत्, आतपायातिलोहिनी ॥
पीता वर्षाय विज्ञेया, दुर्भिक्षाय सिताभवेत् ॥ १ ॥

अर्थ कपिल वर्ण की विद्युत् वात (पवन) के लिये है, अति लालवर्ण की विद्युत् आतप (१) के लिये है, पीत वर्ण की विद्युत् वृष्टि के लिये है तथा श्वेत वर्ण की विद्युत् दुर्भिक्ष के लिये है ॥ १ ॥

तात्पर्य यह है कि सकार का स्वरूप वृष्टि के समान सर्वसुखदायक है फिर सकार का स्वरूप पञ्चदेवमय कहा है, पञ्च देव ये ही पञ्च परमेष्ठी जानने चाहिये, जैसा कि यहांपर सकार का पञ्च परमेष्ठियों के साथमें संयोग किया गया है, यथा "अरिहंताणं" "सिद्धाणं" "आयरियाणं" "उवज्झायाणं" "सव्वसाहूणं" और केवल यही कारण है कि सिद्धियोंके आठों पदोंमें "णम्" का योग किया गया है, फिर देखिये कि सकार को पञ्चप्राणमय कहा है, क्योंकि—योगीजन पांच प्राणोंका संयम कर सिद्धिको प्राप्त होते हैं, अतः स्पष्ट भाव यह है कि जैसे ध्यान कर्ता पुरुष ब्रह्मा, विष्णु और महेशरूप सकार की आकृति (४) का उसकी अधिष्ठात्री देवी वरदा का ध्यान कर चिन्तन करते हैं तथा सिद्धि को प्राप्त होते हैं, जैसे योगी जन पांच प्राणों का संयम कर सिद्धिको प्राप्त करते हैं, जैसे श्रीजैनसिद्धान्तानुयायी पञ्च परमेष्ठि रूप पञ्च देव का ध्यान कर सिद्धिको प्राप्त करते हैं, जैसे तान्त्रिक जन उसके योगिनी प्रिय नाम का स्मरण कर योगिनी उपासना से सिद्धि को प्राप्त करते हैं और जैसे सांख्यमतानुयायी उसे ज्ञान स्वरूप मानकर तथा नरकजित् मानकर निर्गुणरूपमें उसका ध्यान कर सिद्धि को प्राप्त करते हैं, ठीक उसी प्रकार मनुष्यमात्र बड़ी सुगमता (५) से "णम" इस पदके जप और ध्यानसे सर्व सिद्धियोंको प्राप्त होता है, अतः "णमो" पदमें अणिमा सिद्धि सन्निविष्ट है, तथा अग्रवर्ती (६) सिद्धि दायक (७) सात पदोंमें भी "णम" का प्रयोग किया गया है।

१–सूचक ॥ २–धूप ॥ ३–ध्यान करनेवाले ॥ ४–स्वरूप ॥ ५–सरलता ॥ ६–आगेके ७–सिद्धिके देनेवाले ॥

(प्रश्न) "अरिहंताणं" पदमें महिमा सिद्धि क्यों सन्निविष्ट है ?

(उत्तर) "अरिहंताणं" पदमें जो महिमा सिद्धि सन्निविष्ट है उसके हेतु ये हैं।

(क) "अरिहंताणं" इस प्राकृत पदका संस्कृत पर्याय (१) "अर्हताम्" है, "अर्हपूजायाम्" अथवा "अर्ह प्रशंसायाम्" इस धातुने अर्हत् शब्द बनता है, अतः जो पूजा व प्रशंसा के योग्य हैं उन को अर्हत् कहते हैं, पूजा और प्रशंसा का हेतु महत्व अर्थात् महिमा है, तात्पर्य यह है महिमा से विशिष्ट (२) अर्हतों का ध्यान करने से महिमा सिद्धि की प्राप्ति होती है।

(ख) "अर्हत्" शब्द की व्याख्या में प्रायः सब ही टीकाकारों ने यही व्याख्या की है कि "जो शक्र (३) आदि देवों से नमस्कृत (४) और अष्ट (५) महाप्रातिहार्यों से विशिष्ट होकर पूजा के योग्य हैं उन को अर्हत् वा जिन कहते हैं भला ऐसे महत्वसे विशिष्ट अर्हतोंके ध्यान से महिमा सिद्धि की प्राप्ति क्यों नहीं होगी, अतः मानना चाहिये कि "अरिहंताणं" पद में महिमा सिद्धि सन्निविष्ट है।

(ग) सिद्धि का गर्भाहार (मध्याहार) इकार उक्त पदके गर्भ में है अतः शब्द सामर्थ्य विशेष (७) से "अरिहंताणं" पद के ध्यानसे महिमा सिद्धि की प्राप्ति होती है।

(घ) "अरिहंताणं" इस पदका संस्कृत पर्याय "अरिहन्तृणाम्" भी होता है, अर्थात् जो इन्द्रिय विषयों और कामादि शत्रुओं का नाश करते हैं उन को अरिहन्तृ (अरिहन्त) कहते हैं। कामादि शत्रुओं का दमन (८) वा नाश करना महात्माओं वा महानुभावों का कार्य है, अतः श्री अरिहन्त रूप महानुभावों का ध्यान करने से महिमा सिद्धि की प्राप्ति होती है।

(ङ) "अरिहन्ताणं" इस पद में योगिजनों की क्रिया के अनुसार महिमा सिद्धिके लिये इस क्रिया का प्रतिभास (९) होता है कि योगीजन "अ" अर्थात् कण्ठ स्थानमें स्थित उदान वायुको "र" अर्थात् मूर्धा स्थान पर ले जाते हैं, पीछे "ह" अर्थात् तालु देशमें उसका संयम करते हैं, साथमें

१-एकार्थ वाचक शब्द ॥ २-युक्त ॥ ३-इन्द्र ॥ ४-नमस्कार किये हुए ॥ ५-आठ ॥ ६-आठ महाप्रातिहार्यों का स्वरूप प्रथम लिख चुके हैं ७-शक्ति विशेष ॥ ८-दबाना ॥ ९-प्रकाश, विज्ञप्ति, सूचना ॥

"हं" अर्थात् अनुनय का द्योतन (१) करते हैं, और "ताणं" अर्थात् दन्त मण्डल तथा ओष्ठ मण्डल को विस्तृत (२) रखते हैं, इस प्रकार अभ्यास करने से उन योगी जनोंको जिस प्रकार महिमा सिद्धि की प्राप्ति होती है उसी प्रकार "अरिहंताणं" पद के ध्यान जप और स्मरण करने से महिमा सिद्धि की प्राप्ति होती है, इस विषयमें यह भी जान लेना चाहिये कि अणिमा सिद्धि की प्राप्ति के लिये उदान वायुके संयम के साथ योगीजनों को ओष्ठ मण्डल को आवृत (३) करना पड़ता है (जैसा कि पूर्व अणिमा सिद्धिके वर्णन में लिख चुके हैं) इसका कारण यह है कि ओष्ठ मण्डल के आवरण करनेसे बाह्य (४) पवन भीतर प्रवेश नहीं कर सकता है तथा प्राणायाम पूर्वक उदान वायु का संयम होनेसे एवं श्वास गति के अवरोध (५) होनेसे नासिका के द्वारा भी बाह्य पवन भीतर प्रविष्ट नहीं हो सकता है, किन्तु-भीतरी पवन भी संयमके प्रभावसे दग्ध (६) हो जाता है, ऐसा होने से अणुभाव (७) के द्वारा उन्हें अणिमा सिद्धि की प्राप्ति होती है, परन्तु महिमा सिद्धि में दन्तमण्डल और ओष्ठ मण्डल को खुला रखना पड़ता है, इस हेतु संयम क्रिया विशेषके द्वारा अमित (८) पवन के प्रवेश से योगी महत्त्व को धारण कर सकता है, विज्ञान वेत्ता (९) जन इस बातको अच्छे प्रकार जानते हैं कि प्रति सेकण्ड कई सहस्त्र मन पवन का बोझ हमारे शरीर पर पड़ता है वह सब बोझ संयम क्रिया विशेष के द्वारा योगी जन अपने शरीर में प्रविष्ट करलेता है तथा उसे महिमा के रूप में परिणत कर लेता है, हां इसमें विशेषता यह है कि योगाभ्यासी पुरुष अपनी शक्ति के द्वारा पवन के जितने भागको लेना चाहता है उतना ही लेता है, अतएव वह जितने बड़े रूपको धारण करना चाहता है उतना ही कर सकता है।

(प्रश्न) "सिद्धाणं" पद्में गरिमा सिद्धि क्यों सन्निविष्ट है ?

(उत्तर) "सिद्धाणं" पद्में जो गरिमा सिद्धि सन्निविष्ट है उस के हेतु ये हैं:—

(क) "सिद्धाणं" पद सर्वथा गुरुमात्राविशिष्ट (१०) है और अपने

१-प्रकाश ॥ २-विस्तार युक्त ॥ ३-आच्छादित, ढका हुआ ॥ ४-बाहरी ॥ ५-रुकावट ॥ ६-जला हुआ, भस्मरूप ॥ ७-सूक्ष्मपन ॥ ८-बे परिणाम ॥ ९-विज्ञान के जानने वाले ॥ १०-गुरु मात्राओंसे युक्त ॥

स्वरूप के द्वारा ही गुरुभाव अर्थात् गरिमा का द्योतक (१) है, अतः इसके जप और ध्यानसे गरिमासिद्धि की प्राप्ति होती है।

(ख) सिद्धि पद अर्थात् मोक्ष को प्राप्त जीव सिद्ध कहलाते हैं, सिद्धि पद सबसे गुरु है अतः तद्वर्ती (२) महात्माओंके ध्यानसे गरिमा सिद्धिकी प्राप्ति होती है।

(ग)—"सिद्धा" पद से इस अर्थ का द्योतन (३) होता है कि—"सिद्धा" इस नाम से सिद्धेश्वरी योगिनी का ध्यान उपासक (४) जन करते हैं तथा "णम्" के विषय में पूर्व कहा जा चुका है कि—'णम्' के जप और ध्यान से पञ्च प्राणों का संयम करते हैं, अतः तात्पर्य यह है कि "णम" के ध्यान और जप के साथ "सिद्धा" अर्थात् सिद्धेश्वरी का ध्यान कर उस की कृपासे उपासक जन जैसे गरिमा सिद्धि को प्राप्त करते हैं (क्योंकि सिद्धेश्वरी गरिमा सिद्धि की अधिष्ठात्री और दात्री है (५), जैसा कि—"सिद्धा" इस गुरु स्वरूप नाम से ही उस का गरिमासिद्धि प्रदात्रीत्व (६) सिद्ध होता है) उसी प्रकार ध्यानकर्त्ता पुरुष "सिद्धाणं" इस पद के जप और ध्यान से अनायास (७) ही गरिमा सिद्धि को प्राप्त हो सकता है।

(घ)—"सिद्धाणं" इस पद में मगण है (क्योंकि "मस्त्रिगुरुः" इस कथन के अनुसार तीन गुरु वर्णों का एक मगण होता है), यदि "म गुरु" इस पद में विपर्यय (८) करदें तो प्राकृतशैलीसे गरिमा शब्द बन जाता है तथा "सिद्धाणं" पद गुरुरूप "म" अर्थात् मगण है, अतः उस के ध्यान से गरिमा सिद्धि की प्राप्ति होती है।

इस विषय में यह शङ्का हो सकती है कि मगणरूप अर्थात् तीन गुरुमात्राओं से विशिष्ट (९) तो "लाला जी" "रामूजी" "कोडूजी" "कालूजी" इत्यादि अनेक शब्द हैं, फिर उन के जप और ध्यान से गरिमा सिद्धि की प्राप्ति क्यों नहीं होती? इस का उत्तर यह है कि—शब्द विशेष में जो दैवी शक्ति स्वभावतः (१०) सन्निविष्ट है और जिस का पूर्व महात्माओं ने तदनुकूल व्यवहार किया है; तदनुसार उसी शब्द में वह शक्ति माननी चाहिये, देखो! कूप, सूप, यूप, धूप, पूप, आदि शब्दों में आदिवर्त्ती (११) एक ही अक्षर में

१-प्रकाशक, सूचक, ज्ञापक ॥ २-सिद्धिपदमें स्थित ॥ ३-सूचना ॥ ४-उपासना करने वाले ५-देने वाली ॥ ६-गरिमा सिद्धि का देने वाला पन (देना) ॥ ७-सहज में ॥ ८-परिवर्त्तन ॥ ९-युक्त ॥ १०-स्वभाव से ॥ ११-आदि में स्थित ॥

कितनी शक्ति है कि उस के परिवर्तन से न तो वह अर्थ रहता है और न उसमें उस वाक्यार्थ (१) के द्योतन (२) की शक्ति रहती है, इसी नियम के अनुसार मगलरूप जो "सिद्धाणं" पद है, उसी में जप आदिके द्वारा गरिमा सिद्धि के प्रदान करने की शक्ति है; वह शक्ति मगल रूप अन्य शब्दों में नहीं हो सकती है, किन्तु-"सिद्धाणं" इस पद में "सिद्धा" और "णं" इन दो पदों के सहयोग (३) से गरिमा सिद्धि की प्रदान शक्ति रही हुई है, जो कि इन के पर्याय (४) वाचक शब्दों का सहयोग करने पर भी नहीं आ सकती है, तद्यथा (५) यदि हम सिद्धा का पर्यायवाचक "निष्पन्ना" वा "सम्पन्ना" शब्द को "णं" के साथ जोड़दें अर्थात् "सिद्धाणं" के स्थान में तत्पर्यायवाचक (६) रूप "निष्पन्नाणं" अथवा "सम्पन्नाणं" शब्द का प्रयोग करें, यदि वा "णम्" के पर्यायवाचक 'खलु' आदि शब्दोंको "सिद्धा" पद के साथ जोड़दें तथापि उन में वह शक्ति कदापि नहीं हो सकती है, प्रत्यक्ष उदाहरण यही देख लीजिये कि-मृग और पशु यद्यपि ये दोनों शब्द पर्याय वाचक हैं; तथापि "पति" शब्द के साथ में संयुक्त होकर एक अर्थ को नहीं बतलाते हैं. किन्तु भिन्न २ अर्थ को ही बतलाते हैं अर्थात् मृगपति शब्द सिंह का तथा पशुपति शब्द महादेव का ही बोधक (७) होता है, अतः मानना पड़ेगा कि शब्द विशेष में वाच्य विशेष के द्योतन की जो स्वाभाविक (८) शक्ति है वह शक्ति बाह्य (९) धर्म विशेष आदि के द्वारा तदनुरूप (१०) वा तात्पर्य वाचक शब्द में भी सर्वथा नहीं रहती है।

(ङ) यह भी हेतु होसकता है कि-सिद्धि दायक पदोंमें से "सिद्धाणं" यह पद तीसरा है, अतः यह तीसरी सिद्धि गरिमा का दाता है।

(प्रश्न)-"आयरियाणं" इस पदमें लघिमा सिद्धि क्यों सन्निविष्ट है?

[उत्तर]-"आयरियाणं" पद में जो लघिमा सिद्धि सन्निविष्ट है उस के हेतु ये हैं;—

(क)-लघु शब्द से भाव अर्थ में इमन् प्रत्यय के लगने से "लघिमा" शब्द बनता है (११), भावद्योतन (१२) सदा सहयोगी (१३) के सम्मुख होता है,

१-वाक्यपदार्थ ॥ २ प्रकाशन ॥ ३-संयोग ॥ ४-एक अर्थ के वाचक ॥ ५-जैसे देखो ॥ ६-उसके पर्याय वाचक ॥ ७—ज्ञापक, सूचक ॥ ८—स्वभाव सिद्ध ॥ ९-बाहरी ॥ १०-उस के अनुकूल ॥ ११-जैसा कि पूर्व वर्णन करचुके हैं ॥ १२-प्रकाशन ॥ १३-साथ में योग रखने वाले ॥

अतः अर्थापत्त्या (१) लघिमा शब्द में यह आशय (२) गर्भित (३) है कि दो लघु अक्षर जिसके मध्य में विद्यमान हों, ऐसा पद "आयरियाणं" है, अतः उसके जप और ध्यानसे लघिमा सिद्धि प्राप्त होती है।

(ख) प्रथम कह चुके हैं कि जो मर्यादा पूर्वक अर्थात् विनयपूर्वक जिन शासनके अर्थ का सेवन अर्थात् उपदेश करते हैं, अथवा उपदेश के ग्रहण करनेकी इच्छा रखनेवाले जिन का सेवन करते हैं उनको आचार्य कहते हैं, अथवा ज्ञानाचार आदि पांच प्रकारके आचार के पालन करने में जो अत्यन्त प्रवीण (४) हैं तथा दूसरों को उनके पालन करने का उपदेश देते हैं उनको आचार्य कहते हैं, अथवा जो मर्यादा पूर्वक विहार रूप आचार्य का विधिवत् (५) पालन करते हैं तथा दूसरों को उसके पालन करनेका उपदेश देते हैं उनको आचार्य कहते हैं, अथवा युक्तायुक्त विभाग निरूपण (६) करने में अकुशल (७) शिष्य जनों को यथार्थ (८) उपदेश देनेके कारण आचार्य कहे जाते हैं।

आचार्य जन आचारके उपदेश देनेके कारण परोपकार परायण (९) होते हैं, युग प्रधान कहलाते हैं, सर्वजन मनोरञ्जक (१०) होते हैं, वे जगद्वर्ती (११) जीवोंमें से भव्य जीवको जिन वाणी का उपदेश देकर उसको प्रतिबोधित (१२) करते हैं, वे किसी को सम्यक्त्व की प्राप्ति कराते हैं, किसी को देश विरति की प्राप्ति कराते हैं, किसी को सर्व विरति की प्राप्ति कराते हैं, कुछ जीव उनके उपदेश को श्रवण कर भद्र परिणामी हो जाते हैं, वे नित्य प्रमाद रहित होकर अप्रमत्त धर्म का कथन करते हैं, वे देशकालोचित विभिन्न उपायोंसे शिष्य आदि को प्रवचन का अभ्यास कराते हैं, साधुजनोंको क्रिया का धारण कराते हैं तथा केवल ज्ञानी भास्कर (१३) समान श्रीतीर्थङ्कर देवके मुक्ति सौध (१४) में जानेके पश्चात् उन के उपदिष्ट (१५) त्रिलोकवर्ती (१६) पदार्थों का प्रकाश आचार्य ही करते हैं।

आचार्यों का यह नैसर्गिक (१७) स्वभाव है कि उपदेशादिके द्वारा वे

१-अर्थापत्तिके द्वारा ॥ २-तात्पर्य ॥ ३-मिश्रित, भीतर रहा हुआ ॥ ४-कुशल ॥ ५-विधिपूर्वक ॥ ६-योग्य और अयोग्य के विभाग का निश्चय ॥ ७-अचतुर ॥ ८-सत्य ॥ ९-तत्पर ॥ १०-सब मनुष्योंके मनोंको प्रसन्न करनेवाले ॥ ११-संसारके ॥ १२-बोधयुक्त ॥ १३-सूर्य ॥ १४-मुक्ति महल ॥ १५-कहे हुए ॥ १६-तीनों लोकोंके ॥ १७-स्वाभाविक ॥

चाहें किसी को कितना ही सुयोग्य बना दें तथापि उसे अपनेसे लघु ही समझेंगे और यह ठीक भी है कि लघु समझने के बिना ज्ञानदान, उपदेश आचार वा क्रिया का परिपालन कराना तथा अनेक उपायोंसे प्रतिबोध करना, इत्यादि कार्य नहीं हो सकतेहैं, अतः लोकस्थ जीव गणके प्रतिबोधन स्वभाव विशिष्ट आचार्यों के ध्यान से लघिमा सिद्धि की प्राप्ति होती है।

(ग) चरक ऋषि ने आचार्य के विषयमें यह लिखा है कि:—

पर्यवदातश्रुतं परिदृष्टकर्माणं दक्षं दक्षिणं शुचिं जितहस्तमुपकरणवन्तं सर्वेन्द्रियोपपन्नं प्रकृतिज्ञं प्रतिपत्तिज्ञमनुपस्कृतविद्यमनसूयकमकोपनं क्लेशक्षमं शिष्यवत्सलमध्यापकं ज्ञानदानसमर्थमित्येवं गुणो ह्याचार्यः सुक्षेत्रमार्तवोमेघ इव शस्यगुणैः सुशिष्यमाशु वैद्यगुणैः सम्पादयति, तमुपसृत्यारिराधयिषुरुपचरेदग्निवच्च देववच्च राजवच्च पितृवच्च भर्तृवच्चाप्रमत्तस्तत्प्रसादात् कृत्स्नंशास्त्रमधिगम्य शास्त्रस्य दृढतायामभिधानसौष्ठवस्यार्थस्य विज्ञाने वचनशक्तौ च भूयः प्रयतेत सम्यक् ॥ १ ॥

अर्थात्—विशुद्ध, शास्त्र बोधयुक्त (१) कार्य को देखा हुआ, दक्ष, कुशल, पवित्र, जितहस्त (२), सर्वसामग्रीसे युक्त, सब इन्द्रियों से युक्त, स्वभाव का जाननेवाला, सिद्धान्त वा सिद्धि को जाननेवाला, उपस्कारसे रहित विद्यावाला, असूया (३) न करनेवाला, क्रोधरहित, क्लेश सहनमें समर्थ, शिष्योंपर प्रेम रखनेवाला, अध्यापन कार्य करने वाला तथा ज्ञानके देनेमें समर्थ, इस प्रकारके गुणोंसे युक्त आचार्य सुशिष्य को शीघ्र ही वैद्यगुणोंसे इस प्रकार सम्पन्न (४) कर देता है जैसे कि वर्षाऋतुका मेघ सुक्षेत्र को शस्य (५) गुणोंसे शीघ्र ही सम्पन्न कर देता है, इसलिये शिष्य को उचित है कि आराधना करनेकी इच्छासे उस (आचार्य) के पास जाकर तथा प्रमाद रहित होकर अग्निके समान; देव के समान; राजाके समान; पिता के समान और स्वामीके समान उसे जानकर उसकी सेवा करे; तथा उसकी कृपासे सब शास्त्रों को जानकर शास्त्रकी दृढ़ता के लिये विशुद्ध संज्ञा से विशिष्ट अर्थ के जानने के लिये तथा वचन शक्तिके लिये फिर भी अच्छे प्रकारसे प्रयत्न करता रहे ॥ १ ॥

१—शास्त्रके बोध (ज्ञान) से युक्त ॥ २—हाथ को जीते हुए ॥ ३—गुणोंमें दोषारोपण ॥ ४—युक्त ॥ ५—अन्न ॥

अब इस कथनमें यह समझना चाहिये कि चरक ऋषि ने आचार्यके जो गुण कहे हैं, उक्त गुणोंसे युक्त महानुभावों के सामने सर्व संसार लघु है, अर्थात् उक्त गुणविशिष्ट आचार्यों से समस्त संसार शिक्षा लेने योग्य है तथा संसार ऐसे महात्माओं को अपना गुरु मानकर तथा अपनेको लघु जानकर शिक्षा ले ही रहा है, इसके आगे उक्त ऋषि ने आचार्य का कर्तव्य बतलाया है, तदनन्तर (१) आचार्यके सम्बन्ध में शिष्य का यह कर्तव्य बतलाया है कि "शिष्य आराधनाकी इच्छासे आचार्यके पास जावे और प्रमादरहित होकर उसकी अग्नि, देव, राजा, पिता और स्वामी के समान सेवा करे" अब विचारने का स्थल यह है कि आचार्यको अग्नि, देव, राजा, पिता और स्वामीके समान सेवा करना बतलाकर उसको कितना गौरव दिया है, विचार लीजिये कि जो आचार्य अग्नि, देव, राजा, पिता और स्वामी के तुल्य है; क्या उससे बड़ा अर्थात् उसका गुरु कोई हो सकता है? नहीं; सब संसार उसके आगे लघु है, इस विषयमें यदि कोई यह शंका करे कि-"अस्तु-आचार्य सर्व गुरु है और शिष्य तदपेक्षया (२) लघु है; परन्तु जब शिष्य आचार्यकी सब विद्या को ग्रहण कर लेवे तब तो वह उसके समान ही हो जावेगा, फिर उसे लघु कैसे कह सकते हैं" इसका उत्तर चरक ऋषिने अपने कथनमें स्वयं ही दे दिया है कि-"आचार्यकी कृपा से सब शास्त्रको जानकर शास्त्र की दृढ़ताके लिये विशुद्ध संज्ञासे विशिष्ट अर्थ के जाननेके लिये तथा वचन शक्तिके लिये फिर भी अच्छे प्रकार प्रयत्न करता रहे" इस कथन का तात्पर्य यह है कि शिष्य आचार्यसे उसकी समस्त विद्याको पाकर भी उसकी समता (३) को नहीं प्राप्त कर सकता है, अर्थात् उसकी अपेक्षा लघु ही रहता है, क्योंकि अपनेको लघु माननेपर ही वह आचार्याश्रय (४) रूप अपने कर्तव्यका पालन कर सकता है, अतः उक्त कथनसे सिद्ध हो गया कि आचार्य समस्त जगत्के गुरु अर्थात् शिक्षा दायक (५) हैं और उनके सम्बन्धमें समस्त जगत् लघु अर्थात् शिक्षा पाने योग्य है, क्योंकि आचार्यों का शिक्षादान अपनेको गुरु माननेपर तथा जगत् का शिक्षा ग्रहण अपनेको लघु माननेपर ही हो सकता है, भावार्थ (६) यह है कि-

१-उसके पीछे॥ २-उसकी अपेक्षा॥ ३-तुल्यता, समानता॥ ४-आचार्यका आश्रय॥ ५-शिक्षा देनेवाले॥ ६-तात्पर्य॥

ऐसे आचार्यों के सम्बन्धमें सब ही को अपनेमें लघुभाव जानना चाहिये तथा उस (लघुभाव) को ही हृदय में रखकर उनका आराधन व सेवन करना चाहिये, अतः स्पष्ट है कि-"आयरियाणं" इस पदके जप और ध्यानसे लघिमा सिद्धि की प्राप्ति होती है।

(प्रश्न)-"उवज्झायाणं" इस पदमें प्राप्ति सिद्धि क्यों सन्निविष्ट है ?

(उत्तर)-"उवज्झायाणं" पदमें जो प्राप्ति सिद्धि सन्निविष्ट है उसके हेतु ये हैं:—

(क) उपाध्याय शब्द का अर्थ प्रथम लिख चुके हैं कि-"जिनके समीपमें रहकर अथवा आकार शिष्य जन अध्ययन करते हैं उनको उपाध्याय कहते हैं, अथवा जो समीपमें रहे हुए अथवा आये हुए साधु आदि जनोंको सिद्धान्त का अध्ययन कराते हैं वे उपाध्याय कहे जाते हैं, अथवा जिनके सामीप्य (१) से सूत्र के द्वारा जिन प्रवचन (२) का अधिक ज्ञान तथा स्मरण होता है उन को उपाध्याय कहते हैं, अथवा जिनके समीपमें निवास करने से श्रुत का आय अर्थात् लाभ होता है उनको उपाध्याय कहते हैं, अथवा जिनके द्वारा उपाधि अर्थात् शुभ विशेषणादि रूप पदवी की प्राप्ति होती है उनको उपाध्याय कहते हैं" उक्त शब्दार्थसे तात्पर्य यह है कि आराधना रूप सामीप्य (३) गमन से अथवा सामीप्य करण से "उवज्झायाणं" इस पदके द्वारा प्राप्ति नामक सिद्धि होती है।

(ख) उपाध्याय शब्द में पदच्छेद इस प्रकार है कि-"उप, अधि, आय" इन तीनों शब्दोंमेंसे "उप" और "अधि" ये दो अव्यय हैं तथा मुख्य पद "आय" है और उसका अर्थ प्राप्ति है, अतः उक्त शब्द का आशय (४) यह है कि "उप" अर्थात् सामीप्य करण (उपस्थापन) आदि के द्वारा "अधि" अर्थात् अन्तःकरणमें ध्यान करनेसे जिनके द्वारा "आय" अर्थात् प्राप्ति होती है उनको उपाध्याय कहते हैं, अतः शब्दार्थ के द्वारा ही सिद्ध हो गया कि "उवज्झायाणं" इस पदके जप और ध्यानसे प्राप्ति नामक सिद्धि होती है।

(प्रश्न)-"सव्वसाहूणं" इस पदमें प्राकाम्य सिद्धि क्यों सन्निविष्ट है ?

१-समीपस्थ, समीपमें निवास ॥ २-जिन शासन ॥ ३-समीपमें जाना ॥ ४-तात्पर्य ॥

(उत्तर)—"सव्वसाहूणं" इस पदमें जो प्राकाम्य सिद्धि सन्निविष्ट है उसके हेतु ये हैं:—

(क) प्रथम कह चुके हैं कि—"ज्ञानादि रूप शक्ति के द्वारा मोक्ष का साधन करते हैं उनको साधु कहते हैं, अथ जो सब प्राणियोंपर समत्व (१) का ध्यान रखते हैं उनको साधु कहते हैं; अथवा जो चौरासी लाख जीव योनियोंमें उत्पन्न हुए समस्त जीवोंके साथ समत्व को रखते हैं उनको साधु कहते हैं, अथवा जो संयमके सत्रह भेदों का धारण करते हैं उनको साधु कहते हैं, अथवा जो असहायों के सहायक होकर तपश्चर्या (२) आदि में सहायता देते हैं उनको साधु कहते हैं, अथवा जो संयमकारी (३) जनों की सहायता करते हैं उनको साधु कहते हैं"

मोक्ष मार्ग में सहायक होनेके कारण वे परम उपकारी (४) होते हैं, वे पांचों इन्द्रियोंको अपने वशमें रखकर तद्विषयों (५) में प्रवृत्ति नहीं करते हैं, षट् काय (६) जीवों की स्वयं रक्षा कर दूसरों से कराते हैं, सत्रह भेद विशिष्ट संयम का आराधन कर सब जीवोंपर दयाका परिणाम रखते हैं, अठारह सहस्र शीलाङ्ग रूप रथके वाहक (७) होते हैं अचल आचारका परिसेवन करते हैं, नव विध (८) ब्रह्मचर्य गुप्ति का पालन करते हैं, बारह प्रकारके तप में पौरुष (९) दिखलाते हैं, आत्माके कल्याण का सदैव ध्यान रखते हैं, आदेश और उपदेश से पृथक् रहते हैं, जनसङ्गम; वन्दन और पूजन आदि की कामना से सदा पृथक् रहते हैं, तात्पर्य यह है कि उनको किसी प्रकार की कामना नहीं होती है अर्थात् वे सर्वथा पूर्ण काम (१०) होते हैं अतः पूर्ण काम होनेके कारण उनके ध्यान करनेसे ध्याता को भी पूर्णकामना अर्थात् प्राकाम्य सिद्धि की प्राप्ति होती है।

(ख)—"साध्नोति साधयति वा पराणि कार्याणि इति साधुः" अर्थात् जो पर कार्यों को सिद्ध करता है उसका नाम साधु है, साधु शब्दका उक्त अर्थ ही इस बात को प्रकट करता है कि साधु जन पर कामना तथा तत्सम्बन्धी कार्यों को पूर्ण करते हैं, अतः मानना चाहिये कि "सव्वसाहूणं" इस पदके ध्यानसे प्राकाम्य सिद्धि की प्राप्ति होती है।

१–समता, तुल्यता ॥ २–तपस्या ॥ ३–संयमके करनेवाले ॥ ४–उपकार करनेवाले ॥ ५–इन्द्रियोंके विषयों ॥ ६–पृथिवी आदि छः काय ॥ ७–चलानेवाले ॥ ८–नौ प्रकारकी ॥ ९–शक्ति पराक्रम ॥ १०–पूर्ण इच्छावाले ॥

(ग) श्री हेमचन्द्राचार्य जी महाराजने साधु और मुनि शब्द को पर्याय वाचक (१) कहा है, उस मुनि वा साधु का लक्षण पद्म पुराणमें जो लिखा है उसका संक्षिप्त आशय यह है कि "जो कुछ मिल जावे उसीमें सन्तुष्ट रहनेवाला, समचित्त (२), जितेन्द्रिय (३), भगवान् के चरणों का आश्रय रखनेवाला, निन्दा न करनेवाला ज्ञानी, वैर से रहित, दयावान्, शान्त (४) दम्भ (५) और अहंकार से रहित तथा इच्छासे रहित जो वीतराग (७) मुनि है वह इस संसारमें साधु कहा जाता है लोभ; मोह; मद; क्रोध और कामादि से रहित, सुखी, भगवान्के चरणों का आश्रय लेनेवाला, सहनशील तथा समदर्शी (८) जो पुरुष है उनको साधु कहते हैं, समचित्त, पवित्र, सर्व प्राणियोंपर दया करनेवाला तथा विवेकवान् (९) जो मुनि है वही उत्तम साधु है, स्त्री पुरुष और सम्पत्ति आदि विषयमें जिसका मन और इन्द्रियां चलायमान नहीं होती हैं, जो अपने चित्त को सर्वदा स्थिर रखता है, शास्त्र के स्वाध्याय (१०) में जिसकी पूर्ण भक्ति है तथा जो निरन्तर भगवान् के ध्यानमें तत्पर रहता है वही उत्तम साधु है" इत्यादि, साधुओंके लक्षणोंको आप उक्त वाक्यों के द्वारा जान चुके हैं कि वे वीतराग, सर्वकामना पूर्ण (११) तथा परकामना समर्थक (१२) होते हैं, अतः मानना चाहिये कि एतद्गुण विशिष्ट साधुओंके ध्यानसे प्राकाम्य सिद्धि की प्राप्ति होती है।

(घ) गरुडपुराणमें भी कहा है कि:—

न प्रहृष्यति सम्माने, नावमानेन कुप्यति ॥
न क्रुद्धः परुषं ब्रूया, देतत् साधोस्तु लक्षणम् ॥ १ ॥

अर्थात् जो सम्मान (१४) करनेपर प्रसन्न नहीं होता है तथा अपमान (१५) करने पर क्रुद्ध (१६) नहीं होता है तथा क्रुद्ध होकर भी कभी कठोर वचन नहीं बोलता है; यही साधु का लक्षण है ॥ १ ॥

तात्पर्य यह है कि मान व अपमान करने पर भी जिस की वासना (१७) हर्ष वा क्रोध के लिये जागृत (१८) नहीं होती है अर्थात् जिस में इच्छा

१-एकार्थ वाचक ॥ २-समान चित्तवाला ॥ ३-इन्द्रियोंको जीतनेवाला ॥ ४-शान्तिसे युक्त ॥ ५-पाखण्ड ॥ ६-अभिमान ॥ ७-रागसे रहित ॥ ८-सबको समान देखनेवाला ॥ ९-विवेकसे युक्त ॥ १०-पठन पाठन ॥ ११-सब इच्छाओंसे पूर्ण ॥ १२-दूसरे की इच्छाओंको पूर्ण करनेवाले ॥ १३-इन गुणोंसे युक्त ॥ १४-आदर ॥ १५-अनादर ॥ १६-कुपित ॥ १७-इच्छा, संस्कार ॥ १८-प्रबुद्ध ॥

मात्र तक का सर्वथा पराभव (१) हो गया है उस को साधु कहते हैं, भला ऐसे साधु के आराधन से प्राकाम्यसिद्धि क्यों नहीं होगी ।

(ङ)—वन्हिपुराण में साधुस्वभाव के विषय में कहा है कि—

त्यक्तात्मसुखभोगेच्छाः, सर्वसत्त्वसुखैषिणः ।
भवन्ति परदुःखेन, साधवो नित्यदुःखिताः ॥ १ ॥
परदुःखातुरानित्यं, स्वसुखानि महान्त्यपि ।
नापेक्षन्ते महात्मानः, सर्वभूतहितेरताः ॥ २ ॥
परार्थमुद्यताः सन्तः, सन्तः किं किं न कुर्वते ।
तादृगप्यम्बुधेर्वारि, जलदैस्तत्प्रपीयते ॥ ३ ॥
एकएव सतां मार्गो, यदङ्गीकृतपालनम् ।
दहन्तमकरोत् क्रोड़े, पावकं यदपाम्पतिः ॥ ४ ॥
आत्मानं पीडयित्वाऽपि, साधुः सुखयते परम् ।
ह्लादयन्नाश्रितान् वृक्षो, दुःखञ्च सहते स्वयम् ॥ ५ ॥

अर्थ—जिन्हों ने अपने सुखभोग और इच्छा का परित्याग करदिया है तथा सर्व प्राणियों के सुख के जो अभिलाषी (२) रहते हैं; ऐसे साधु जन दूसरे के दुःख से सदा दुःखी रहते हैं [अर्थात् दूसरों के दुःख को नहीं देख सकते हैं] ॥ १ ॥

सदा दूसरे के दुःख से आतुर (३) रहते हैं तथा अपने बड़े सुखों की भी अभिलाषा नहीं करते हैं और सब प्राणियों के हित में तत्पर रहते हैं वे ही महात्मा हैं ॥ २ ॥

साधु जन परकार्य के लिये उद्यत होकर क्या २ नहीं करते हैं,, देखो ! मेघ समुद्र के वैसे (खारी) भी जल को (परकार्य के लिये) पी लेते हैं ॥३॥

साधु जनों का एक यही मार्ग है कि वे अङ्गीकृत (४) का पालन करते हैं, देखो ! समुद्र ने प्रज्वलित अग्नि को गोद में धारण कर रक्खा है ॥४॥

साधु पुरुष अपने को पीड़ित करके भी दूसरे को सुखी करता है, देखो !

१—नाश, तिरस्कार ॥ २—इच्छा वाले ॥ ३—व्याकुल ॥ ४—स्वीकृत ॥

वृक्ष स्वयं दुःख को सहता है तथा दूसरों को आह्लाद (१) देता है ॥ ५ ॥

साधु जनों का उक्त स्वभाव होने से उन के आराधन से प्राकाम्य सिद्धि की प्राप्ति होती है।

(च)–आचार के यथावत् (२) विज्ञान और परिपालन के कारण साधु को आचार रूप माना गया है (३), अतएव जिस प्रकार आचार के परिपालन से धर्म की प्राप्ति होती है, उसी प्रकार साधु के आराधन से धर्म की प्राप्ति होती है, अथवा यह समझना चाहिये कि–साधु की आराधना से धर्म की आराधना होती है तथा धर्म सर्व काम समर्धक (सब कामनाओंको को पूर्ण करने वाला) सर्व जगत्प्रसिद्ध है, अतः साधु के आराधन से प्राकाम्य नामक सिद्धि की प्राप्ति होती है।

(छ)–विष्णु पुराणमें "साधु" इस पद के उच्चारण मात्रसे सर्व कामनाओं की सिद्धि का उल्लेख (४) किया गया है, अतः मानना पड़ेगा कि "सव्वसाहूणं" इस पदके ध्यान और जप से प्राकाम्य सिद्धि अवश्य होती है।

(ज) "सव्वसाहूणं" इस पदमें संयुक्त (५) सर्व शब्द इस बात का विशेषतया (६) द्योतक (७) है कि–इस पदके ध्यानसे सर्व कामनाओंकी निष्पत्ति अर्थात् सिद्धि होती है, क्योंकि–"सर्वान् (कामान्) साधयन्ति इति सर्वसाधवस्तेभ्यः" अर्थात् सब कामों (इच्छाओं) को जो सिद्ध (पूर्ण) करते हैं उनको सर्वसाधु कहते हैं।

(प्रश्न)–"पंचणमोक्कारो" इस पदमें ईशित्व सिद्धि क्यों सन्निविष्ट है?

(उत्तर)–"पंचणमोक्कारो" इस पदमें जो ईशित्व सिद्धि सन्निविष्ट है उसके ये हेतु हैं:—

(क)–"पञ्च" शब्द से पञ्च परमेष्ठियोंका ग्रहण होता है तथा जो परम अर्थात् सबसे उत्कृष्ट (८) स्थानपर स्थित हैं उन्हें परमेष्ठी कहते हैं, सर्वोत्कृष्ट (९) स्थान पर स्थित होनेसे परमेष्ठी सबके ईश अर्थात् स्वामी

१–आनन्द ॥ २–यथार्थ ॥ ३–द्वादशाङ्गीके वर्णन के अधिकार में श्रीनन्दीसूत्रमें उल्लिखित "से एवं आया एवं नाया" इत्यादि वाक्यों को देखो ॥ ४–कथन ॥ ५–मिला हुआ ॥ ६–विशेषताके साथ ॥ ७–प्रकाशक ॥ ८–उत्तम ॥ ९–सबसे उत्तम ॥

है तथा नमस्कार शब्द प्रणाम का वाचक है, अतः ईशस्वरूप परमेष्ठियों को नमस्कार करने से ईशित्व सिद्धि की प्राप्ति होती है, क्योंकि उत्तम ईशों का यह स्वभाव ही होता है कि–वे अपने आश्रितों तथा आराधकों को वैभव विषय में अपने ही तुल्य करदेते (१) हैं।

(ख)–"पञ्चणमोक्कारो" यह जो, प्राकृत का पद है इस का पर्याय संस्कृत में "प्राञ्चनमस्कारः" (२) जानना चाहिये, इस का अर्थ यह है कि–"प्रकर्षेण अञ्च्यन्ते पूज्यन्ते सुरासुरैरष्टप्रातिहार्यैर्येते प्राञ्चाजिनास्तेषां नमस्कारः प्राञ्चनमस्कारः" अर्थात् आठ प्रातिहार्यों के द्वारा जिन की पूजा सुर और असुर प्रकर्षभाव के द्वारा करते हैं उन का नाम "प्राञ्च" अर्थात् जिन है, उन को जो नमस्कार करता है उस का नाम प्राञ्च नमस्कार है, तात्पर्य यह है कि–"प्राञ्चनमस्कार" शब्द "जिन नमस्कार" का वाचक है" पूर्वोक्त गुण विशिष्ट जिन भगवान् सर्व चराचर जगत् के ईश अर्थात् नाथ (स्वामी) हैं, (३) अतः उन के ईशत्व भाव के कारण "पञ्चणमोक्कारो" इस पद से ईशित्व सिद्धि की प्राप्ति होती है।

(ग)–"पञ्चणमोक्कारो" इस प्राकृत पद का पर्याय पूर्व लिखे अनुसार "प्राञ्च नमस्कारः" जानना चाहिये, तथा प्राञ्च शब्द से सिद्धों को जानना चाहिये (४) सिद्ध पुरुष अपुनरावृत्ति के द्वारा गमन कर मोक्ष नगरी के ईश

१–श्रीमान् मानतुङ्गाचार्य स्वनिर्मित श्रीभक्तामर स्तोत्र में लिखते हैं कि–"नात्यद्भुतं भुवनभूषणभूतनाथ। भूतैर्गुणैर्भुवि भवन्तमभिष्टुवन्तः। तुल्या भवन्ति भवतो ननु तेन किं वा। भूत्याश्रितं य इह नात्मसमं करोति॥ १॥ सत्य ही है कि–वे स्वामी ही क्या हैं जो कि अपनी विभूतिसे अपने आश्रित जनों को अपने समान नहीं बनाते हैं॥ २–रेफ का लोप होने पर "स्वराणां स्वराः" इस सूत्र से आकार के स्थान में अकारादेश जानना चाहिये॥ ३–श्रीनन्दीसूत्र कर्त्ता श्रीदेव वाचक सूरिने आदि गाथा में (जयइ जगजीव जोणि वियाणओ० इत्यादि गाथा में) भगवान् का विशेषण "जगणाहो" (जगन्नाथः) लिखा है, उस की व्याख्या करते समय श्रीमलयगिरिजी महाराज ने लिखा है कि–"जगन्नाथ" इस पद में जगत् शब्द से सकल चराचर का ग्रहण होता है तथा नाथ शब्द योगक्षेमकारी का वाचक है, (क्योंकि विद्वानों ने योग क्षेमकारी को ही नाथ कहा है) इस लिये यथावस्थित स्वरूप की प्ररूपणा के द्वारा तथा मिथ्या प्ररूपणा जन्य अपायों से रक्षा करने के कारण भगवान् सकल चराचर रूप जगत् के नाथ (ईश) हैं" ॥ ४–"प्राञ्चन्ति सिद्धिधाम इति प्राञ्चाः "सिद्धाः" ॥

होते (१) हैं, अथवा शासन के प्रवर्त्तक होकर सिद्धिरूप से मङ्गल के ईश होते (२) हैं, अथवा नित्य; अपर्यवसित; अनन्त; स्थिति को प्राप्त होकर उन के ईश होते (३) हैं, अथवा उन के कारण से भव्य जीव गुणसमूह के ईश होते (४) हैं; इसलिये "प्राञ्च" शब्द से सिद्धरूप ईशों का ग्रहण होता है, अतएव (५) यह जानना चाहिये कि-"पञ्चणमोक्कारो" (प्राञ्चनमस्कारः) इस पद के ध्यान और आराधन से ईशित्व सिद्धि की प्राप्ति होती है।

(प्रश्न)-"पञ्च णमोक्कारो" इस पद में ईशित्व सिद्धि के सन्निविष्ट होने में जिन हेतुओं का आप ने वर्णन किया है उन में प्रायशः जैन बन्धुओं की ही श्रद्धा स्थिति का होना सम्भव है, इस लिये कृपाकर कुछ ऐसे हेतुओं का भी वर्णन कीजिये कि-जिन के द्वारा जैनेतर जनों (शैव आदि) को भी यह बात अच्छे प्रकार से विदित हो जावे कि-"पञ्चणमोक्कारो" इस पद में शब्द सामर्थ्य विशेष से ईशित्व सिद्धि सन्निविष्ट है, ऐसा होने से वे भी श्रद्धायुक्त होकर तथा उक्त पद का महत्त्व जानकर लाभ विशेष को प्राप्त करने के अधिकारी बन सकेंगे।

(उत्तर)-यदि जैनेतर जनों की श्रद्धा उत्पन्न होने के लिये "पञ्चणमोक्कारो" इस पद में सन्निविष्ट ईशित्व सिद्धि के हेतुओं को सुनना चाहते हो तो सुनो-उक्त पद में स्थित अक्षर विन्यास (६) के द्वारा उन के सन्तव्य के ही अनुसार उक्त विषय में हेतुओं का निरूपण किया जाता है, इन हेतुओं के द्वारा जैनेतर जनों को भी अवगत (७) हो जावेगा कि-अक्षर विन्यास विशेष से "पञ्चणमोक्कारो" इस पद में ईशित्व सिद्धि सन्निविष्ट है, पश्चात् इस से लाभ प्राप्त करना वा न करना उन के आधीन है।

(क)-"पचि व्यक्तीकरणे" इस धातु से शतृ प्रत्यय करने से "पञ्चत्" शब्द बनता है; तथा सृष्टि का विस्तार करने के कारण "पञ्चत्" नाम ब्रह्मा का है; उन की क्रिया अर्थात् सृष्टि रचना के विषय में "न" अर्थात् नहीं है

१-प्रकर्षेण अपुनरावृत्त्या मोक्ष नगरीं मञ्चन्ति अधिगत्येशा भवन्ति, इति प्राञ्चः॥ २-प्रकर्षेण शासन प्रवर्त्तकत्वेन सिद्धिमङ्गलमञ्चन्ति उपेत्याधीशा भवन्तीति प्राञ्चः॥ ३-प्रकर्षेण नित्यापर्यवसितानन्तस्थित्या सिद्धिधामाञ्चन्ति उपगम्याधीशा भवन्तीति प्राञ्चः॥ ४-प्रकर्षेणाञ्चन्ति प्राप्नुवन्ति भव्यजीवा गुणसमूहा येभ्यस्ते प्राञ्चः। ५-इसीलिये ॥ ६-अक्षर-योजना ॥ ७-ज्ञात ॥

"मुत्कार" अर्थात् आनन्द क्रिया जिन की; उन को "पञ्चनमुत्कार" कहते (१) हैं; वे कौन हैं कि—"ईश" अर्थात् महादेव; क्योंकि महादेव सृष्टि का संहार (२) करते हैं, इस व्युत्पत्ति के द्वारा "पञ्चणमोक्कार" शब्द ईश का वाचक होता है, इसलिये उसके जप और ध्यानसे ईशित्व सिद्धिकी प्राप्ति होती है।

(ख)-यहां पर प्रसङ्गानुसार (३) यदि "पञ्च" शब्दसे पांचों परमेष्ठियों का भी ग्रहण किया जावे (क्योंकि अर्हन् आदि पांच परमेष्ठी कहे जाते हैं, तथा उन्हीं को पूर्व नमस्कार किया गया है); तथापि 'पञ्च" पद से उपात्त (४) परमेष्ठी पद से (तन्मतानुसार) ब्रह्मा का बोध हो सकता है; अर्थात् परमेष्ठी शब्द ब्रह्मा का वाचक है (५), उन की (सृष्टिरूप) क्रिया के विषय में "न" अर्थात् नहीं है "मुत्कार' (आनन्द क्रिया) जिन को इत्यादि शेष अर्थ "क" धारा के अनुसार जान लेना चाहिये ।

(ग)=पञ्च शब्द से कामदेव के पांच बाणों का ग्रहण हो सकता है, कामदेव के पांच बाण ये कहे गये हैं:—

द्रवणं शोषणं बाणं, तापनं मोहनाभिधम् ।
उन्मादनञ्च कामस्य, बाणाः पञ्च प्रकीर्त्तिताः ॥ १ ॥

अर्थात् द्रवण, शोषण, तापन, मोहन और उन्मादन, ये कामदेव के पांच बाण कहे गये हैं ॥ १ ॥ अथवा—

अरविन्दमशोकञ्च,चूतञ्च नवमल्लिका ।
नीलोत्पलञ्च पञ्चैते, पञ्चबाणस्य सायकाः ॥ १ ॥

अर्थात् लाल कमल, अशोक, आम, नवमल्लिका और नील कमल, ये पञ्चबाण अर्थात् कामदेव के पांच बाण हैं ॥ १ ॥

उन पांच बाणों को जिन के विषय के "मुत्कार" (६) अर्थात् आनन्द करने का अवसर "न" अर्थात् नहीं प्राप्त हुआ है; ऐसे कौन हैं कि ईश (शिव जी), (क्योंकि कामदेव अपने बाणों का ईश पर कुछ प्रभाव नहीं

१-इस व्युत्पत्ति में नकार का लोप तथा "मुत्कार" शब्द का "मोक्कार" बनना प्राकृत शैली से जानना चाहिये ॥ २-विनाश ॥ ३-प्रसङ्ग के अनुसार ॥ ४-ग्रहण किये हुए ॥ ५-कोषों को देखो ॥ ६-मुदः (आनन्दस्य) कारःकरणमिति मुत्कारः ॥

हाल सका है), अतः "पञ्चणमोक्कार" पद ईश का वाचक होने से उसके जप और ध्यान से ईशित्व सिद्धि की प्राप्ति होती है।

(घ)—अथवा "पदके एक देशमें पद समुदाय का व्यवहार होता है" इस नियमसे "पञ्च" शब्द पञ्चवाण (पञ्च शर, कामदेव) का वाचक है, अतः यह अर्थ जानना चाहिये कि "पञ्च" अर्थात् कामदेव को जिनके विषयमें "मुत्कार" (आनन्दक्रिया) नहीं प्राप्त हुई है उसको "पञ्चणमोक्कार" कहते हैं, अर्थात् इस प्रकार भी "पञ्चणमोक्कार" शब्द ईश का वाचक है, शेष विषय "ग" धारा के अनुसार जान लेना चाहिये।

(ङ) "घ" धारामें लिखित नियमके अनुसार "पञ्च" शब्द से पांच भूतों का ग्रहण होता है, उन (पंच भूतों) में जिन को "मुत्कार" (आनन्द क्रिया) नहीं है, ऐसे कौन हैं कि "ईश" (क्योंकि वे पञ्च भूतात्मक (१) सृष्टि का संहार करते हैं), इस प्रकार भी "पञ्चणमोक्कार" पद ईश का वाचक होता है, अतः उसके जप और ध्यानसे ईशित्व सिद्धि की प्राप्ति होती है।

(च) अथवा "घ" धारामें लिखित (२) नियमके अनुसार "पञ्च" शब्द से पञ्च भूतों का ग्रहण होता है, उन पांच भूतों से "नम" अर्थात् नम्रता के सहित "उत्कार (३)" अर्थात् उत्कृष्ट क्रिया को जो कराते हैं; ऐसे कौन हैं कि "ईश" (क्योंकि ईश का नाम भूतपति वा भूतेश है), अतः "पंचणमो-क्कार" शब्द से इस प्रकार भी ईश का ग्रहण होता है, अतः उक्त पदके जप और ध्यानसे ईशित्व सिद्धि की प्राप्ति होती है।

(छ) ऊपर लिखे नियमके अनुसार "पञ्च" शब्द से पञ्च प्राणों (४) का ग्रहण होता है तथा प्राण शब्द प्राणी का भी वाचक है, (५) तथा प्राणी

१-पञ्चभूत स्वरूप ॥ २-लिखे हुए ॥ ३-उत्-उत्कृष्टः, कारः-क्रिया ॥ ४-प्राण, अपान, उदान, समान और व्यान, ये पांच वायु हैं तथा ये "पंच प्राण" नाम से प्रसिद्ध हैं ॥ ५-अर्शादिभ्योऽच्" इस सूत्र से प्राण शब्द से मत्वर्थमें अच् प्रत्यय करने पर प्राण शब्द प्राणी का वाचक हो जाता है ॥

शब्द का पर्याय "भूत" शब्द भी (१) है, उन (भूतों) से जो "नम (२)" अर्थात् नम्रता पूर्वक "उत्कार" अर्थात् उत्कृष्ट क्रिया को करानेवाले हैं, ऐसे कौन हैं कि "ईश" (क्योंकि उनका नाम ही भूतपति वा भूतेश है, और पति अर्थात् स्वामी का यह स्वभाव ही है कि वह अपने आश्रितोंसे उत्कृष्ट अर्थात् उत्तम क्रिया को कराता है), तात्पर्य यह है कि उक्त व्युत्पत्ति के करनेपर भी "पञ्चणमोक्कार" पदसे ईश का बोध (३) होता है; अतः उसके जप और ध्यानसे ईशित्व सिद्धि की प्राप्ति होती है।

(प्रश्न) "मंगलाणं" इस पदमें वशित्व सिद्धि क्यों सन्निविष्ट है ?

(उत्तर) "मंगलाणं" इस पदमें जो वशित्व सिद्धि सन्निविष्ट है उसके ये हेतु हैं।

(क) इस संसारमें धर्म उत्कृष्ट (४) मङ्गलरूप है, जैसा कि श्रीदश वैकालिक जीमें कहा है कि:—

धम्मो मंगलमुक्किट्ठं, अहिंसा संजमोतवो ॥
देवावितं नमंसंति, जस्स धम्मे सयामणो ॥ १ ॥

अर्थात्—अहिंसा, संयम और तपः स्वरूप धर्म ही उत्कृष्ट मङ्गल है, अतः जिस (पुरुष) का मन धर्म में सदा तत्पर रहता है उसको देवता भी नमस्कार करते हैं ॥ १ ॥

इस कथनसे तात्पर्य यह निकलता है कि "मङ्गल" नाम धर्म का है, अतः "मंगलाणं" इस पदके ध्यानसे मानों धर्म का ध्यान और उसकी आराधना होती है तथा धर्म की आराधना के कारण देवता भी वशीभूत होकर उसे प्रणाम करते हैं (जैसा कि ऊपर के वाक्य में कहा गया है), तो फिर अन्य प्राणियोंके वशीभूत होनेका तो कहना ही क्या है, अतः स्पष्टतया (५) सिद्ध है कि "मंगलाणं" इस पदके जप और ध्यानसे वशित्व सिद्धि की प्राप्ति होती है।

(ख) "मङ्गल" शब्द की व्युत्पत्ति यह है कि "मङ्गति हितार्थं सर्पति, मङ्गति दुरदृष्टमनेन अस्माद्वेति मंगलम्" अर्थात् जो सब प्राणियोंके हितके

१—क्रिया विशेषण जानना चाहिये ॥ २—ज्ञान ॥ ३—उत्तम ॥ ४—स्पष्ट रीतिसे ॥ ५—यद्यपि "प्राणी" तथा "भूत" शब्द की व्युत्पत्ति पृथक् २ है तथापि वाच्यवाचक भाव सम्बन्धसे उक्त दोनों शब्द प्राणधारीके ही वाचक हैं ॥

लिये दौड़ता है उसको मङ्गल कहते हैं, अथवा जिसके द्वारा वा जिससे दुरदृष्ट (१) दूर चला जाता है उस को मङ्गल कहते हैं, तात्पर्य यह है कि जिससे अभिप्रेत (२) अर्थकी सिद्धि होती है उसका नाम मङ्गल है तथा यह मानी हुई बात है कि मनुष्य के अभिप्रेत अर्थ की सिद्धि तब ही हो सकती है जब कि सब प्राणी उसके अनुकूल हों तथा सब प्राणियोंके अनुकूल होने को ही वशित्व अर्थात् वशमें होना कहते हैं, अतः "मंगलाणं" इस पद के जप और ध्यानसे वशित्व सिद्धि की प्राप्ति होती है।

(ग)—शकुन शास्त्रकारोंने (३) शिखी (४), हय (५), गज (६), रासभ (७), पिक (८) और कपोत (९) आदि जन्तुओंके वामभाग (१०) से निर्गम (११) को तथा किन्हीं प्राणियोंके दक्षिण भागसे निर्गम को जो मङ्गलरूप बतलाया है उसका भी तात्पर्य यही होता है कि उस प्रकारके निर्गम से आनुकूल्य (१२) के द्वारा उनका वशित्व प्रकट होता है अर्थात् उस प्रकारके निर्गमके द्वारा वे इस बात को सूचित करते हैं कि हम सब तुम्हारे अनुकूल हैं; अतः तुम्हारा कार्य सिद्ध होगा, (इसी प्रकारसे सब शकुनोंके विषयमें जान लेना चाहिये), तात्पर्य यह है कि— लौकिक व्यवहार के द्वारा भी मङ्गल शब्द वशित्व का द्योतक (१३) माना जाता है, इसलिये जान लेना चाहिये कि "मंगलाणं" इस पदके जप और ध्यानसे वशित्व सिद्धि की प्राप्ति होती है तथा इस पदमें वशित्व सिद्धि सन्निविष्ट है।

(घ) संसारमें ब्राह्मण, गाय, अग्नि, हिरण्य (१४), घृत (१५), आदित्य (१६), जल और राजा, ये आठ मङ्गल माने जाते हैं, तात्पर्य यह है कि मङ्गलवाच्य (१७) आठ पदार्थोंके होनेसे मङ्गल शब्द आठ संख्या का द्योतक है (जैसे कि बाणों की पांच संख्या होनेसे बाण शब्द से पांच का ग्रहण होता है तथा नेत्रों की दो संख्या होनेसे नेत्र शब्द से दोका ग्रहण होता है) तथा यहांपर वह अष्टम संख्या विशिष्ट (१८) सिद्धि (वशित्व) का बोधक है, उस मंगल अर्थात् आठवीं सिद्धि (वशित्व) को जिसमें "अ"

१–दुर्भाग्य, दुष्कृत ॥ २–अभीष्ट ॥ ३–शकुन शास्त्रके बतानेवालों ४–मोर ॥ ५–घोड़ा ॥ ६-हाथी ॥ ७–गधा ॥ ८–कोयल ॥ ९–कबूतर ॥ १०–बाईं ओर ॥ ११ निकलना ॥ १२–अनुकूलता ॥ १३–ज्ञापक सूचक ॥ १४–सुवर्ण ॥ १५–घी ॥ १६–सूर्य १७-मङ्गल शब्द से कहने (जानने) योग्य ॥ १८–आठवीं संख्यासे युक्त ॥

अर्थात् अच्छे प्रकारसे "न" अर्थात् बन्धन(१) है, ऐसा पद "मङ्गलाणम्" है अतः समझ लेना चाहिये कि "मंगलाणं" इस पदमें आठवीं सिद्धि (वशित्व) सन्निविष्ट है ।

(ड) मंगल शब्द ग्रह विशेषका भी वाचक है (२) तथा वह मंगल दक्षिण दिशा, पुरुष क्षत्रिय जाति, सामवेद, तमोगुण, तिक्तरस, मेषराशि प्रवाल और अवन्ती देश, इन आठ का अधिपति है (३), अष्टाधिपतित्वरूप मंगल शब्दमें वर्णाकांक्षा से वशित्व सिद्धि भी सन्निविष्ट है, अतः "मंगलाणं" इस पद के जप और ध्यानसे वशित्व सिद्धि की प्राप्ति होती है ।

यह छठा परिच्छेद समाप्त हुआ ।

इष्टार्थदेवतरुकल्पमहाप्रभावम् ।
संसारपारगमनैकनिदानभूतम् ॥
अत्रैव मुक्तिसुखदं सुरलोकशस्यम् ।
स्तोत्रं हि पञ्चपरमेष्ठिनमस्कृतेर्वै ॥ १ ॥
व्याख्यातमत्रमतिमोहवशान्मया यत् ।
किञ्चिद्भवेद्वितथरूपणया निबद्धम् ॥
शोध्यं तदर्हमतिभिस्तु कृपापरीतैः ।
भ्रंशो न चित्रकृदिहाल्पधियो दुरापे ॥२॥ युग्मम्
स्तोत्रस्य पुण्यस्य विधाय व्याख्याम् ।
मयार्जितो यः शुभपुण्यबन्धः ॥
तेनाश्नुतां ह्येष समस्तलोकः ।
महाजनैर्यं शुभसौख्यकं वै ॥ ३ ॥
रसद्वीपाङ्कशुभ्रांशु, मितेऽब्दे ह्याश्विने शुभे ॥
पौर्णमास्यांगुरोर्वारे, ग्रन्थोऽयं पूर्तिमागमत् ॥४॥

१-"न" नाम बन्धन का है ॥ २-कोषों को देखो ॥ ३-ज्योतिर्ग्रन्थोंको देखो ॥

अर्थ—अभीष्ट अर्थ के लिये कल्पवृक्षके समान महाप्रभाव वाले, संसार से पार ले जानेके लिये अद्वितीय कारण स्वरूप, देवलोकोंसे प्रशंसनीय तथा शीघ्र ही मुक्ति सुख के देने वाले श्रीपञ्चपरमेष्ठि नमस्कार स्तोत्र की व्याख्या की गई है, इस (व्याख्या) में मति मोह के कारण जो कुछ मुझ से वितथ (अयथार्थ) प्ररूपणा की गई हो उस का पूज्यमति जन कृपा कर संशोधन करलें, क्योंकि अल्पबुद्धि मनुष्य का कठिन विषय में स्खलन होना कोई आश्चर्यकारक नहीं है ॥ १ ॥ २ ॥

इस पवित्र स्तोत्र की व्याख्या कर जो मैंने शुभ पुण्यबन्ध का उपार्जन किया है; उस से यह समस्त संसार—महात्माओं के अभिलषणीय सुन्दर सुख को प्राप्त होता है ॥३॥

संवत् १९७६ शुभ आश्विनमास पौर्णमासी गुरुवारको यह ग्रन्थ परिसमाप्त हुआ ॥ ४ ॥

श्री (डूंगर कालेज नाम्नः) राजकीयांग्लसंस्कृतविद्यालयस्य
संस्कृतप्रधानाध्यापकेन जयदयालशर्मणा निर्मितोऽयं
"श्रीमन्त्रराजगुणकल्पमहोदधि" नामा ग्रन्थः
परिसमाप्तः ।